जनतंत्रवाद

(रामायण और महाभारत कालीन)

"रामायण एवं महाभारतान्तर्गत वर्णित हिन्दू राज्यों में प्रजातंत्रवाद के तत्व" शीर्षक निबन्ध।

जिसे लखनऊ विश्वविद्यालय ने राजनीति विभाग की ओर से स्वीकृत करके लेखक को पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया।

लेखक

डा० श्यामलाल पाण्डेय

एम. ए., पी-एच. डी.

320.10934
Pan

प्रकाशक

अवध पब्लिशिंग हाउस

लखनऊ

नवजात भारतीय जनतंत्र की स्मृति में

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥

—भीष्म

निवेदन

लेखक ने इस ग्रन्थ को गवेषणापूर्वक लिखने में तुलानात्मक और विवेचनात्मक शैली को अपनाया है। उसका यह विश्वास है कि इस ग्रन्थ में जिन सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है उनमें इसी शैली का आश्रय लिया गया है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने रामायण और महाभारतान्तर्गत वर्णित हिन्दू राज्यों में जनतंत्रवाद के तत्वों की खोज की ओर अभी तक अत्यन्त अल्प प्रयास किया है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ जिसमें कि तुलानात्मक और विवेचनात्मक अध्ययन के द्वारा उन तत्वों का निरूपण कर उन्हें निर्धारित किया गया है मौलिक समझा जायगा।

इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में राजा की दैवी उत्पत्ति और समाज अनुबन्धवाद इन दो सिद्धान्तों के वास्तविक रूप जैसा कि रामायण और महाभारतान्तर्गत प्राप्त हो सके, दिये गये हैं। राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त रामायण और महा-भारत दोनों ग्रन्थों में समान रूप से पाया जाता है। परन्तु समाज अनुबन्धवाद केवल महाभारत में ही प्राप्त है। इन दोनों सिद्धान्तों की तुलना पाश्चात्य देशों के उन्हीं नामों के दोनों राजनीतिक सिद्धान्तों से की गई है। ऐसा करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि यह दोनों

सिद्धान्त पश्चिमी देश के अपने ही नाम के सिद्धान्तों से नितान्त भिन्न हैं। रामायण और महाभारत में प्रतिपादित राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त जनतंत्रवाद का विरोधी नहीं हैं, वरन् वह उसका पोषक है। राजा केवल इस दृष्टि से नरदेव समझा गया है कि उसमें भगवान् की विभूतियाँ विद्यमान हैं और जिन विभूतियों की प्राप्ति सर्वसाधारण के लिए दुस्साध्य है उनको उसने उग्र तपस्या, आत्मसंयम आदि के द्वारा प्राप्त किया है। उसका आचरण सर्वसाधारण के लिए आदर्श है। हिन्दू राजा इंगलैंड के राजा जेम्स प्रथम अथवा फ्रान्स के राजा लुई चतुर्दश की भाँति निरंकुश एवं उत्तरदायित्व रहित कदापि नहीं है। उसका उत्तरदायित्व महान् है और वह राज्य के नियमों पर निर्भर है। राजपद पर उसकी नियुक्ति कुछ निर्धारित नियमों एवं प्रतिबन्धों के साथ होती है। वह केवल भगवान् का ही उत्तरदायी नहीं है। इस प्रकार हिन्दू राजा के अधिकार निर्धारित और सीमित कर दिये जाते हैं।

समाज अनुबन्धवाद के सम्बन्ध में यह वर्णन किया गया है कि महाभारत में हाब्स और रूसो दोनों महोदयों के विचार किसी अंश तक पाये जाते हैं। परन्तु यहाँ भी वही बात लागू होती है। दोनों देशों के इन सिद्धान्तों में यदि कहीं भी समानता है तो वह मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन के वर्णन करने में प्राप्त होती है। रूसो राज्य और सरकार की उत्पत्ति जनमत के आधार पर करता है परन्तु भारतीय सिद्धान्त में राजा की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा बनाये हुए नियमों को जनता से पालन कराने के लिए की गई है। इस दृष्टि से राजा प्रजा के द्वारा नियुक्त तो होता है परन्तु उसे लेशमात्र भी उस विधिसंग्रह के विरुद्ध आचरण करने का अधिकार नहीं है। इस नाते से इन दोनों सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है। इसी भाँति हाब्स और महाभारत के समाज अनुबन्धवाद का सिद्धान्त भी उससे समानता नहीं रखता। उसमें प्रजा द्वारा सम्राट् में एक बार राजसत्ता निहित कर देने से पुनः लौटाई नहीं जा सकती और प्रजा को अपने राजा के विरोध में अनुचित शासन के कारण राजद्रोह करने का वैध अधिकार नहीं दिया गया है, परन्तु हिन्दूसमाज अनुबन्धवाद में राजा से राजसत्ता इस आधार पर छीनी जा सकती है कि वह निर्धारित नियमों के

अनुसार शासन न करता हो। ऐसी स्थिति में जब राजा विधि संग्रह अथवा राजधर्म का उल्लंघन करता हुआ पाया जायगा प्रजा को उसे पदच्युत करने में राजविद्रोह करने और यहाँ तक उसे प्राणदण्ड देने तक की व्यवस्था दी गई है। अतः यह सिद्धान्त भी जनतन्त्रवाद का पोषक है।

इस प्रकार, प्रथम अध्याय में राजा की दैवी उत्पत्ति और समाज अनुबन्धवाद के दो सिद्धान्तों का तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त विवरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि यह दोनों सिद्धान्त जनतन्त्रवाद की पुष्टि करते हैं।

दूसरे अध्याय में यह सिद्ध किया गया है कि राजा की नियुक्ति करने में न तो प्रजा मनमानी कर सकती थी और न राजा ही। उन समस्त नियमों एवं प्रतिबन्धों को खोज कर एकत्र किया गया है जिनके अनुसार उस युग में राजा की नियुक्ति की जाती थी। अतः राजा की नियुक्ति के लिए इन नियमों का पालन करना पड़ता था—वीर वंश में जन्म, पैतृक अधिकार, ज्येष्ठता का अधिकार, शारीरिक क्षमता का अधिकार, चारित्रिक अधिकार, प्रजा की अनुमति का अधिकार राज्याभिषेक का अधिकार और राजकीय शपथ का अधिकार। इसमें सन्देह नहीं कि कतिपय राजनीति-विचारकों ने इनमें से कुछ सिद्धान्तों का वर्णन अपनी पुस्तकों में किया है, परन्तु इन समस्त नियमों का विवरण एक स्थल पर नहीं दिया। लेखक ने इस बात को सिद्ध किया है कि राजा की नियुक्ति का निर्णय इन्हीं नियमों के आधार पर होता था, इसलिए रामायण और महाभारत काल का राजा नितान्त निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नहीं गिना जा सकता। उसकी नियुक्ति नियमानुसार होने के कारण यह सिद्धांत जनतंत्रवाद के अन्तर्गत गिना जायगा।

तीसरा अध्याय मंत्रिपरिषद् के सम्बन्ध में है। मंत्रियों की नियुक्ति करने का अधिकार राजा को था। परन्तु उसका यह अधिकार सीमित था। लेखक ने दोनों ग्रंथों से उन नियमों एवं प्रतिबन्धों को खोज निकाला है, जिनके आधार पर राजा को अपने मंत्रियों की नियुक्ति करने का अधिकार था। इन नियमों और प्रतिबन्धों को निर्धारित करने के

लिए लेखक ने सैद्धान्तिक एवं प्रचलन सम्बन्धी दोनों प्रकार के प्रमाणों के आधार पर उन्हें स्थिर किया है। यह प्रतिबन्ध पैतृक अधिकार, चारित्रिक अधिकार, राज्य में निवास का अधिकार, प्रजा के विश्वास का अधिकार और आयु का अधिकार हैं।

इन नियमों का उल्लंघन करके मंत्रियों की नियुक्ति नहीं की जा सकती थी। मंत्रिपरिषद् का संगठन एवं उसकी जनतन्त्र-प्रणाली पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और अन्त में यह दिखाया गया है कि राजा के लिए मंत्रिपरिषद् अनिवार्य थी, जिसकी मंत्रणा के लिए राजा बाध्य था। मंत्रिपरिषद् के अतिरिक्त ब्राह्मण परिषद् होती थी। यह भी राजा और मंत्रियों को नियन्त्रण में रखने, सम्मति देने और उन्हे सद्मार्ग पर लगाने का कार्य करती थी।

चतुर्थ अध्याय में सभा का उल्लेख है। रामायण और महाभारत कालीन सभा में जनतन्त्रवाद के लक्षण हैं और इसका भली भाँति निरूपण किया गया है। सभाभवन विशाल होता था, जिसमें सभासदों के बैठने का प्रबन्ध रहता था और उसमें अनुशासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सभा की सदस्यता प्रजा के विभिन्न वर्ग एवं हितों के प्रतिनिधित्व पर निर्भर थी। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति सभासद नहीं हो सकता था। सभासद बनने के लिए कुछ विशेष योग्यताओं को प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती थी। आधुनिक कार्य-प्रणाली के आधार पर कार्य-संचालन होता था। इन सिद्धान्तों की पुष्टि पर्याप्त प्रमाणों के द्वारा लेखक ने की है जिसमें उसने इस बात को सिद्ध किया है कि उस युग में प्रस्ताव के रूप में विषय रखे जाते थे। प्रस्ताव का अनुमोदन होता था और सभा में प्रत्येक सदस्य को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती थी। निर्णय बहुमत से होता था।

लेखक ने इस नये सिद्धांत की भी खोज की है कि सभाभवन छोड़कर बाहर चले जाने (Walk out) की प्रथा का भी प्रचलन था।

लेखक ने एक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त की खोज की है और वह यह है कि उस युग में आय-व्यय-लेखा (Budget System)

की प्रथा प्रचलित थी और उसे उसने लोपा मुद्रा और अगस्त्य ऋषि के आख्यान के आधार पर सिद्ध किया है।

लेखक की यह धारणा है कि यह सभा आधुनिक जनतंत्रात्मक धारा-सभाओं से दूसरे कार्यों की दृष्टि से भिन्न थी। विधि निर्माण करना तथा कार्यकारिणी की नियुक्ति करना इसके अधिकार के बाहर था। यह सभा शासन सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद करती थी और इस नाते राजा, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों, सभा के सदस्यों और राज्य के अन्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखती थी। इसमें एक विशेषता यह थी कि यह न्याय करती थी, परन्तु ऐसे अवसर पर समस्त सदस्य सभा में न बैठते थे।

पंचम अध्याय विधि की प्रधानता के सम्बन्ध में है। लेखक ने इस बात को सिद्ध किया है कि समाज और राज्य दो भिन्न संस्थायें थीं। जन साधारण के जीवन का तीन चौथाई भाग समाज के नियमों से संचालित होता था, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीन आश्रमों का राजा से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था।

लेखक ने विधि निर्माण के साधनों की खोज करके उनका अनुसंधान कर वर्गीकरण किया है। दैवी साधन, लोकसम्मति का साधन, ऋषि द्वारा विधि निर्माण साधन, आप्त पुरुषों के अनुसरण का साधन, कुलधर्म, जातिधर्म, गण वा श्रेणीधर्म, देशधर्म और आपद्धर्म के अन्तर्गत यह हैं। रामायण और महाभारत से प्रमाणपूर्वक विधि के इन साधनों की खोज करना और उनका वर्गीकरण करना लेखक की निजी खोज है।

ग्रंथ के छठे अध्याय में जनमत के विषय में उल्लेख है। लेखक ने रामायण और महाभारत की वह समस्त सामग्री एकत्र की है, जो इस बात की पुष्टि करती है कि उस युग में सबल जनमत का निर्माण हो चुका था, जो इतना सबल था कि उसकी अवहेलना करना राजा और प्रजा दोनों की शक्ति से परे था। इसमें संदेह नहीं कि कतिपय अन्य विद्वानों ने इस बात का उल्लेख किया है कि रामायण और महाभारत काल में जनमत था परन्तु उन्होंने इस ओर

केवल संकेत मात्र ही किये हैं। लेखक ने उस समस्त सामग्री का अनुसंधान कर उसे एकत्र किया है और उसके आधार पर इस सिद्धान्त को स्थिर करके यह सिद्ध किया है कि उस युग में जनमत ने जनतंत्रवाद की स्थापना और उसके विकास में बड़ा सहयोग दिया था

सातवें अध्याय में यह दिखलाया गया है कि प्राचीन काल में संस्थामय जीवन था। मनुष्य का जीवन, कुटुम्ब, ग्राम, नैगम, गण, संघ, पौर जानपद आदि स्थानीय संस्थाओं के आधार पर विकसित हो रहा था, ये संस्थाएँ स्वतन्त्र रूप से कार्य करती थीं। इनके संगठन और इनकी कार्यप्रणाली, जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत थी। लेखक ने पौर को राजधानी की संस्था माना है। शुक्रनीति के एक श्लोक को लेकर उसने पौरलेख के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पौर एक संस्था थी। लेखक की यह धारणा है कि पौर एक संस्था अवश्य रही होगी अन्यथा राजा के लेख, मंत्री के लेख और पौर के लेख को दिखाने की शुक्र को क्या आवश्यकता थी ?

आठवें अध्याय में लेखक ने गणतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख किया है। उसमें महाभारत के सभापर्व में वर्णित गण राज्यों और शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा गण सम्बन्धी उपाख्यान एवं अन्धक-वृष्णि संघ के सम्बन्ध में नारद-कृष्ण के सम्वाद के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उस युग में उत्तरी और पश्चिमी भारत में बहुत से छोटे-छोटे गण राज्य थे जो आधुनिक जनतन्त्रात्मक राज्य (Republic) के पूर्व रूप थे, जिनमें जनतंत्रवाद के लगभग समस्त लक्षण पाये जाते थे। इन गण राज्यों को लेखक ने उपजातीय (Tribial) और औपक्षेत्रिय (Territorial) गणतंत्रात्मक राज्यों में विभक्त किया है। इसके अतिरिक्त उसने यह भी सिद्ध किया है कि उस युग में गणतन्त्रात्मक नगर राज्य भी थे। लेखक ने सप्तदस्युगण, दशमंडल, अन्धक-वृष्णि संघ आदि के आधार पर यह स्थिर किया है कि उस युग में संघ प्रथा (Confederation) भी थी।

नवें अध्याय में हिन्दू राजनीति का स्वरूप, विशेषकर रामायण और महाभारत कालीन, विवेचनात्मक और तुलनात्मक शैली के आधार पर स्थिर किया गया है और अन्तिम अर्थात दसवें अध्याय में रामायण

एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनतन्त्रवाद के तत्वों का स्वरूप दिया गया है। लेखक ने रामायण और महाभारत से समस्त सामग्री का विवेचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन किया। उसके उपरान्त उसमें से जनतन्त्रवाद के तत्वों की खोज की, उनका अनुसंधान और वर्गीकरण किया। इन तत्वों को मुख्य चार भागों में विभाजित किया जो वैध (Legal) वैधानिक (Constitutional) संस्था (Institutional) और शासन सम्बन्धी (Administrative) इन चार तत्वों के नाम से सम्बोधित किये गये हैं। जनतन्त्रवाद के वैध तत्वों के अन्तर्गत सार्वजनिक राजसत्ता, राजकीय शपथ का जनतन्त्रात्मक स्वरूप, पृथक् शक्तिकरण (Separation of Power) की प्रथा, सर्वोच्च न्यायसत्ता और विधि की प्रधानता के अंतर्गत आते हैं। जनतंत्र-वाद के वैधानिक तत्वों में निर्धारित योग्यताओं तथा प्रतिबन्धों के आधार पर राज्य के प्रत्येक अधिकारी तथा कर्मचारी की नियुक्ति एवं वियुक्ति, राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर प्रजा द्वारा नियन्त्रण, निर्वाचन प्रथा और जनमत का समावेश किया गया है। जनतन्त्रवाद के संस्था सम्बन्धी तत्वों में राजगुरु, मंत्रिपरिषद्, सभा, ब्राह्मणपरिषद् और स्थानीय संस्थाओं को परिगणित किया गया है। विभाग प्रथा, शासन क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली और शासन सम्बन्धी संस्थाओं को भंग करने का निषेध प्रजातन्त्रात्मक शासन सम्बन्धी तत्व रामायण और महाभारत से खोजकर निकाले गये हैं।

लेखक ने इस ग्रंथ में वाल्मीकीय रामायण से जिन श्लोकों का प्रमाण रूप में उद्धरण किया है वे श्लोक श्री चन्द्रशेखर शास्त्री द्वारा संपादित एवं सस्ती साहित्य पुस्तक माला, बनारस, द्वारा प्रकाशित की गई पुस्तक से लिये गये हैं। महाभारत में से जिन श्लोकों को उद्धृत किया गया है वह आदिपर्व से लेकर शान्तिपर्व के सत्तरवें अध्याय तक महाभारत प्रकाशन मंडल दिल्ली द्वारा प्रकाशित महाभारत ग्रंथ से और उसके उपरान्त पूना में मुद्रित की गई श्री नीलकंठ महोदय की टीका सहित जो महाभारत प्राप्त है उससे लिये गये हैं।

लेखक गुरुवर डा० ब्रजमोहन शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्, रीडर राजनीति विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय का परम आभारी है, जिनके सतत प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद के फलस्वरूप यह

ग्रंथ हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास कर सका। ग्रंथ में प्रूफ सम्बन्धी जो अशुद्धियाँ रह गई हैं, उनके लिए लेखक पाठकों से क्षमा-याचना करता है। इस ग्रंथ के सम्बन्ध में पाठकों द्वारा दिये हुए उचित परामर्शों का स्वागत किया जायगा।

लेखक ग्रंथ के प्रकाशक अवध पब्लिशिंग हाउस के अध्यक्ष श्रीभृगुराज भार्गव के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है कि उन्होंने अल्प समय में अपने अन्य आवश्यक कार्यों को रोककर, प्रेस सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करके उचित समय पर इस ग्रंथ का प्रकाशन किया।

अन्त में लेखक श्री रामसहाय पाण्डेय "चन्द्र" को सम्पादन एवं प्रूफ-संशोधन में सहायता पहुँचाने के लिए धन्यवाद देता है। उन सभी सहयोगी सज्जनों को भी लेखक धन्यवाद देता है जिन्होंने ग्रंथ के संबंध में किसी प्रकार की सहायता प्रदान की है।

लखनऊ
गुरु-पूर्णिमा
सं० २००७ वि०

श्यामलाल पाण्डेय

विषय सूची

अध्याय १

राजा की उत्पत्ति

अध्याय २

राजा की उत्पत्ति के सिद्धांत

अध्याय ३

मंत्रिपरिषद्

अध्याय ४

सभा

अध्याय ५

विधि की प्रधानता

अध्याय ६

जन-मत

अध्याय ७

स्थानीय संस्थाएं

अध्याय ८

गणतंत्रात्मक राज्य

विषय पृष्ठ

अध्याय ९

हिन्दू राजनीति का स्वरूप

अध्याय १०

रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनतंत्रवाद के तत्वों का स्वरूप

प्रथम अध्याय

राजा की उत्पत्ति

राजा की दैवी उत्पत्तिः—राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सामग्री वाल्मीकीय रामायण में उपलब्ध है अत्यन्त अल्प और संकीर्ण है। केवल जहाँ-तहाँ थोड़े से ऐसे स्थल हैं जिनमें इस ओर कुछ संकेत किए गए हैं और जो थोड़ा सा प्रकाश इस विषय पर डालते हैं। पाश्चात्य देशों के राजनीति के आचार्यों ने राजा एवं राज्य की उत्पत्ति के विषय में जिन विभिन्न सिद्धान्तों की पुष्टि की है रामायण में उनका उल्लेख कहीं भी देखने में नहीं आता। रामायण में जहाँ तहाँ बिखरी हुई इस विषय से सम्बन्धित समस्त सामग्री को एकत्र करने के उपरांत पाठक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस ग्रंथ में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल एक ही सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है और वह है राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त। इस सम्बन्ध के अन्य आधुनिक सिद्धान्तों:—समाज अनुबन्धवाद (Social Contract Theory) शक्ति-वाद (Force Theory) विकासवाद (Evolution Theory) तथा अन्य का उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

रामायण में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए कई प्रामाणिक उदाहरण प्राप्त हैं। अयोध्या के प्रसिद्ध राजा दशरथ की मृत्यु के उपरांत भरत अपने बड़े भाई राम को मनाने के लिये चित्रकूट पहुँचते हैं जिससे राम पुनः अयोध्या लौट आयें और अपने

राज्याधिकार को प्राप्त करें। वहाँ जाकर भरत अपने भाई राम के समक्ष अयोध्या के राज्य ग्रहण करने का प्रस्ताव उनकी अन्तिम स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करते हैं। इस अवसर पर भरत मुक्तकण्ठ से राजा को देवता स्वीकार करते हैं। उनका कथन है यद्यपि लोग राजा को मनुष्य समझते हैं परन्तु मेरे मतानुसार राजा देवता होता है; क्योंकि उसके धर्मार्थ युक्त व्यवहार मनुष्य से परे, अलौकिक, होते हैं।* भरत का यह कथन जिसमें वह राजा को देवता का पद देते हैं इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि रामायण काल में मनुष्यों का एक वर्ग ऐसा अवश्य था जो राजा को देव रूप मानता था। उसी वर्ग के प्रतिनिधि स्वरूप भरत ने इस स्थल पर उन विचारों की ओर संकेत किया है।

रामायण के अन्तर्गत वर्णित विद्वत्समाज के विचार भी इस सम्बन्ध में भरत के विचारों से समानता रखते हैं। इस विषय पर भी प्रामाणिक सामग्री उसी ग्रंथ में प्राप्त है जिसके आधार पर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि उक्त समाज राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास रखती थी। दण्डकारण्य में ऋषि मुनियों के आश्रमों को देखते हुए सीता तथा लक्ष्मण सहित राम भ्रमण करते हुए रामायण के अरण्यकाण्ड में वर्णन किये गये हैं। इन आश्रमों के ऋषि-मुनियों का दल राम के समक्ष हाथ जोड़ कर आदरपूर्वक निवेदन करता है—राजा इन्द्र का चौथा भाग है।† इसी कारण उसे सब लोग नमस्कार करते हैं। इस प्रकार इन ऋषि-मुनियों के मतानुसार राजा देवतुल्य है। वह इन्द्र का अंश लेकर पृथ्वी पर अवतरित होता है।

राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि के प्रमाण रामायण में वर्णित केवल आर्य जातियों के विभिन्न राज्यों में ही प्राप्त नहीं होते परन्तु रामायण में इस सिद्धान्त की पुष्टि करने वाली सामग्री उन राज्यों के वर्णनों में भी प्राप्त होती है जो दक्षिण में अनार्य जातियों के राज्य थे। सुदूर दक्षिण लंका राज्य में इस सिद्धान्त की छाप सर्व

---

* **राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे सम्मतो मम ॥**

श्लो० ४ सर्ग १०२, अयोध्या काण्डम् ।

† **इन्द्रस्यैव चतुर्भागः ॥**

श्लो० १९ सर्ग १, अरण्य काण्डम् ।

साधारण पर लगी हुई थी। लंका का राजा रावण मारीच से सीता-हरण में सहायता की याचना करता है। मारीच के द्वारा इस कार्य में आना-कानी करने पर रावण उसकी कड़े शब्दों में आलोचना करता है और उसे सचेत करता है कि वह अपने कर्तव्य को भली भाँति समझे। वह मारीच को समझाता हुआ कहता है—अमित पराक्रमी राजा पाँच रूप धारण करता है अर्थात् वह अग्नि, वरुण, इन्द्र, यम और चन्द्र का साक्षात रूप धारण करता है।* इसलिये सब स्थानों में राजा का सम्मान करना चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए।†

लंका राज्य की राक्षस-जनता के यह विचार जो उनके राजा के मुख से इस स्थल पर प्रकाशित किये गये हैं और जिन्हें मारीच ने भी स्वीकार किया है भरत एवं दण्डकारण्य के ऋषि-मुनियों के इस सम्बन्ध में जो विचार ऊपर वर्णन किये जा चुके हैं उन्हीं की पुनरावृत्ति कर रहे हैं। इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचार लंका के अनार्य राज्य में और उत्तरी-भारत के आर्य राज्यों में समान रूप से था।

किष्किन्धा राज्य के प्रसिद्ध राजा वालि की मृत्यु सम्बन्धी घटना-स्थल पर रामायण में इस सिद्धान्त की बलपूर्वक पुष्टि करते हुए राम वर्णित किये गये हैं। वालि राम द्वारा फेंके हुए बाण से घायल होकर राम के समक्ष पड़ा हुआ अंतिम साँसें भर रहा है। वह राम पर अनेकों प्रकार के आक्षेप करता हुआ कहता है कि तुम इस निन्दित कार्य का समर्थन कैसे करोगे? तुमने क्षात्र धर्म पर कलङ्क लगाया है। राम वालि द्वारा किये हुए आक्षेपों का निराकरण करते हुए उसे समझाते हैं—दुर्लभ धन जीवन और कल्याण के देने वाले राजा ही होते हैं इस बात में लेशमात्र भी संदेह नहीं है। राजाओं की हिंसा न करे, उनकी निन्दा

---

* पंचरूपाणि राजानो धारयन्त्य मितौजसः।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य वरुणस्य च॥
श्लो० १२ सर्ग ४०, अरण्य काण्डम्।

† तस्मात्सर्वास्व वस्थासु मान्याः पूज्याश्च नित्यदा॥
श्लो० १४ सर्ग ४०, अरण्य काण्डम्।

न करे, उनका तिरस्कार न करे, उनके प्रतिकूल न बोले क्योंकि राजा देव हैं। जो मनुष्य-रूप धारण कर पृथ्वी पर विचरते हैं।*

इतना ही नहीं वरन् रामायण में चरित्रवान् राजा को देव से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। राजा का प्रजा के कल्याण के निमित्त जो महत्व है उसका दिग्दर्शन कराते हुए रामायणकार ने वसिष्ठ के मुख से इस प्रकार कहलवाया है—राजा सत्य है, धर्म है, और कुलमानों का भी कुल है। राजा माता-पिता है, मनुष्यों का हितकारी है। महान चरित्र-बल से युक्त राजा से महाबली यम, कुबेर, इन्द्र, वरुण भी छोटे हैं।†

रामायण में प्राप्य उपरोक्त सामग्री के आधार पर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि रामायण में वर्णित राज्यों में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का सम्मान था। इस सिद्धान्त के प्रचलन की दृष्टि से अयोध्या, लंका और किष्किन्धा राज्यों में एक से विचार पाए जाते थे। इसलिए यह कहना नितान्त उचित होगा कि वाल्मीकीय रामायण राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पोषक है। वाल्मीकि ने राज-नीति-शास्त्र के इस सिद्धान्त को जनता के सामने रखकर संसार के राजनीति-क्षेत्र में महत्वपूर्ण सेवा की है।

महाभारत के अन्तर्गत भी इस विषय पर इस प्रकार के विचारों की ओर विशेष संकेत किया गया है। महाभारत के अनुसार राजा एक महान देव है जो मनुष्य रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होता है। मनुष्य मात्र का यह धर्म है कि वह राजा को मनुष्य मान

---

*—तान्न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्न प्रियं वदेत्।
देवा मानुष रूपेण चरन्त्येते महीतले॥
श्लो० ४२ सर्ग १८, किष्किन्धा काण्डम्।

†—यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महा बलः।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः॥
श्लो० ३५ सर्ग ६७, अयो० का०।

राजा सत्यंच धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजाहितकरोनृणाम्॥
श्लो० ३४ सर्ग ६७, अयो० का०।

कर उसका निरादर कदापि न करें।* यहाँ भी राजा की उत्पत्ति यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि देवों के अंश से मानी गई है।† संसार में धर्म की स्थापना राजा के द्वारा ही होती है। उसी के भय का परिणाम है कि मनुष्य एक दूसरे का भक्षण नहीं कर डालते।‡

महाभारत में राजा का स्थान देवों से भी ऊँचा माना गया है। इसी दृष्टिकोण से इन्द्र मान्धाता को उपदेश करते हुए कहते हैं—मनुष्यों का धर्मात्मा राजा सनातन से देव माना गया है। इस प्रकार राजा की उपेक्षा देवों को भी नहीं करनी चाहिए। राजा देव ही है और मनुष्य का शरीर धारण करता है। राजा का पद सनातन है। वह सृष्टि-रचना के काल से बराबर चला आ रहा है।×

भीष्म का यह मत है कि बुद्धिमान जन राजा और देव में भेद नहीं मानते।÷ इस जगतीतल पर राजा मनुष्य रूप में विष्णु ही हैं।+ जगत्पूज्य राजा का जो व्यक्ति तिरस्कार करता है उसके द्वारा किए हुए

*—नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इतिभूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति॥
श्लो० ४० अध्या० ६८, शान्ति पर्व।

†—कुरुते पंचरूपाणि काल युक्तानि यः सदा।
भवत्यग्निस्तथादित्योमृत्युर्वैश्रवणो यमः॥
श्लो० ४१ अ० ६८, शान्ति पर्व।

‡—राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव नखादन्ति परस्परम्॥
श्लो० ८ अ० ६८, शा० प०।

×—मानुषाणां मधिपतिं देवभूतं सनातनम्।
देवाऽपि नाव मन्यन्ते धर्म कामं नरेश्वरम्॥
श्लो० २६ अ० ६५, शा० प०।

÷—ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते॥
श्लो० १४४ अ० ५९, शा० प०।

+—महत्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरोभुवि॥
श्लो० १३४ अ० ५९, शा० प०।

यज्ञ, श्राद्ध तथा दिए हुए दान व्यर्थ ही होते हैं। उसे इन धर्म कार्यों का लेशमात्र भी फल नहीं मिलता।*

ऊपर वर्णित उद्धरणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत दोनों राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के पोषक हैं। रामायण में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल इसी एक सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है। उसके अन्तर्गत तत्सम्बन्धी अन्य ऐसी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि रामायण-कार राज्य अथवा राजा के उत्पत्ति-सम्बन्धी आधुनिक सिद्धान्तों से परिचित हों। परन्तु महाभारत में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के अतिरिक्त तत्सम्बंधी अन्य आधुनिक सिद्धान्तों से सम्बंधित सामग्री भी इधर-उधर बिखरी हुई प्राप्त है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारतकार राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों से परिचित थे जो किसी अंश तक आधुनिक सिद्धान्तों से सामंजस्य रखते हैं। इस प्रकार के विभिन्न सिद्धान्तों का विवरण आगे इसी अध्याय में दिया जायगा।

परन्तु यह कहना कि राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का जन्म-स्थान रामायण तथा महाभारत ही है बड़ी भूल होगी। इस सिद्धान्त का श्रोत आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थों में पाया जाता है जहाँ राजा को अग्नि, वरुण, इन्द्रादि नामों से सम्बोधित किया गया है।† यजुर्वेद में राजा के लिए वैष्णवान ‡ शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है विष्णु की विभूतियों से युक्त अर्थात् विष्णु भगवान का स्वरूप। उसी

---

*—सर्व लोक गुरुं चैव राजानं योऽव मन्यते।
नतस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलवते क्वचित ॥
श्लो० २८ अ० ६९, शा० प०।

†—अहं राजा वरुणो × × × × × ॥
मंत्र २ सूक्त ४२, मण्डल ४ ऋग्वेद।

अह मिन्द्रो वरुणः × × × × × ॥
मंत्र ३ सूक्त ४२, मण्डल ४ ऋग्वेद।

‡—रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् ॥
मंत्र २९ अध्याय ५, यजुर्वेद।

ग्रंथ में राजा को इन्द्र और वरुण कहा गया है।* इन स्थलों में राजा की उत्पत्ति उसी प्रकार दैवी मानी गई है जैसी कि इन्द्र और वरुण देव की। दूसरे शब्दों में राजा इन्द्र, वरुण और विष्णु का अवतार है।

इस प्रकार राजा की दैवी उत्पत्ति का यह सिद्धान्त भारत में उस समय सोचा गया था जब कि ऋग्वेद और यजुर्वेद के मंत्रों की रचना हुई थी। अतः राजा की उत्पत्ति सम्बंधी यह सिद्धान्त बहुत पुराना सिद्ध होता है और उस काल से जब कि आर्य-सभ्यता का भारत में उदय हुआ यह विचार-धारा भारतवासियों के राजनीतिक जीवन में निरन्तर बहती चली आ रही है जिसका उल्लेख हमें गाथा-काल में भली प्रकार प्राप्त होता है। गाथा-काल के पश्चात् भी हिन्दू राज्य में इस सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पड़ता रहा है।

वेदों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ जैसे उपनिषद, आरण्यक और सूत्र ग्रंथ भी इस सिद्धान्त की ओर संकेत करते हैं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है कि इन्द्र ने प्रजापति से राजसत्ता का अधिकार प्राप्त किया। कथा इस प्रकार वर्णित है—प्रजापति ने इन्द्र को देवों का राजा बनाने की इच्छा प्रकट की। इन्द्र ने राजपद पाने के योग्य बनने के लिए प्रजापति से उनके तेज की प्राप्ति के निमित्त उनसे याचना की जिसके पा लेने के उपरांत इन्द्र देवों का राजा बन गया। यद्यपि वह देवों में सबसे छोटा था।† प्रजापति से तेज प्राप्त करने के पूर्व इन्द्र साधारण देव था परन्तु प्रजापति के तेज को धारण

---

*—इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा ॥

मंत्र ३७ अध्याय ८ यजुर्वेद ॥

†—प्रजापति रिन्द्र सृजतानुजावरं देवान। तं प्राहिणोत।
परेहि। एतेषां देवानामधिपतिरे धीति × × × अथवाइदं
तर्हि प्रजापतौ हर आसीत्।
यदस्मिन्नादित्ये। तदेनमब्रवीत। एतन्मे प्रयच्छ।
अथाहमे तेषां देवानामधिपति भविष्यामीति।
×××अतो व इन्द्रो देवानामधिपतिरभवत ॥
वार्ता १—२ अनु० १० अ० २ अष्ट० २ तैतरीय ब्राह्मण ॥

कर वह देवराज बन गया । यह कथा इस बात को सिद्ध करती है कि राजपद वही प्राप्त कर सकता है जिसमें भगवान का अंश हो, दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहना उचित होगा कि राजा भगवान का अंश होता है ।

शतपथ ब्राह्मण में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है । इस ग्रंथ में स्पष्ट कहा गया है कि राज्याभिषेक हो जाने के उपरांत मनुष्य देवत्व को प्राप्त हो जाता है और वह भी एक देव हो जाता है । इसी ग्रंथ में एक स्थल पर इस बात का उल्लेख किया गया है कि जिस व्यक्ति का राज्याभिषेक होता है वह 'होता' और विष्णु दोनों एक ही साथ होता है । इसी ग्रंथ में इस संसार में राजा को प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है ।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का पोषक है, वैदिक साहित्य में राजा को देव माना गया है ।*

इस सम्बन्ध में मनुष्य के विचार भी इसी प्रकार के हैं । मनु की दृष्टि में यदि राजा बालक भी हो तो भी उसका सत्कार देव तुल्य होना चाहिए । उनका मत है कि राजा एक महान देव है वह पृथ्वीतल पर मनुष्य रूप में विचरता है ।† इस प्रकार मनु राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रचारक एवं पोषक थे । उनके मतानुसार राजा साधारण देव नहीं है बरन् वह महान देव (महती देवता) है जो मनुष्यरूप में विचरता है । एक साधारण बालकराजा साधारण देव से बड़ा है उसका सत्कार वायु, सूर्य, चन्द्र, धर्म, कुबेर, वरुण तथा यम आदि देवों के समान होना चाहिए ।‡ राजा के विना संसार में मत्स्य न्याय का

*—यो दीक्षते सदेवानामे को भवत्य नुत्यक्तं वैदावाना ७९ हवि. रथै तद्व्रतप्रदो ॥ २–२–१६ शतपथ ब्राह्मण ।

†—बालोऽपि नाव मन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति ॥
श्लो० ८ अ० ७ मनु० ।

‡—इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
श्लो० ४ अ० ७, मनु ।

आतंक जम जायेगा। राजा न्याय की धुरी का धारण करने वाला होता है।*

शुक्र भी राजा को देव का स्थान देते हैं। उनका मत है कि राजा का निर्माण इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, सूर्य, अग्नि, वायु और चन्द्र आठ प्रधान देवों के तत्वों के सम्मिश्रण से होता है। राजा इन आठ देवों के प्रधान तत्वों को धारण करता है।† शुक्र राजा को अत्यन्त आदरणीय मानते हैं। इस प्रकार शुक्र भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के पोषक हैं और इस सम्बन्ध में उनके विचार मनु के विचारों से समानता रखते हैं।

सम्भवतः मौर्य काल के सबसे बड़े राजनीतिज्ञ कौटिल्य अथवा चाणक्य महोदय हुए हैं। इस सम्बन्ध में उक्त महोदय के विचार भी स्पष्ट ही हैं। वह भी राजा को साधारण देव से बड़ा मानते हैं। उन्होंने राजा को परम देव माना है जो निश्चयपूर्वक राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को सिद्ध करता है। चाणक्य महोदय चाणक्य सूत्र में लिखते हैं कि हम लोगों के लिए राजा परम देव है।‡ चाणक्य महोदय के यह शब्द स्पष्ट हैं। इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचार भारत में उस युग में भी था जब कि चाणक्य महोदय अपने सिद्धान्तों का प्रचार भारत में कर रहे थे।

राजा की दैवी उत्पत्ति का यह सिद्धान्त भारत में गुप्त युग में भी प्रचलित रहा। इस युग में राजा कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान माना जाता था। लोग राजा को मनुष्य रूप में देव समझते थे

---

*—यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डेयष्व तन्द्रितः ॥
शूलमत्स्यानिवाभक्षान्दुर्बलान्बलवत्तराः ।
श्लो० २० अ० ७, मनु ।

†—इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्र वित्तेश योश्चापि मात्रा निहृत्य शाश्वतीः ॥
श्लो० ७१ अ० १, शुक्र० ।

‡—नः राज्ञः परम देवत्वम ॥
सूत्र ३७१, चाणक्य सूत्र ।

उसे देव एवं अचिन्त्य पुरुष शब्दों से सम्बोधित करते थे ।* गुप्त-कालीन शिलालेखों से यह बात भली प्रकार सिद्ध होती है । संस्कृत साहित्य में अचिन्त्य पुरुष शब्द भगवान के लिए प्रयोग में लाया जाता है परन्तु गुप्तकालीन शिलालेखों में इस शब्द का प्रयोग राजा के लिए हुआ है । इससे यह सिद्ध होता है कि गुप्त युग में राजा देव अथवा भगवान का अंश समझा जाता था । उसकी गणना इन्द्र, वरुण, यम, कुवेर आदि देवों में होती थी ।

उपरोक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त-काल में भारत की जनता में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रचार था ।

राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की यह धारा हिन्दूराज्य में निरन्तर प्रवाहित रही जिसकी झलक आज भी हिन्दू जनता के मध्य किसी न किसी रूप में प्रगट हो रही है । इसका यह परिणाम हुआ है कि ऐसे युग में भी जब कि विश्व में राज-क्रान्तियों का प्राबल्य रहा हो हिन्दूजनता राज-भक्त रही है । वह राज-द्रोह से घृणा करती है और न्यायी राजा का बध करना उसकी दृष्टि में एक ऐसा महान पाप है जिसके प्रायश्चित का विधान हिन्दू शास्त्रकारों ने कहीं भी नहीं किया । न्यायी राजा के विरोध में विप्लव का झंडा खड़ा करना उसके लिए सदैव असह्य रहा है ।

राजा का महत्व एवं उसकी आवश्यकता:—वाल्मीकीय रामायण में राजा के महत्व एवं उसकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है । राजा के बिना राज्य स्थिर नहीं रह सकता ।† राज्य में अराजकता फैल जाती है । बिना जल की नदियां ‡ बिना घास का वन और बिना

---

*—अचिन्त्य पुरुष धनद वरुणेन्द्रान्तक समस्य लोकधाम प्रलय हेतु ॥

प्रयाग स्तम्भ लेख समुद्रगुप्त ।

†—अराजकंहि नो राष्ट्रं × × × ॥

श्लो० ८ सर्ग ६७, अयोध्या काण्डम् ।

‡—यथाह्यनुदका नद्यो × × × ॥

श्लो० २१ सर्ग ६७, अयो० का० ।

गोपाल के गउओं की जो दशा होती है वही दशा ऐसे राष्ट्र की हो जाती है।* ऐसे राष्ट्र में मनुष्य का कुछ भी अपना नहीं होता। मछलियों के समान मनुष्य एक दूसरे को खा जाते हैं।† वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा जिन्होंने तोड़ दी है और जिन्हें इसके लिए दण्ड दिया जाता या वह नास्तिक शंका-रहित प्रभावशाली हो जाते हैं।‡ जिस प्रकार रथ ध्वजा के द्वारा पहचाना जाता है, धूम्र से अग्नि का बोध होता है उसी प्रकार प्रजा का परिचय राजा से होता है।× राजा-हीन देश में घोर गर्जन करनेवाला विद्वन्माली नाम का मेघ पृथ्वी पर जल नहीं बरसाता। ऐसे देश में खेत बोए नहीं जा सकते।÷ पिता के अधीन पुत्र और पति के अधीन पत्नी नहीं रहती।+ ऐसे देश में निर्णय के लिए मनुष्य

---

*—वाप्य तृणं वनम्।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम्॥
श्लो० २१ सर्ग ६७, अयो० का०।

†—नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्याइव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥
श्लो० ३१ सर्ग ६७, अयो० का०।

‡—येहि सम्भिन्न मर्यादा नास्तिकश्छिन्न संशयाः।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राज दण्ड निपीडिताः॥
श्लो० ३२ सर्ग ६७, अयो० का०।

×—ध्वजो रथस्य प्रज्ञानंधूमो ज्ञानं विभावसोः।
तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितोगतः॥
श्लो० ३० सर्ग ६७, अयो० का०।

÷—नाराजके जन पदे विद्युन्माली महास्वनः।
अभिवर्षतिपर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥
नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते॥
श्लो० ९-१० सर्ग ६७ अयो० का०।

+—नाराजके पितुः पुत्रोभार्या वा वर्त्तते वशे॥
श्लो० १० सर्ग ६७, अयो० का०।

पञ्चायत नहीं कर सकते*, देश को उन्नत करने वाले उत्सव तथा सभायें नहीं होती।† यहाँ तक कि जितेन्द्रिय और व्रतधारी ब्राह्मण यज्ञ नहीं कर सकते। संक्षेप में राजा-हीन देश में अराजकता तथा विप्लव साक्षात् रूप में अपना नग्न ताण्डव नाच दिखाने लगता है जिसके कारण वह देश मानवजीवन के लिए नितान्त अनुपयुक्त सिद्ध हो जाता है।

महाभारत में भी राजा की आवश्यकता एवं उसके महत्व पर समान विचार पाये जाते हैं। इस ग्रन्थ में भी राजा के महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया गया है।

महाभारत के शान्ति पर्व में कोसल राज्य के नरेश बसुमना और बृहस्पति का सम्वाद दिया गया है जिसमें बृहस्पति बसुमना को उपदेश देते हुए कहते हैं—हे राजन्! जैसे सूर्य या चन्द्रमा के उदय न होने पर सारे प्राणी गाढ़ान्धकार में लीन हो जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को देख भी नहीं सकते। जिस प्रकार थोड़े जल से युक्त तड़ाग में मछली और हिंसक के भय से रहित स्थान में पक्षी एक दूसरे को मारते हुए निर्विघ्न घूमते हैं, वह परस्पर बलपूर्वक एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं और थोड़े ही काल में अभाव को प्राप्त हो जाते हैं इसमें संशय नहीं है। इसी प्रकार राजा के बिना यह सारी प्रजा नष्ट हो जाती है, और गहरे अंधकार में ग्वाले से रहित पशुओं की तरह इधर उधर भटक कर नष्ट हो जाती है।‡ राजा के अभाव में सबल निर्बलों के सब कुछ, धन, स्त्री आदि का अपहरण कर लेते हैं और यदि उन्हें कोई रोकता है तो वह उन्हें मार डालते हैं। यदि राजा प्रजा की रक्षा में प्रवृत्त न हो तो सब ओर घोर अंधकार छा जाय, पापी लोग यान,

---

*—नाराजके जनपदे कारयन्ति सभांनराः॥
श्लो० १२ सर्ग ६७, अयो० का०।

†—नाराजके जनपदे.......... ......।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्र वर्धनाः॥
श्लो० १५ सर्ग ६७, अयो० का०।

‡—यथा ह्यनुदकेमत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः।
विहरे युर्यथा कामं विहिंसन्त पुनः पुनः॥
श्लो० ११ अ० ६८, शा० प०।

स्त्री, अलंकार तथा अनेक प्रकार के रत्नों को एकदम बलपूर्वक छीन लेते। यदि राजा प्रजापालन में प्रवृत न होता।* यदि राजा प्रजा के पालन का भार अपने कंधों पर न लेता तो लोग माता-पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु तक को पीड़ित करने में प्रवृत दिखाई देते।† जिस राजा के अभाव से सारे जगत (प्राणी मात्र) का अभाव हो जाता है और जिसकी स्थिति से सारे जगत की स्थिति है उस राजा की पूजा कौन नहीं करेगा ?‡

संक्षेप में महाभारतकार ने राजा की आवश्यकता एवं उसका महत्व जगत के सुचारु रूप से स्थिर रहने और उसके विकास एवं परिवर्द्धन के लिए अनिवार्य माना है। ऐसे राजा की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस प्रकार रामायण और महाभारत दोनों राजा की आवश्यकता एवं महत्व पर बहुत बड़ा बल देते हैं और दोनों राजा को बहुत ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं। दोनों राजा को देव मानते हैं। जिसके बिना जगत की मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं और जगत से सांस्कृतिक एवं सभ्य जीवन का सर्वथा नाश हो जाता है जगत में सभ्य जीवन एंव संस्कृति स्थिर रखने के लिए राजा की आवश्यकता उसी प्रकार नितान्त अनिवार्य है जैसे जीवन को स्थिर रखने के लिए प्रकाश, जल, वायु आदि मौलिक तत्वों की आवश्यकता होती है।

मनुष्यमात्र के निमित्त राजा की आवश्यकता तथा उसके महत्व पर मनु महोदय भी इतना ही बल देते हैं। उनका मत है कि राजा यदि अपराधियों को दण्ड न दे तो शूल पर मछली के समान सबल लोग

---

*—यानं वस्त्रमलंकारान् रत्नानि विविधानि च।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत्॥
श्लो० १६ अ० ६८, शा० प०।

†—मातरं पितरं वृद्धमाचार्य मतिथिं गुरुम्।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत्॥
श्लो० १८ अ० ६८, शा० प०।

‡—यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात्समन्ततः।
भावे च भावो नित्यं स्यात्कस्तं न प्रति-पूजयेत्॥
श्लो० ३७ अ० ६८, शा० प०।

निर्बलों को भून डालें। ऐसे राज्य में सुख और शान्ति का सर्वथा लोप रहता है।*

शुक्र-नीति में भी इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं। शुक्रमहोदय का मत है—यदि प्रजा का समुचित नेता राजा न हो तो प्रजा इस प्रकार विपत्ति में मग्न हो जाती है जिस प्रकार बिना कर्णधार के समुद्र में नौका डूब जाती है।† "प्रजापालक राजा के बिना प्रजा अपने कर्तव्य में स्थिर नहीं रह सकती। इस पृथ्वी पर बिना राजा के प्रजा की शोभा नहीं होती।‡

महात्मा कौटिल्य के विचार भी इस सिद्धान्त पर स्पष्ट हैं। वह भी इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—मत्स्य न्याय से पीड़ित हो लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया।× राजा प्रजा में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है। वही मनुष्यों को वर्णाश्रम धर्म पालन करने के लिए बाधित करता है।

इस प्रकार लगभग समस्त मुख्य हिंदू राजनीतिज्ञ राजा की आवश्यकता एवं उसके महत्व पर दो मत नहीं रखते। वह मुक्त कण्ठ से राजा की आवश्यकता और उसके महत्त्व के सिद्धान्त की सराहना करते हैं।

राजा की दैवी उत्पति के भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों की तुलना—राजा की उत्पत्ति एवं उसकी आवश्यकता पर भारतीय विद्वानों के जो विचार ऊपर वर्णन किए गए हैं उनके आधार पर

---

*—यदि न प्रणयेद्राजा दण्डंदण्डेष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः॥
श्लो० २० अ० ७, मनु०।

†—यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ् नेतातत: प्रजाः।
अकर्णधाराजलधौ विप्लवेतेहनौरिव॥
श्लो० ६५ अ० १, शुक्र०।

‡— नातिष्ठंतिस्व स्वधर्मे विना पालेन वै प्रजाः॥
श्लो० ६६ अ० १, शुक्र०।

×—मत्स्यन्यायाभि भूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं प्रजानां चक्रिरे॥
वार्ता ६ अधि० १ अ० १३, अर्थशास्त्र।

यह सिद्ध होता है कि हिंदू लोग प्राचीन-काल से ही राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे और जिसका विशेष महत्व रामायण और महाभारत काल में रहा है। परन्तु राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध का यह सिद्धान्त जिसका रामायण और महाभारत में विशेष वर्णन मिलता है और जिसकी पुष्टि अन्य भारतीय राजनीति विशारदों ने भी की है तत्सम्बंधी पाश्चात्य सिद्धान्त से नितान्त भिन्न है। इस सिद्धान्त का स्वरूप भारतीय राजनीति में अपनी विशेषता रखता है जो अन्य किसी देश के राजनीति क्षेत्र में, सम्भवतः देखने में नहीं आता। हिंदू राजा (नर देव) भगवान का प्रतिनिधि अवश्य है परन्तु वह उस रूप में नहीं है जिसमें कि पाश्चात्य राज्यों में माना गया है वह केवल भगवान का ही प्रतिनिधि नहीं है और न केवल उसी पर उत्तर-दायित्व रखता है और ऐसा भी नहीं है कि हिन्दू प्रजा अपने नरदेव की उचित या अनुचित आज्ञाओं का आँख मीच कर पालन करे। रामायण एवं महाभारत के मतानुसार वह केवल इस रूप में भगवान का अंश है अथवा नरदेव है कि उसमें भगवान की वे दिव्य विभूतियाँ विद्यमान हैं जिनकी प्राप्ति सर्वसाधारण के लिए दुस्साध्य है और जिनको उसने उग्र तपस्या, आत्मसंयम आदि के द्वारा प्राप्त किया है।* इस प्रकार उसका आचरण सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय हो जाता है और वह उनके लिए एक आदर्श चरित्र बन जाता है।† हिन्दू राजा इंगलैण्ड के राजा जेम्स प्रथम, चार्ल्स प्रथम अथवा फ्रांस के राजा लुई चतुर्दश की भाँति निरंकुश एवं उत्तरदायित्व रहित कदापि नहीं है। उसका उत्तरदायित्व महान् है और वह राज्य के नियमों पर निर्भर है। राजपद पर उसकी नियुक्ति कुछ निर्धारित प्रतिबन्ध के साथ होती है। हिन्दू राजा को परम्परा से निर्धारित कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। उसका मुख्य कर्तव्य पाप को दमन कर प्रजा को वर्णाश्रम

---

*—राजानम् मानुषं प्राहुर्देवत्वे संमतो मम।
यस्य धर्मार्थ सहित वृत्तमाहुर मानुषम्॥
श्लो० ४ सर्ग १०२, अयो० का०।

†—यद् वृताः सन्ति राजा नस्तद् वृताः सन्ति हि प्रजाः॥
श्लो० ६ सर्ग १०६, अयो० का०।

धर्म पर चला कर उनके लिए त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) प्राप्ति का मार्ग सुगम बनाना है। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए रामायणकार ने कई उदाहरणों का उल्लेख किया है। विश्वामित्र का तो यहाँ तक मत है कि क्षत्रिय वर्ण को अपनी प्रजा के रक्षण कार्य एवं उनके पालन के लिए उचित व अनुचित प्रत्येक प्रकार के कार्य को कर डालना चाहिए। ताड़का स्त्री है ऐसा समझ कर राम उसका वध करने से हिचकते हैं ऐसा देखकर विश्वामित्र राम को उसके वध के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं—स्त्रीवध समझ कर तुमको इस कार्य की ओर घृणा नहीं करनी चाहिए। तुम राजपुत्र हो तुम्हें चातुर्वर्ण की रक्षा करनी चाहिए* इसलिए इस क्रूर नारी को मार कर चातुर्वर्ण की रक्षा करो। प्रजा की रक्षा के लिए भला-बुरा निर्दोष-सदोष सभी काम राजा को करना चाहिए।† रामायण में एक स्थल पर राम भरत को उनके कर्तव्य को बतलाते हुए सचेत करते हैं—राज्य के समस्त निवासियों का पालन करना राजा का धर्म है।* हिन्दू राजा को निर्धारित मियमों के अनुसार आचरण रखना पड़ता था और उन्हीं नियमों के असनुार शासन करना पड़ता था। यह नियम राजधर्म के नाम से प्रसिद्ध है।† और यह राजधर्म नित्य थे। यहाँ तक कि हिन्दू राजा के कर्तव्यों की ओर

---

*—चातुर्वर्ण्य हितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥
श्लो० १७ सर्ग २५, बाल काण्डम्।

†—नृशंसम नृशंसं वा प्रजा रक्षण कारणात्।
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षिता सदा ॥
श्लो० १८ सर्ग २५, बालकाण्डम्।

*—रक्ष्याहि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥
श्लो० ४८ सर्ग १००, अयो० का०।

†—राजधर्माणां कथं देवि न बुद्ध्यसे ॥
श्लो २३ सर्ग ७, अयो० का०।
राजधर्मवित् ॥ श्लो० २० सर्ग १३, अयो० का०।
राजधर्ममवेक्षते ॥ श्लो० २१ सर्ग ७३, अयो० का०।
सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः ॥
श्लो० २७ अ० ६३, शा० प०।

संकेत करते हुए हिन्दी भाषा के सन्त कवि तुलसीदास ने भी इस ओर राजा का ध्यान दिलाया है। उनके कथन के अनुसार जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी रहती है उसे नर्क में वास करना पड़ता है।*

इस प्रकार राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस दैवी सिद्धान्त का उल्लेख रामायण और महाभारत के पन्नों में मिलता है वह सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इसलिए रामायण और महाभारत काल का कथित राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रजातंत्रवाद का बाधक नहीं है वरन् वह उसका पोषक है और उसके विकास में सहायक सिद्ध हुआ है। यह सिद्धान्त राजा के अधिकारों को निर्धारित कर संकुचित एवं सीमित कर देता है और राजा को इस बात के लिए बाधित करता है कि वह अपने कर्तव्यों का पूर्ण रीति से पालन करे। जिसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू राजा सम्मानित व्यक्ति तो बन जाता है परन्तु वह राज-धर्म के भीतर जकड़ दिया जाता है। हिन्दू देवराज जिसका स्वरूप रामायण और महाभारत में दिया गया है और जिसका अनुमोदन अन्य हिन्दू राजनीति के विद्वानों ने किया है केवल वैधानिक सम्राट् है जो राजधर्म के क्षेत्र के बाहर कार्य करने का तनिक भी अधिकार नहीं रखता है और जिस राजधर्म की उत्पत्ति उसके द्वारा नहीं हुई है किन्तु यह राजनियम सृष्टि के आदि-काल से परम्परागत चले आ रहे हैं।†

समाज अनुबन्धवाद:—महाभारत में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के अतिरिक्त राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई अन्य सिद्धान्तों के चिह्न भी पाए जाते हैं। इन सिद्धान्तों में समाज अनुबन्धवाद (Social contract Theory) का विशेष वर्णन है। महाभारत के शान्ति पर्व में इस सिद्धान्त का विशेष उल्लेख है। युधिष्ठिर अपने पितामह भीष्म से पूछते हैं—हे भरतवंश श्रेष्ठ परन्तप ! यह जो राजा नामक शब्द

---

*—जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥
तुलसीदास।

†—नित्यं धर्मे क्षत्रियो XXX॥
श्लो० ४ अ० ६१, शा० प०।

संसार में प्रचलित है इसकी किस प्रकार उत्पत्ति हुई ?* राजा और प्रजा दोनों के एक से ही हाथ, भुजा और ग्रीवा होती है और समान ही बुद्धि और इन्द्रिय हैं। इनको दुख-सुख का अनुभव भी समान रूप से ही होता है। पीठ, मुख और उदर भी इनका तुल्य ही है + + + + + + + इस प्रकार सारे मनुष्यों से राजा के गुण, कर्म और स्वभाव मिलते हैं। फिर यह अकेला बड़े-बड़े शूर वीरों का अधिपति कैसे बन बैठता है ?† + + + + + + + हे भरतर्षभ में इस बात का रहस्य जानना चाहता हूँ। भीष्म इस प्रकार उत्तर देते हैं—हे नर व्याघ्र ! तुम सावधान हो जाओ, मैं इस प्रश्न का पूर्ण रूप से उत्तर देता हूँ कि किस प्रकार सत्ययुग से राज-व्यवस्था की परिपाटी चली है। हे राजन् सत्ययुग में राज्य, राजा या दण्ड देनेवाला कुछ भी नहीं था। सारी प्रजा धर्म के अनुसार चलती थी जिससे वह अपनी रक्षा आप ही परस्पर करती थी।‡ हे भरत, धर्म को लक्ष्य में रखकर लोग एक दूसरे की रक्षा करते थे।× परन्तु इस तरह आगे काम चलता न देखकर उनको बड़ा खेद हुआ और उनकी बुद्धि चकराने लगी। हे मनुजर्षभ ! जब प्रजा के लोगों को मोह

---

*—य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मेब्रूहि परन्तप॥
श्लो० ५ अ० ५९, शा० प०।

†—तुल्य पाणि भुजग्रीवस्तुल्य बुद्धीन्द्रियात्मकः।
तुल्य दुःख सुखात्मा च तुल्य पृष्ठ मुखोदरः॥
श्लो० ६ अ० ५९, शा० प०।
× × × × कथमेकोऽधितिष्ठति॥
श्लो० ७-८ अ० ५९, शा० प०।

‡—न वैराज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वारक्षन्तिस्म परस्परम्॥
श्लो० १४ अ० ५९, शा० प०।

×—पाल्यमानास्तथाऽन्योऽन्यम् नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत्॥
श्लो० १५ अ० ५९, शा० प०।

छा गया तो उनका ज्ञान भी लोप होने लगा। जब उनका ज्ञान ही नष्ट हो गया तो लोग अज्ञान के वश में पड़ गए।* हे भरत सत्तम ! इस तरह आगे चलकर लोभ के पंजे में फँसे। हे प्रभो ! जब लोगों का विचाराभिमर्श लुप्त हो गया तो उनको काम नाम के दोष की प्राप्ति हुई। जब लोग काम के वश में हो गए तो उनके मन में राग की प्रवृत्ति हुई। हे युधिष्ठिर, इसी राग के वश में हुए उनको कार्य-अकार्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रहा।† हे राजन् ! अब तो जिससे सम्भोग नहीं करना चाहिए वह करने लगे। भक्ष्याभक्ष्य की कुछ परिपाटी न रही तथा दोष अदोष की कोई मर्यादा न रही।‡ जब लोग अधर्म में फँसकर नष्ट होने लगे तो वेद भी लुप्त हो चला। हे राजन् ! जब वेद नष्ट होता है, तब धर्म भी नष्ट हो ही जाता है।

जब धर्म और वेद का नाश हो गया तो देवता भयभीत हो उठे हे नरशार्दूल देवता भयातुर होकर ब्रह्मा जी की शरण में पहुँचे।+ उन्होंने लोकपितामह ब्रह्मा की स्तुति कर उनको प्रसन्न किया। वह सारे देवता दुःख के वेग से आहत हुए हाथ जोड़ कर ब्रह्मा जी से कहने लगे—हे भगवन् ! नर लोक में स्थित सारा वेद, लोभ मोहादिक विकारों के जाग्रत होने से नष्ट हो गया है। यह देखकर हमारे चित्त में बड़े भय का संचार हो रहा है + + + + + + + + + + हे पितामह ! इस विषय में जिस प्रकार हमारा कल्याण हो आप

---

*—ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।
प्रतिपत्ति विमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥
श्लो० १६ अ० ५९, शा० प० ।

†—रक्ताश्च नाभ्य जानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर ॥
श्लो० १९ अ० ५९, शा० प० ।

‡—अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषम् च नात्यजन् ॥
श्लो० २० अ० ५९, शा० प० ।

+ — नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत् ।
ते त्रस्ता नर शार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥
श्लो० २२ अ० ५९, शा० प० ।

वहीं विचारिए। आप के प्रभाव से हमारा जो यह स्वभाव बना था या हमको जो ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था—वह स्वयं नष्ट होने जा रहा है।*

जब देवों ने इस प्रकार स्तुति की तो भगवान् ब्रह्मा उन सारे देवों से बोले—हे देवो ! तुम डरो मत, मैं तुम्हारे कल्याण की वार्ता का चिन्तन करूँगा। ब्रह्मा जी ने एक लाख अध्यायात्मक एक ग्रंथ की अपनी बुद्धि के अनुसार रचना की।† हे राजन् ! इस शुभ नीतिशास्त्र की रचना करके भगवान् ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर इन्द्र आदि देवों से यह वचन कहा—हे देवो ! जगत के उपकार और त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की स्थापना के निमित्त ज्ञान का सार निकालकर यह युक्ति प्रकाशित की है। यह दण्ड के साथ लोकों की रक्षा करनेवाली होगी।‡ दण्ड से संसार चलाया जाता है अथवा इस ग्रंथ में दण्ड का विधान है—इससे इस शास्त्र को दण्डनीति कहते हैं। इस नीति का प्रभाव तीनों लोकों में विद्यमान है।×

महाभारत का उपरोक्त वर्णन हमें उस प्रकृति युग की ओर संकेत करता है जिसका वर्णन फ्रांस के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता श्री रूसो महोदय ने अपने विचारों के द्वारा किया है। इन दोनों वर्णनों में किसी अंश तक समानता भी पाई जाती है। दोनों लेखकों का कथन है कि आदि काल में एक ऐसा युग था जब मनुष्य प्रत्येक प्रकार से सुखी एवं सम्पन्न था

---

*—श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥
श्लो० २८ अ० ५९, शा० प० ।

†—ततोऽध्याय सहस्राणां शतंचक्रे स्वबुद्धिजम् ॥
श्लो० २९ अ० ५९, शा० प० ।

‡—उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥
श्लो० ७६ अ० ५९, शा० प० ।

×—दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्ड नीतिरितिख्याता त्रीन्लोकानभिवर्तते ॥
श्लो० ७८ अ० ५९, शा० प० ।

और एक दूसरे के सहयोग से जीवन व्यतीत होता था । दोनों का यह विश्वास है कि पाप (Crime) की उत्पत्ति बाद में हुई । मनुष्य के स्वार्थ सम्बन्धी विकार उस युग में सुषुप्ति अवस्था में थे । परन्तु शनैः शनैः यह विकार जाग्रत अवस्था को प्राप्त होकर इन्होंने मनुष्य जीवन को नारकीय बना दिया । दोनों लेखकों के सामने अब यह प्रश्न था कि वह सुख और शान्ति का युग पुनः कैसे लौटे ? रूसो महोदय अपने उद्देश्य की सफलता के हेतु एक नये सिद्धान्त की स्थापना करते हैं जो इतिहास में समाज अनुबन्धवाद (Social eontract Theory) के नाम से विख्यात है । इस सिद्धान्त को स्थिर कर वह राज्य और सरकार का निर्माण करते हैं जिसकी आधार शिला जनमत (General will) है । परन्तु महाभारतकार उस स्वर्णयुग के पुनर्निर्माण के निमित्त ब्रह्मा की शरण लेता है और जो लोगों के कल्याण के हेतु एक लाख अध्यायात्मक ग्रंथ की रचना करता है और लोगों को आदेश देता है कि वह इस ग्रंथ में वर्णित नियमों के अनुसार अपना आचरण बनाएँ । इस प्रकार महाभारतकार रूसो महोदय से इस स्थल पर भिन्न विचार रखते हैं । रूसो द्वारा कथित राज्य की आधारशिला जनमत (General will) पर निर्भर है परन्तु महाभारतकार जिस राज्य की स्थापना करना चाहता है उसकी आधारशिला ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधि है अथवा यों कहना चाहिए कि रूसो जिस राज्य का निर्माण करना चाहता है उसका उत्तरदायित्व जनमत पर है, परन्तु महाभारतकार के राज्य का उत्तरदायित्व उस विधि संग्रह पर है जिसको ब्रह्मा ने लोक-कल्याण के लिये रचा था । इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह विधि पवित्र, श्रेष्ठतम, तथा नित्य है और महाभारत में वर्णित राज्य का उत्तरदायित्व इन विधियों पर है ।

महाभारतकार आगे यह कहता है कि ब्रह्मा ने लोककल्याण के हेतु विधियों की रचना तो कर दी और इस प्रकार का आदेश भी कर दिया कि लोग इन विधियों के अनुसार अपना आचरण बनायें जिससे वह स्वर्ण युग पुनः लौट आयेगा । परन्तु अभी एक महान् समस्या यह थी कि इन विधियों को जनता पर लागू कैसे किया जाय ? इसलिए यह देवगण जगत रक्षक विष्णु भगवान् की शरण में जाते हैं और उनसे इस बात की प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ

व्यक्ति को लक्षित करने की कृपा करें।* विष्णु भगवान् रजोगुण रहित एक तेजस्वी मानस पुत्र की रचना करते हैं।† परन्तु वह महानुभाव रजोगुण रहित होने के कारण पृथ्वी का राजा होना स्वीकार नहीं करता है।* इसके पश्चात् कई राजाओं का निर्माण होता है। छठा वेन था। यह वेन प्रजा में अधर्म की वृद्धि करता था और सर्वदा राग-द्वेष में फँसा रहता था। इससे ब्रह्मवादी ऋषियों ने मंत्रपूत कुशाओं से उसे मार डाला।† महर्षियों ने वेन के दाएँ हाथ को मथ कर इन्द्र तुल्य सुन्दर पुरुष की उत्पत्ति की। इस नरोत्तम को सारी दण्ड नीति भली भाँति आती थी।‡ यह वेन पुत्र हाथ जोड़ कर उन महर्षियों से बोला—धर्म और अर्थ के देखने में तत्पर मुझ में सूक्ष्म-बुद्धि विकसित हो रही है। हे मुनियों, इस बुद्धि से मुझे क्या करना चाहिए? आप यथावत इसका रहस्य बताइये। आप जिस गम्भीर अर्थ के रहस्य

---

*—अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिश॥
श्लो० ८७ अ० ५९, शा० प०।

†—ततः संचिंत्य भगवान्देवो नारायणः प्रभुः।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम्॥
श्लो० ८८ अ० ५९, शा० प०।

*—विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत।
न्यासा यैवा भवद्बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव॥
श्लो० ८९ अ० ५९, शा० पा०।

†—तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेष वशानुगम्।
मंत्र भूतैः कुशैर्जघ्नु ऋषयो ब्रह्मवादिनः॥
श्लो० ९४ अ० ५९, शा० प०।

‡—वेदवेदांगविच्चैव धनुर्वेद च पारगः॥
श्लो० ९९ अ० ५९, शा० प०।

दण्ड नीतिः सकलाश्रिता राजन्नरोत्तमम्॥
श्लो० १०० अ० ५९, शा० प०।

मुझे मेरा कर्तव्य बतायेंगे मैं उसे ही करूँगा इसमें किसी प्रकार के संकोच की आवश्यकता नहीं है।*

देव और महर्षियों ने वेनपुत्र से कहा—जिस कर्म में धर्म की स्थिति हो उसे तुम निःशंक होकर करो। अब तुम प्रिय अप्रिय का भेद छोड़ कर सारे प्राणियों में समान व्यवहार करो।† काम, क्रोध, लोभ और अहंकार को भी दूर से नमस्कार करो। जो मनुष्य संसार म धर्म से विचलित हो जाए उसे तुम धर्म की ओर दृष्टि रखकर अपनी भुजाओं के बल से दण्डित करो।‡ तुम मन वाणी और कर्म से ऐसी शपथ लो कि जगत को ब्रह्म का स्वरूप मानकर उसकी सर्वदा रक्षा करते रहोगे।× जो दण्ड नीति के अनुकूल नित्य धर्म महर्षियों ने कहा है तुम उसका सर्वदा निःशंक होकर पालन करते रहोगे और

---

*—ततस्तु प्रांजलिर्वैन्यो महर्षीस्तानु वाचह।
श्लो० १०० अ० ५६, शा० प०।

अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्वेन शंसत॥
यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थं समन्वितम्।
तदहं चैकरिष्यामि नात्र कार्या विचारणा॥
श्लो० १०१–१०२ अ० ५६, शा० प०।

†—नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर॥
श्लो० १०३ अ० ५६, शा० प०।

‡—प्रिया प्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः॥
श्लो० १०४ अ० ५६, शा० प०।

यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चनमानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षता॥
श्लो० १०५ अ० ५६ शा० प०

×—प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
श्लो० १०६ अ० ५६, शा० प०।

यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीति व्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥
श्लो० १०७ अ० ५६, शा० प०।

कभी उच्छृंखल न होगे। तुम यह भी प्रतिज्ञा करो कि तुम ब्राह्मणों को दण्ड नहीं दोगे तथा जगत में यदि वर्णसंकर होने लगे तो तुम उनकी रक्षा करोगे।*

जब वेनपुत्र पृथु ने यह शपथ ले ली तब ब्रह्मवादी ऋषियों ने ठीक समझकर ब्रह्मज्ञानी, विद्यानिधि शुक्राचार्य को उसका पुरोहित बनाया। बालखिल्य ऋषि मंत्री और सारस्वत अधिकारी गण बनाए गए। भगवान महर्षि गर्ग उसके ज्योतिषी बने।† श्रुति ने यही प्रतिपादन किया है कि यह विष्णु से आठवाँ पुरुष था।‡

यह कथा कई महत्वपूर्ण तत्वों पर प्रकाश डालती है—राजा की उत्पत्ति के पूर्व विधि (Law) प्रचलित थे और यह विधि (Law) पवित्र श्रेष्ठतम और नित्य थे। राजा की उत्पत्ति उस समय हुई जबकि जनता में इस विधिसंग्रह के लागू करने की आवश्यकता हुई क्योंकि एक ऐसा युग उपस्थित हो गया था जब कि स्वार्थ के वशीभूत हो मनुष्य एक दूसरे के हितों का ध्यान न रखता था। इस प्रकार राजा की आवश्यकता केवल उस समय तक समझी गई जब तक संसार में पाप रहेगा। प्राचीन सुख शान्ति और पारस्परिक सहयोग के स्वर्ण युग के पुनः लौट आने पर राजा की आवश्यकता न रह जायगी। राजा का मुख्य कर्तव्य था कि वह अपने राज्य की प्रजा को धर्ममार्ग पर चलने के लिए बाधित करे। यदि राजा अपने कर्तव्य से च्युत होगा तो वह दण्डित किया जायगा यहाँ तक कि उसे प्राणदण्ड तक दिया जा

*—अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंपर॥
श्लो० १०८ अ० ५९, शा० प०।

†—एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः।
पुरोधाश्चाभवत्तस्यशुक्रो ब्रह्ममयो निधिः॥
श्लो० ११० अ० ५९, शा० प०।

मंत्रिणो बाल खिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा।
महर्षिर्भगवान्गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत्॥
श्लो० १११ अ० ५९, शा० प०।

‡—आत्मनाऽष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु।
श्लो० ११२ अ० ५९, शा० प०।

सकता है। उसे ऋषियों ने जो कि अपने शिष्ट आचरण और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे राजा बनाया और मनुष्यों का यह वर्ग राजकर्ता होने के कारण राजदण्ड से मुक्त था। यह वर्ग धर्म के साक्षात रूप होने के कारण राजसत्ता के धारण करनेवाले थे परन्तु उन्हें भी मानव धर्म के अधीन रहना पड़ता था। राजा रजोगुण युक्त था और मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति था। राजा को प्रजाभक्त रहने एवं नित्य धर्म स्थिर रखने की शपथ राजपद पाने के पूर्व लेनी पड़ती थी। राजा को यह शपथ गम्भीरतापूर्वक मन-वचन और कर्म से लेनी आवश्यक थी। राजा के मंत्री, पुरोहित तथा अन्य अधिकारीगण ऋषियों द्वारा नियुक्त किये गये थे जो अपनी कुशाग्र बुद्धि और शुद्धाचरण के लिये प्रसिद्ध थे।

संक्षेप में ऋषियों के हाथ में राज्य निधि के रूप में रहता था जो राजा को कतिपय निर्धारित प्रतिबन्धों के साथ सौंप दिया जाता था।

महाभारत के शान्तिपर्व में एक दूसरे स्थल पर भीष्म एक दूसरे युग का इतिहास देते हुए राज्य निर्माण का दूसरा सिद्धान्त स्थिर करते हैं। वह इस प्रकार है:—

भीष्म कहते हैं—हमने यह सुना भी है कि पूर्व काल में राष्ट्र का कोई राजा नहीं था। उस समय प्रजा नष्ट होती रहती थी। लोग परस्पर निर्बल मछलियों को सबल मत्स्यों की भाँति खा जाते थे।* हमने सुना है कि उन लोगों ने एकत्र होकर यह नियम बनाया कि हमारे मध्य में जो व्यक्ति कठोरभाषी, दंड परायण, परस्त्री अपहरण कर्ता होगा तथा जो अन्य के धन का अपहरण करेगा उसे हम अपने समूह से निकाल देंगे।† उन्होंने नियम तो बना लिया किन्तु उस

---

*—**अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।**
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जलेकृशान्॥
श्लो० १७ अ० ६७, शा० प०।

†—**समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।**
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारजायिकः॥
श्लो० १८ अ० ६७, शा० प०।

यः परस्वमथा दद्यात्त्याज्या नस्ता दृशा इति॥
श्लो० १९ अ० ६७, शा० प०।

पर चल न सके ।* इस प्रकार दुखी होकर अन्त में वह पितामह ब्रह्मा जी के पास गये और कहने लगे—हे भगवन् हम लोग बिना राजा के नष्ट हो रहे हैं। आप हमारे लिए राजा बताएँ।† हम लोग एकत्र हो उसकी पूजा करते रहें और वह हमारा पालन करे। पितामह ब्रह्मा ने मनु को प्रस्तुत किया।‡ परन्तु मनु इस विचार से प्रसन्न नहीं हुए।× मनु जी कहने लगे हे, ब्रह्मन राजा बनने पर पाप कर्म होना आवश्यक है क्योंकि राजा को लोगों को दण्ड देना पड़ता है। इसीलिए राज्य का ग्रहण करना बड़ा दुस्तर काम है और मनुष्यों का राज्य ग्रहण करना और भी कठिन है क्योंकि वह सर्वदा मिथ्याचार में लगे रहते हैं।÷ उस समय प्रजा ने मनु से कहा—तुम डरो मत (मा भै) दण्ड देनें में पाप नहीं है वह तो जो पाप करता है उसी का पाप है। हम लोग पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवाँ तथा धान्य का दसवाँ भाग तुम्हारे कोष की वृद्धि के निमित्त देते रहेंगे।+ जब कोई कन्या विवाह के लिए उद्यत

*—तास्तथा समयं कृत्वा समये नावतस्थिरे ॥
श्लो० १९ अ० ६७, शा० प० ।

†—सहितास्तास्तदा जग्मुर दुखार्ताः पितामहम् ।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरंदिश ॥
श्लो० २० अ० ६७, शा० प० ।

‡—यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ।
ततो मनुं व्यादि देश + + ॥
श्लो० २१ अ० ६७, शा० प० ।

×—मनुर्नाभिननन्दतः ॥
श्लो० २१ अ० ६७, शा० प० ।

÷—बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम् ।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्या वृत्तेषु नित्यदा ॥
श्लो० २२ अ० ६७, शा० प० ।

+—पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥
श्लो० २३ अ० ६७, शा० प० ।

धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ॥
श्लो० २४ अ० ६७, शा० प० ।

होगी उसको सर्वप्रथम आपकी भेंट करेंगें। जो मनुष्य मुख्य हैं या शस्त्र और वाहन से सुसज्जित हैं वह इन्द्र के पीछे देवों की तरह तुम्हारे पीछे चलेंगे। राजा से सुरक्षित होकर प्रजा जिस धर्म का आचरण करेगी उस धर्म का चतुर्थांश तुमको मिला करेगा।*

इस स्थल पर महाभारतकार राजा की उत्पत्ति के एक नवीन सिद्धान्त की कल्पना करता है। वह एक ऐसे युग का वर्णन करता है जिसमें चारों ओर अराजकता, विप्लव, पाप और अत्याचार फैला हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी का गला काटने पर कटिबद्ध था। इस युग में सारे अधिकारों एवं नियमों की आधारशिला स्वार्थ मात्र था जहाँ आगे चलकर आत्मरक्षा के विधि (Law) की उत्पत्ति हेतु हुई।

महाभारतकार द्वारा वर्णित इस युग की कल्पना हाब्स महोदय के उस युग की कल्पना के समान है जिसके आधार पर वह राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक नये सिद्धान्त का निर्माण करते हैं। महाभारतकार का यह सिद्धान्त इसी प्रकार के पूर्व वर्णित सिद्धान्त से भिन्न है। पूर्व वर्णित युग सुख, शान्ति एवं पारस्परिक सहयोग का है परन्तु यह युग अराजकता, अत्याचार, पाप और पीड़ा एवं स्वार्थ-परता का है; परन्तु यहाँ भी हम यह पाते हैं कि राजा की उत्पत्ति के पूर्व विधि संग्रह बन चुका था परन्तु पहले प्रकरण में विधि संग्रह की रचना भगवान् ब्रह्मा के द्वारा हुई थी इसलिये यह नियम पवित्र, सर्व-श्रेष्ठ और नित्य हैं परन्तु दूसरे प्रकरण में विधि (Law) का जन्म मनुष्यों की इच्छा से हुआ इन नियमों का जन्म मनुष्यों के एकत्र समूह की स्वीकृति से हुआ। इस प्रकरण में यह विधि संग्रह लौकिक

---

*—कन्यां शुक्ले चारुरूपां विवाहेषूद्यतासुच ॥
श्लो० २४ अ० ६७, शा० प०।

मुखेन शस्त्र पत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तंतेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिवदेवताः ॥
श्लो० २५ अ० ६७, शा० प०।

यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थंवै भविष्यति ॥
श्लो० २७ अ० ६७, शा० प०।

है वह दैवी कदापि नहीं है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार विधि का जन्म जनता की स्वीकृति पर निर्भर है।

इस सम्बन्ध में महत्व की दूसरी बात यह है कि राजा ब्रह्मा द्वारा केवल लक्षित किया गया था परन्तु उसे स्वीकार करना अथवा अस्वीकार करना जनता के अधिकार में था। मनु को राजा बनना कदापि रुचिकर न था क्योंकि वह इतने महान उत्तरदायित्व के वहन करने में हिचकिचाते थे। केवल प्रजा का अनुरोध था जिससे प्रेरित हो मनु ने राज-पद स्वीकार किया। इस प्रकार राज-पद बड़े उत्तरदायित्व का पद समझा जाता था। राजा इस पद को कतिपय निर्धारित प्रतिबन्धों एवं कर्त्तव्यों के साथ ग्रहण करता था। यदि अपने कर्त्तव्य पालन में राजा च्युत होता हुआ पाया जाता था तो वह महान पाप का भागी समझा जाता था। ऐसी स्थिति में उसे अपने पद ही नहीं वरन् जीवन से भी हाथ धोना पड़ता था।

कौटिल्य महोदय जो कि साम्राज्यवाद के प्रबल पोषक रहे हैं, राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार रखते हैं उनके कथनानुसार मत्स्यन्याय से व्याकुल हो मनुष्यों ने वैवस्वत के पुत्र मनु को राजा बनाया।* उन्होंने धान्य का छठा भाग व्यापार और स्वर्ण की आय का दसवाँ भाग राजा के लिये प्रदान करने का वचन दिया।† साथ में उन्होंने यह भी कहा कि उनकी आय का यह भाग उस राजा को न दिया जायगा जो कि उनकी रक्षा करने में असमर्थ होगा।× इस प्रकार कौटिल्य महोदय भी महाभारतकार के इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं और यह सिद्धान्त किसी अंश में योरोप के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता हाब्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से समानता रखता है।

---

*—मत्स्य न्यायाभिभूताः प्रजामनुं वैवस्तम् राजानं चक्रिरे।
वार्ता ६ अ० १३ अधि० १, अर्थशास्त्र।

†—धान्यषड्भागं पण्य दश भागं हिरण्यं चास्यभाग धेयं प्रकल्पयामासु।
वार्ता ७ अ० १३ अधि० १, अर्थशास्त्र।

×—तस्यैतद्भाग धेयंयोऽस्मान्गोपायतीति।
वार्ता ६ अ० १३ अधि० १, अर्थशास्त्र।

परन्तु राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महाभारतकार के इस सिद्धान्त और हाब्स महोदय द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में नितान्त समानता है ऐसा कहना बड़ी भूल होगी। वास्तव में बात यह है, जैसा कि डाक्टर घोशाल ने भी लिखा है कि यदि इन दोनों सिद्धान्तों में कोई समानता है तो वह समानता केवल उस प्रकृतियुग के वर्णन में है जिसमें मनुष्य हर प्रकार से दुखी, पीड़ित और पापग्रस्त था। अन्य बातों में दोनों सिद्धान्तों में आकाश पाताल का अन्तर है। महाभारतकार का यह सिद्धान्त हाब्स के विचारों से कहीं आगे बढ़ा हुआ है। हाब्स महोदय राजा में असीमित शासनाधिकार निहित करते हैं और उसी में राज-सत्ता स्थापित करते हैं जो किसी प्रकार से कभी भी वापस नहीं ली जा सकती परन्तु महाभारतकार राजा के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाता है और यह प्रतिबन्ध वैधानिक प्रतिबन्ध है। उसके मतानुसार राजा को राज-सत्ता इन प्रतिबन्धों के साथ प्रजा द्वारा केवल उस समय के लिये दी जाती है जब तक कि वह उसका उचित प्रयोग करता रहता है और यदि वह इसका अनुचित प्रयोग करता है तो वह राज-सत्ता बलात्कार छीन ली जायगी। इन प्रतिबन्धों का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू राजा एक ऐसा प्राणी बन गया है जिसकी उत्पति राज्य के नियमों के द्वारा होती है और इस प्रकार राज्य में उसका स्थान दूसरी श्रेणी में होता है अर्थात् उसे राज्य के नियमों की अधीनता में काम करना पड़ता है। यदि वह इन नियमों को तोड़ता है तो राज-पद से उतारा जा सकता है। उसे देशनिकाला मिल सकता है यहाँ तक कि वह मृत्यु के घाट उतारा जा सकता है। इस सम्बंध में राजा वेन ज्वलन्त प्रमाण हैं। इस प्रकार महाभारतकार प्रजा के लिये यह अधिकार प्रमाणित करता है कि वह अन्यायी राजा के विरोध में विप्लव खड़ा करे, परन्तु हाब्स के मत से प्रजा को यह अधिकार किसी प्रकार प्राप्त नहीं है। महाभारतकार इस बात का पोषक है कि प्रजा को नष्ट हुये जहाज़ की भाँति उस राजा को त्याग देना चाहिये जो कि अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता।* हाब्स का यह मत है कि विधि

---

*—षडेतान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम्॥

(Law) का बनाना उनको रद करना राजा का ही काम है और वह इन नियमों के अधिकार से बाहर है यह नियम उसपर लागू नहीं किये जा सकते। परन्तु महाभारतकार की दृष्टि में ऐसी बात नहीं है। महाभारत के हिन्दू राजा को राज्य में विधि बनाने अथवा उन्हें रद्द करने का तनिक भी अधिकार नहीं है, उसका तो केवल यह अधिकार है कि वह इन विधियों को वास्तविक रूप में अपने राज्य की प्रजा पर लागू करे। प्राचीन भारत में हिन्दू राजा को इस बात का कभी अधिकार नहीं दिया गया था कि वह राज्य-संचालन के नियम बनाये। उसके अधिकारों की परिधि इन नियमों की सीमा के बाहर कभी नहीं रही है। उसे राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक था और इन नियमों की सीमित परिधि में ही काम करना पड़ता था। हाब्स महोदय को इस बात का कभी स्वप्न भी न हुआ था कि राज्य की स्थापना समाज के कल्याण के लिए होती है और वह इस कल्याण की वृद्धि का कारण होता है। परन्तु महाभारत में वर्णित हिंदू राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह लोककल्याण की वृद्धि करे।*

इस प्रकार महाभारत में राज-पद राज्य में उच्च कोटि का पद माना जाता था। और इस पद का निर्माण राज्य की समस्त जनता की इच्छा पर निर्भर था। जनता की सेवा के लिये जो कि राजा के द्वारा की जाती थी जनता के द्वारा उसे वेतन दिया जाता था, जो पर्याप्त मात्रा में होता था और करों के रूप में होता था। जिससे उसके इस उच्चपद की प्रतिष्ठा स्थिर रह सके।

महाभारत के अन्तर्गत उपर्युक्त दृष्टान्तों को एकत्र करने और उन पर मनन करने के उपरान्त पाठक निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचता है।

१—प्रारम्भिक युग में मनुष्य ऐसे प्रकृतिराज्य में रहता था जो

अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्राम कामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥
श्लो० ४४-४५ अ० ५७, शा० प०।

*—उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च॥
श्लो० ७६ अ० ५९, शा० प०।

धार्मिक, सुख, शान्तिमय और पारस्परिक सहयोग का था। प्रत्येक व्यक्ति सुख एवं-सन्तोष का जीवन व्यतीत करता था।

२—मनुष्य में उन विकारों के जागृत होने से जो कि अभी तक सुषुप्ति अवस्था में पड़े हुये थे, लोगों में अशान्ति और अराजकता फैली। इन विकारों के जागृत हो जाने से मनुष्य पर मोह, लोभ, काम, राग आदि दोषों ने आक्रमण किया जिसका परिणाम यह हुआ कि दुःख, शोक, सन्ताप, अराजकता और अशान्ति आदि का आतंक चारों ओर छा गया। प्रत्येक व्यक्ति मत्स्य-न्याय को अपनाने लगा। इस सबका परिणाम यह हुआ कि मानव जीवन नारकीय और यातनामय बन गया जिसमें कोई भी व्यक्ति ऐसा न रहा जो कि अपने को सुरक्षित समझता। प्रत्येक व्यक्ति अपने को चारों ओर से दुःख और पाप से घिरा हुआ पाता था।

३—समाज की यह परिवर्तित स्थिति लोगों के लिये असह्य थी। इसलिये उन्होंने एक स्थान पर एकत्र होकर शिष्ट आचरण सम्बन्धी नियम बनाये। इस प्रकार जनता की सम्मति से विधि (Law) का जन्म हुआ।

४—इन नियमों को लागू करने के लिये उन्हें एक सर्वश्रेष्ठ अधिकारी की आवश्यकता हुई। क्योंकि कोई भी व्यक्ति इन नियमों का इच्छापूर्वक पालन करने के लिये प्रस्तुत न था। एक सर्वश्रेष्ठ अधिकारी के बिना पूर्वनिर्मित नियम व्यर्थ सिद्ध होते थे। इस प्रकार राजा के निर्माण की आवश्यकता हुई।

५—भगवान ब्रह्मा ने उनके सामने मनु को प्रस्तुत किया और मनु को उन्होंने अपना राजा स्वीकार किया। वास्तव में ब्रह्मा ने मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य को राजपद के लिये प्रस्तुत किया और यह जनता थी जिसकी स्वीकृति से वह राजा बनाया गया।

६—राज-पद बड़े उत्तरदायित्व का पद माना जाता था। क्योंकि मनु के समान श्रेष्ठ व्यक्ति भी राज पद प्राप्ति के हेतु अपनी स्वीकृति देने में हिचकते थे।

७—प्रारम्भ में राजा का मुख्य कर्त्तव्य विधि (Law) को लागू करना और विधि भङ्ग करनेवालों (Law breakers) को दण्ड देना था।

८—राजा को नियमों के अनुसार उसकी सेवा के लिये उसकी वेतन रूप में धन से सहायता करते थे। इस राजा का पुरोहित उसके मंत्री और अन्य अधिकारीगण ब्राह्मणों के द्वारा नियत किये गये थे।

९—राजपद पाने के पूर्व राजा को प्रजाभक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी।

१०—ब्राह्मण राज-दण्ड से मुक्त थे, क्योंकि राजा और उसके मंत्रिमण्डल की नियुक्ति में ब्राह्मणों का प्रमुख हाथ रहता था।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजा की दैवी उत्पत्ति का कथित सिद्धान्त और अनुबन्धवाद के दोनों सिद्धान्त (Social contract) जो रामायण और महाभारत दोनों में पाये जाते हैं, निश्चयपूर्वक प्रजातंत्रवाद के पोषक हैं। यह सिद्धान्त प्रजातंत्र एवं वैधानिक सरकार का कहीं भी विरोध नहीं करते। इसलिये इन सिद्धान्तों को प्रजातन्त्र वाद के तत्त्वों में सम्मिलित किया जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

राजा की नियुक्ति के सिद्धान्त

वीर वंश में जन्मः—महाभारतकार के मतानुसार पृथ्वीतल पर जो कुछ है वह सब ब्राह्मणों का है क्योंकि वह ब्रह्मा के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र हैं।* इसलिए राज्याधिकार उन्हीं को प्राप्त है। परन्तु वह धार्मिक कृत्यों और ज्ञानोपार्जन में इतने व्यस्त रहते हैं कि राजकार्य की ओर समुचित ध्यान नहीं दे सकते। इसलिए वह इस कार्यभार को अपने श्रेष्ठ और अपने से छोटे भाई को सौंप देते हैं। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण अथवा हिन्दू समाज में वह वर्ग जो वीरता के लिए प्रसिद्ध है, राज्य का वास्तविक शासक (ब्राह्मणों की देख रेख एवं उनकी संरक्षता में) बन जाता है। ब्राह्मण, पुरोहित और मंत्री के रूप में उनके समीप रहकर उन्हें नितान्त सचेत करते हुए उनके पथ-प्रदर्शक का कार्य करते रहते हैं।

इस प्रकार महाभारत के अनुसार राज-पद पाने के लिए सबसे प्रथम इस बात की आवश्यकता होती है कि वह व्यक्ति वीरघराने का हो और स्वयं भी वीर हो। रामायण में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि

---

*—विप्रस्य सर्वं मे यत् किंच, जगतीगतम्।
धनं, धान्यं, हिरण्यं स्त्रियो रत्नानि वाहनम्॥
श्लो० १२ अध्याय ६६, शा० प०। (पी०पी० शास्त्री द्वारा संकलित)
ज्येष्ठश्श्रेष्ठश्चवै द्विजः॥
श्लो० १४ अध्याय ६६, शा० प०। (वही)

की गई है। रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में जिन मुख्य राज्यों का उल्लेख है वह राज्य ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा शासित होते थे। यहाँ तक कि कुछ इने गिने ऐसे राज्यों में जिनमें क्षत्रिय वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्ण शासन करता था इसी सिद्धान्त का पालन किया गया था। इस युग के ब्राह्मण राजा भी अपने बल, पौरुष और विक्रम के लिए प्रसिद्ध थे। इस सम्बन्ध में रावण ज्वलन्त प्रमाण है।

वास्तव में बात तो यह थी कि वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा स्थिर रखने और प्रजा में सब प्रकार से सुख और शान्ति स्थापित करने का उत्तरदायित्व धारण कर कोई भी राजा उस युग में तब तक शासन कार्य में सफल नहीं हो सकता था जब तक कि उसमें शासन-सम्बन्धी योग्यता एवं कुशलता के साथ साथ बल, पौरुष और अदम्य साहस न होता। इसलिए रामायण और महाभारत काल में राजा बनने के लिए सबसे प्रथम आवश्यकता वीर घराने में जन्म अनिवार्य समझी गई थी।

जन्माधिकार:—राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरा मुख्य सिद्धान्त जन्माधिकार का था। सम्भवतः इस सिद्धान्त के अन्तस्तल में यह धारणा निहित हो कि उस समय की जनता वातावरण के प्रभाव से रक्त के प्रभाव को अधिक महत्वशाली समझती होगी अथवा ऐसे ही अन्य दूसरे कारण हो सकते हैं जिनको दृष्टिकोण में रखकर इस सिद्धान्त पर बल दिया गया होगा। इसलिए महाभारत और रामायण के अनुसार उच्च घराने में उच्चाचरण बनने की अधिक सम्भावना थी। यही कारण है कि यह दोनों ग्रंथ इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि राजा की नियुक्ति वंश परम्परा के सिद्धान्त के अनुसार होनी चाहिए।

रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में इस विषय में स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है कि उस युग में राजपद कुछ प्रतिबन्धों के साथ वंश-परम्परागत हो गया था। लगभग समस्त राजाओं ने जिनका उल्लेख इन ग्रंथों में पाया जाता है, राजपद का अधिकार इस नाते से प्राप्त किया था कि वह राजघराने में उत्पन्न हुए थे। जनक, दशरथ, वालि, युधिष्ठिर, दुर्योधन, आदि राजा इस बात के साक्षी हैं।

रामायण काल में इस सिद्धान्त का प्रचलन पूर्ण रूप से पाया जाता है। उस काल के साधारण से साधारण व्यक्ति भी इस सिद्धान्त की

पुष्टि करते हैं। कैकेयी अपनी दासी मंथरा से कहती है—हे मन्थरे! भरत भी रामचन्द्र के सौ वर्ष राज्य के उपरान्त अवश्य ही पिता पितामह द्वारा आया हुआ राज्य पायेगा। मन्थरे! यह तो अभ्युदय का समय है तू जल क्यों रही है? भावी कल्याण में तू बाधक क्यों बन रही है?* इस बात को सुनकर मन्थरा शासनाधिकार के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कैकेयी को सचेत करती हुई कहती है—जब रामचन्द्र राजा होंगे, तो उनके पश्चात् उनका पुत्र राजा होगा। राज्याधिकार से भरत सदा के लिए च्युत हो जायगा।†

राम-वन-गमन और दशरथ की मृत्यु के पश्चात् अयोध्या की गद्दी रिक्त हो जाती है राजकर्ता अयोध्या का राजपद भरत को प्रदान करते हुए कहते हैं—भरत! पिता पितामहों का यह राज्य ग्रहण करो। अपना अभिषेक कराओ और हम लोगों का पालन करो।‡

वानर-राज वालि ने भी किष्किन्धा राज्य का राजपद इसी सिद्धान्त के आधार पर पाया था क्योंकि वह किष्किन्धा के राजघराने में उत्पन्न हुआ था। इस सम्बंध में सुग्रीव राम से निवेदन करते हुए कहते हैं— मन्त्रियों ने वालि को वानर राज्य पर उसका अभिषेक किया। और वालि पिता पितामह से आये हुए उस राज्य का शासन करने लगा। मैं उसके अनुगत भृत्य के समान रहने लगा।× हनुमान भी इस प्रथा के प्रचलन का समर्थन करते हुए कहते हैं—

---

*—भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्ष शतात्परम्।
पितृ पैतामहम् राज्य मवाप्स्यति नरर्षभः॥
श्लो० १६ सर्ग ८, अयो० का०।

†—भविता राघवो राजा राघवस्य यः सुतः।
राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते॥
श्लो० २२ सर्ग ८, अयो० का०।

‡— राज्यं गृहाण भरत पितृ पैतामहम् ध्रुवं।
श्लो० ५ सर्ग ७६, अयो० का०।

×—राज्यं प्रशासतस्तस्य पितृ पैतामहमं महत्।
श्लो० ३ सर्ग ६, किष्० का०।

रामचन्द्र ! तीखे दाँतों वाले बलशाली महात्मा वानरों का पिता पितामहों से चला आया यह विशाल राज्य आपकी कृपा से प्राप्त हुआ ।*

महाभारत में भी ऐसे प्रमाणों का अभाव नहीं है जो कि इस सिद्धान्त के प्रचलन के पोषक हैं । महाभारत में कुरुवंश के राजाओं की एक ऐसी शृंखला का उल्लेख है जिसमें वंशपरम्परागत पिता के पश्चात् पुत्र राजपद पाता रहा है और यही बात महाभारत के अंतर्गत अन्य राज-वंशों पर भी लागू होती है। धृतराष्ट्र अपने पुत्र दुर्योधन को उचित प्रकार से सचेत करते हुए हताश हो कहते हैं—दुर्योधन ! तू राजा नहीं हो सकता क्योंकि तू राजा का पुत्र नहीं है । युधिष्ठिर पाण्डु का पुत्र है और पाण्डु कुरुओं का राजा था अतः राज-पद का वही अधिकारी है ।†

रामायण और महाभारत ग्रंथों में प्राप्त उपरोक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उस काल में राज-पद पाने के लिए महान आवश्यकीय प्रतिबंधों में से एक प्रतिबंध यह भा था कि भावी राजा राजघराने का हो। इसी सिद्धान्त के अनुसार राजपद-प्राप्ति के अधिकार का निर्णय होता था ।

ज्येष्ठता का अधिकार—रामायण और महाभारत काल में राज पद पाने के लिए जो विशेष नियम लागू थे उनमें से ज्येष्ठता के अधिकार का नियम भी एक प्रधान नियम था। यह दोनों ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं कि राजपद पाने के समय इस विषय का विशेषरूप से पालन होता था ।

अपनी पुत्री सीता के विवाह संस्कार के अवसर पर मिथिला के राजा जनक इस सिद्धान्त के प्रचलन को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते

---

*—भवत्प्रसादात्काकुत्स्थ पितृपैतामहं महत् ।
वानराणां सुदंष्ट्राणां सम्पन्न बलशालिनाम् ॥
श्लो० ४ सर्ग २६, किष्० का० ।

†—मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि ।
अराजपुत्रो ह्य स्वामि परस्वं हर्तुमिच्छसि ॥
श्लो० ३१ अध्याय १४६, उद्योग प० ।
विनाशेतस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिन्दं ।
श्लो० ३० अध्याय १४६, उद्योग प० ।

हुए कहते हैं—पिता ने मुझ ज्येष्ठ को राज्य दिया और (छोटे भाई) कुशध्वज का भार मुझे सौंपकर वह वन में चले गये ।*

अयोध्या राज्य में भी यही प्रथा प्रचलित थी। राम अपने समस्त भाइयों में से युवराज-पद के लिये इसी सिद्धान्त पर कि वह भाइयों में सबसे बड़े थे, वरण किये गये थे। अयोध्या राज्य का कलंक और समस्त आपत्तियों का मूल कारण कैकेयी भी शासनाधिकार के इस नियम को मान्यता देना उचित समझती थी। उसने अपनी दासी मंथरा से यह कहा था कि वह (राम) राजा के ज्येष्ठ पुत्र हैं, इसलिए युवराज होने के सर्वथा अधिकारी हैं।† मंथरा ने भी कैकेयी को सचेत करते हुए कहा है कि उसे यह बात सचेष्ट होकर स्मरण रखनी चाहिए कि राजा के सभी पुत्रों को राज्याधिकार प्राप्त नहीं होता। यदि इस नियम का उल्लंघन कर सभी को राज्याधिकार दिया जाय तो महान अन्याय होगा।‡ इस कारण हे सुन्दरि कैकेयि! राजा लोग ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य देते हैं।× प्रिये! तुम्हारा यह पुत्र राम के अभिषेक हो जाने के उपरान्त राज-वंश तथा सुख से भी हटा दिया जायगा और वह अनाथ हो जायगा।÷

राम के वनगवन के अवसर पर लक्ष्मण अपने बड़े भाई राम को

---

*—मातु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य पितामहम्।
कुशध्वजम् समावेश्य भारं मपि वनं गतः ॥
श्लो० १४ सर्ग ७१, बाल का०।

†—रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥
श्लो० १४ सर्ग ८, अयो० का०।

‡—नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषुसुमहाननयो भवेत ॥
श्लो० २३ सर्ग ८, अयो० का०।

× तस्माज्ज्येष्ठेहि कैकेयि राज्य तन्त्राणि पार्थिवाः ॥
श्लो० २४ सर्ग ८, आयो० का०।

÷—असावत्यन्त निर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति।
अनाथवत्सु खेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥
श्लो० २५ सर्ग ८, अयो० का०।

राज्याधिकार के इस नियम की स्मृति दिलाते हुए कहते हैं—धर्म और लोक व्यवहार के अनुसार आप का ही अभिषेक होना चाहिए ।* भरत भी राज्याधिकार के इस नियम से भली प्रकार परिचित थे। वह कहते हैं—इस कुल (इक्ष्वाकु वंश) में जो सबसे बड़ा भाई होता है उसी का राज्याभिषेक होता है। दूसरे भाई उसके अधीन रहकर कार्य करते हैं।† वह अपनी माता कैकेयी को समझाते हुए फिर कहते हैं—राजपुत्रों में ज्येष्ठ भ्राता ही राजा बनाया जाता है इस बात को सभी राजा मानते हैं। इक्ष्वाकु वंशी राजा तो इस सिद्धान्त का विशेष रूप से पालन करते हैं।‡

राजा दशरथ की अन्तिम क्रिया हो जाने के उपरान्त अयोध्या राज्य के राजकर्त्ता एकत्र होकर भरत को अयोध्या का राजा बनाने का प्रस्ताव रखकर कहते हैं—इस राज्य का कोई राजा नहीं है और राजा का ज्येष्ठ पुत्र निर्वासित है। ऐसी स्थिति में पिता की आज्ञानुसार भरत राजा बनाये जायँ तो उनके राजा बनने में उन पर किसी प्रकार का दोष न आ सकेगा।× राजकर्त्ताओं का यह कथन सिद्ध करता है कि ज्येष्ठ भाई की उपस्थिति में उसके समर्थ होने पर भी यदि छोटा भाई अपने पिता का राजपद ग्रहण कर लेता है तो वह पाप का भागी होगा। इस प्रकार यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि रामायण काल में राज्याधिकार का यह नियम कि राजा के ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य

---

*—लोक विद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्या भिषेचनम् ॥
श्लो० १० सर्ग २३, अयो० का० ।

†—अस्मिन्कुलेहि सर्वेषाम् ज्येष्ठो राज्यऽभिषिच्यते ।
अपरे भ्रातरस्तस्मिन्प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥
श्लो० २० सर्ग ७३, अयो० का० ।

‡—सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजा भिषिच्यते ।
राज्ञा मेतत्समम् तत्स्यादिक्ष्वाकूणाम् विशेषतः ॥
श्लो० २२ सर्ग ७३, अयो० का० ।

×—त्वमद्यभवनोराजा राजपुत्र महायशः ।
संगत्यानापराध्नोति राज्यमेतदनार्यकम् ॥
श्लो० ३ सर्ग ७९, अयो० का० ।

मिलना चाहिए स्थिर हो चुका था और इस नियम का उल्लंघन विशेष परिस्थितियों में ही किया जा सकता था।

राजकर्त्ताओं के द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव के उत्तर में भरत राज्याधिकार के इसी सिद्धान्त को दोहराते हुए कहते हैं—ज्येष्ठ ही राज्याधिकारी होता है, यही हमारे कुल की रीति है। अतएव आप चतुर लोग मेरे लिए ऐसा प्रस्ताव रक्खें।* रामचन्द्र हमारे बड़े भाई हैं, वह राजा होंगे और मैं चौदह वर्ष तक वनवास करूँगा।† ऐसा कहने के उपरान्त भरत राम को अयोध्या फेरने और उन्हें उनके राज्य को सौंपने के लिए वन को प्रस्थान करते हैं। परन्तु राम तो दृढ़ संकल्प थे। वह अपने पिता की आज्ञा पालन करने में लेशमात्र भी च्युत होना धर्म-विरुद्ध समझते थे। इसलिए वह भरत को समझाते हुए कहते हैं कि तुम कम से कम मेरी अनुपस्थिति में चौदह वर्ष के लिए अयोध्या के राजा बन जाओ। ऐसा करने से पिता दशरथ की आत्मा को शान्ति मिलेगी कि वह अपने वचन का पूरा निर्वाह कर सके। परन्तु भरत पुनः राम का ध्यान राज्याधिकार के इस नियम की ओर दिलाते हुए कहते हैं कि ज्येष्ठ के होते हुए छोटा भाई धर्मतः राजपद नहीं पा सकता यह हमारे कुल का परम्परागत नियम है।‡

इतना ही नहीं कि रामायण काल में इस सिद्धान्त का पालन आर्यवर्त देश के आर्य राज्यों में होता था। सुदूर दक्षिण के अनार्य राज्यों में भी राज्याधिकार का यह सिद्धान्त समान रूप से प्रचलित था। यहाँ तक कि किष्किन्धा के वानर राज्य में भी इसी सिद्धान्त का पालन होता था।

*—ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिताहि कुलस्य नः।
नैवंभवंतोमांवक्तुमर्हन्ति कुशलाजनाः॥
श्लो० ७ सर्ग ७९, अयो० का०।

†—रामः पूर्वोहि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहंत्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नवपंच च॥
श्लो० ८ सर्ग ७९, अयो० का०।

‡—शाश्वतोऽयम् सदा धर्मः स्थितो अस्मासु नरर्षभ।
ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान्भवेन्नृपः॥
श्लो० २ सर्ग १०२, अयो० का०।

किष्किन्धा राज्य का राजा सुग्रीव वालि के राज्य ग्रहण करने के सम्बन्ध में निवेदन करता हुआ कहता है—उसके मंत्रियों ने यह समझ कर कि वह ज्येष्ठ है वालि को उसके पिता के स्थान में राजा बनाया।* लंका का प्रसिद्ध राजा रावण भी अपने सहोदर भाइयों में ज्येष्ठ था।†

इसलिए यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि रामायण-काल में राजपद प्राप्ति के लिए ज्येष्ठ होने के अधिकार का सिद्धान्त जनता में प्रचलित था और राजा की नियुक्ति के समय लोग इस नियम का पालन करते थे।

राज्याधिकार के इस सिद्धान्त पर महाभारत भी मौन नहीं है। उसमें इस सम्बंध के पर्याप्त संख्या में प्रमाण मिलते हैं। महाभारत में जिन राजाओं का उल्लेख है उनमें से एक दो को छोड़ कर लगभग समस्त ऐसे राजा थे जो अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राजा बनाये गये थे।

महाभारत-काल के प्रसिद्ध राजा युधिष्ठिर इसी सिद्धान्त के अनुसार हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आरूढ़ थे। वह अपने भाइयों में ज्येष्ठ थे। यद्यपि मातृ-पक्ष से कर्ण ज्येष्ठ था परन्तु यह रहस्य कर्ण की मृत्यु के अवसर पर युधिष्ठिर को ज्ञात हुआ था। यदि युधिष्ठिर को इस रहस्य का भेद पहले ज्ञात होता तो युधिष्ठिर जैसा धर्मात्मा राजा अपने ज्येष्ठ भाई के होते हुए राज-पद कदापि ग्रहण न करता। इस बात की सत्यता कर्ण को विदित थी। इसीलिए उसने कृष्ण को सचेत करते हुए यह कहा था—मैं मातृ-पक्ष से युधिष्ठिर का बड़ा भाई हूँ इस रहस्य को आप बड़ी सावधानी से गुप्त रक्खें। यदि यह रहस्य किसी प्रकार भी संयत-इंद्रिय धर्मात्मा युधिष्ठिर के कानों तक पहुँच गया कि मै कुन्ती का ज्येष्ठपुत्र हूँ तो वह किसी प्रकार से भी राज्य ग्रहण न

---

*—पितर्युपरते तस्मिंज्येष्ठोऽयमिति मंत्रिभिः।
कपीनामीश्वरो राज्येकृतः परम सम्मतः॥
श्लो० २ सर्ग ६, किष्कि० का०।

†—रावणान्तरो भ्राता ममश्च ज्येष्ठ वीर्यवान।
कुम्भकर्णो महा तेजाः शक्रप्रति बलो युद्धि॥
श्लो० १० सर्ग १६, युद्ध का०।

करेगा*। यदि इस प्रकार से मैं राज्य पा भी लूँगा तो मैं राजा न रहूँगा क्योंकि राज्य पाकर मैं समस्त राज्य दुर्योधन को सौंप दूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा मैं पूर्व ही कर चुका हूँ।†

राज्याधिकार के इस सिद्धान्त के समर्थन में एक और प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है जो इस सिद्धान्त की पुष्टि का अनूठा प्रमाण माना जा सकता है। नहुष-पुत्र ययाति को जरावस्था प्राप्त होने पर उसने राज्य-भार अपने पुत्र को सौंप देने का संकल्प किया। ययाति अपने ज्येष्ठ पुत्र की अपेक्षा छोटे पुत्र में विशेष प्रेम रखता था। इसलिए उसने ज्येष्ठ पुत्र के होते हुए भी अपने छोटे पुत्र पुरु को राजा बनानें का प्रस्ताव किया, प्रजा ने इसे स्वीकार नहीं किया। चारों वर्णों के लोग एकत्र हुए और उन्होंने अपने राजा के इस निर्णय के प्रति यह कहते हुए अपना विरोध प्रकट किया—हे राजन्! बड़े पुत्रों को छोड़ कर आपका छोटा पुत्र राज्य कैसे प्राप्त कर सकता है ?× और वह तब तक शान्त न हुए जब तक कि राजा ने समुचित हेतुओं द्वारा उन्हें सन्तुष्ट न कर दिया कि उसने जो प्रस्ताव किया है वह धर्म-युक्त है। इतना होने के उपरान्त प्रजा शान्त हुई और उसने पुरु को राज-पद प्राप्ति के लिए अपनी सम्मति दे दी।

---

*—मंत्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन।
एत दत्र हितम् मन्ये सर्वे यादवनंदन॥
श्लो० २० अध्या० १४१, उद्योग प०।

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं गृहीष्यति॥
श्लो० २१ अध्या० १४१, उद्योग प०।

†—प्राप्यचाऽपिमहद्राज्यं तदहं मधुसूदन।
स्फीतं दुर्योधनायैव सम्प्रदद्यामरिन्दं॥
श्लो० २२ अध्याय १४१. उद्योग प०।

×—कथं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि॥
श्लो० २० अध्या० ८५, आदि प०।

कथं ज्येष्ठा नतिक्रम्यकनीयान्राज्य मर्हति।
एवं सम्बोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय॥
श्लो० २२ अध्या० ८५, आदि प०।

रामायण और महाभारत में वर्णित उपरोक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि उस युग में राज-पद-प्राप्ति के समय इस सिद्धान्त की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि जो व्यक्ति राजा बनाया जा रहा है वह राजकुमारों में ज्येष्ठ है।

शारीरिक क्षमता का अधिकारः—महाभारत में इस बात का भी उल्लेख है कि उस युग में राज-पद प्राप्ति के लिए भावी राजा को शारीरिक क्षमता का प्रमाण देना अनिवार्य था। किसी व्यक्ति में राज-पद प्राप्ति सम्बंधी समस्त आवश्यक योग्यतायें होने पर भी वह राजा नहीं बनाया जा सकता था यदि उसमें शरीर सम्बन्धी कोई दोष पाया जाता।

यह सबको विदित है कि धृतराष्ट्र में राज-पद प्राप्ति की लगभग सारी योग्यतायें थीं। वह वीर था, राजघराने में उत्पन्न हुआ था, अपने भाइयों में ज्येष्ठ था, प्रजा का उसमें प्रेम भी था परन्तु वह राजा नहीं बनाया गया। इसका एकमात्र कारण यह था कि उसमें शरीर दोष था। वह अंधा होने के कारण राजा न हो सका। जन्म की दृष्टि से कौरव राज्य में पाण्डु का स्थान दूसरा था। प्रथम स्थान धृतराष्ट्र का था। परन्तु पाण्डु के राज्याधिकार का समर्थन किया गया और वह राजा बनाया गया। पाण्डु की मृत्यु के उपरान्त भी धृतराष्ट्र राजा नहीं बनाया जा सका। प्रजा ने स्पष्ट कह दिया कि अंधा होने के कारण धृतराष्ट्र राज्याधिकार से पहले ही वहिष्कृत कर दिए जा चुके थे अतः वह अब हमारे राजा कैसे हो सकते हैं ?* हस्तिनापुर के राज-पद पाने का संघर्ष धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर में न था परन्तु यह संघर्ष युधिष्ठिर और दुर्योधन में था। क्योंकि धृतराष्ट्र भली भाँति जानता था कि वह राजा बनने के अयोग्य था। वह अपने शरीर दोष के कारण राज्याधिकार से वहिष्कृत कर दिया गया था।

महाभारतकार शान्तनु-पत्नी सत्यवती के मुख से इसी सिद्धान्त की पुष्टि कराता है। सत्यवती व्यास के द्वारा यह जानकर कि कौसल्या नामक उनकी बहू से अंधा पुत्र उत्पन्न होगा वह अत्यन्त चिन्तित हुई और

---

*—प्रज्ञाचक्षुर्चक्षुष्ट्वाद्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्वंसकथं नृपतिर्भवेत् ॥
श्लो २५ अध्याय १४३, आदि प०।

कहने लगी कि अंधा कुरुओं का राजा बनने योग्य न होगा।* इसी सम्बन्ध में धृतराष्ट्र स्वयं साक्षी होकर दुर्योधन से कहते हैं—मेरे अंधे होने के कारण पाण्डु राजा बनाये गए।†

राज-पद के लिए शारीरिक योग्यता की आवश्यकता थी, इस सम्बन्ध में धृतराष्ट दूसरा उदाहरण देते हुए कहते हैं—मेरे परदादा महाराज प्रतीप थे। वह धर्मात्मा होने और अपनी सज्जनता के लिए जगत्प्रसिद्ध थे। उनके धार्मिक, सत्यवादी और पितृ आज्ञापालक तीन देवतुल्य पुत्र थे। उनमें ज्येष्ठ देवापि था। जो राजाओं में श्रेष्ठ और महातेजस्वी था, परन्तु वह त्वचा रोग से ग्रस्त था।‡ देवापि को पुर और राष्ट्र के लोग बहुत मानते थे। सजज्नों में उनका बड़ा मान था। वह सारे बाल वृद्ध जनों के परमप्रिय थे, बड़े उदार, सत्यप्रतिज्ञ एवं सब प्राणियों के हित में निरत थे। पिता और ब्राह्मणों के आज्ञाकारी थे। ऐसे योग्य देवापि के राज्याभिषेक के निमित्त शास्त्रानुसार सामग्री इकट्ठी की गई परन्तु देवापि के इस मंगल कार्य में पुर और राष्ट्र के लोगों ने मिलकर ब्राह्मणों और वृद्धों के सहित इसलिए विघ्न डाल दिया कि वह चर्मरोग से ग्रस्त था।× जब राजा प्रतीप को यह

---

*—नाऽन्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन ॥
श्लो० ११ अध्याय १०६, आदि प०।

†—ज्येष्ठः प्रभशितो राज्याद्धीनांग इति भारत ॥
श्लो० २६ अध्याय १४६, उद्योग प०।

‡—देवापिस्तुमहातेजास्त्वग्दोषी राज सत्तमः।
धार्मिकः सत्यवादी च पितुः सुश्रूष्णोरतः ॥
श्लो० १७ अध्याय १४६, उद्योग प०।

पौरजानपदानां च सम्मतः साधु सत्कृतः।
सर्वेषां बालवृध्दानां देवापिर्हृदयंगमः ॥
श्लो० १८ अध्याय १४६, उद्योग प०।

×—ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजान पदैः सः।
सर्वे निवार्यामासु देवापेरभिषेचनं ॥
श्लो० २२ अध्याय १४६, उद्योग प०।

समाचार मिला कि मेरे पुत्र के अभिषेक में प्रजा ने विघ्न डाल दिया है, वह रोने लगा* और पुत्र के विषय में बड़ा चितातुर हुआ।

इस प्रकार देवापि धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और प्रजा का प्रिय होने पर भी त्वचा-रोग के कारण राज-पद पाने के अयोग्य समझा गया। जो मनुष्य अंग-हीन होता है, उससे देवता प्रसन्न नहीं होते। यही कारण था कि श्रेष्ठ देवापि का अभिषेक ब्राह्मणों ने रोक दिया था।†

महाभारत में एक ऐसे राजा का भी उदाहरण मिलता है जो अंधा था। शाल्व देश का राजा द्युमत्सेन अंधा होने पर भी राजपद पर आसीन रहा।‡ परन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि जिस समय द्युमत्सेन का राज्याभिषेक हुआ था उस समय वह अन्धा न था। राज्याभिषेक के बहुत दिनों बाद वह अन्धा हो गया था। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी है कि जैसे ही द्युमत्सेन अंधा हुआ वैसे ही एक पड़ोसी राजा ने उसे गद्दी से उतार दिया था और उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया था। परन्तु इसके अंतिम दिनों में जब कि सावित्री नाम की उसकी बहू के चरित्र-बल से उसे फिर चक्षु प्राप्त हो गए थे और ऐसे समय में उसकी प्रजा उससे राजा बनने के लिए अनुरोध करती हुई कहती है—चाहे आप चक्षु-सहित हों या चक्षु-हीन

---

*—तच्छ्रुत्वातु नृपतिरभिषेक निवारणं।
अश्रुकण्ठोऽभवद्राजा पर्यशोचत्तचाऽऽत्मजं॥
श्लो० २३ अध्याय १४९, उद्योग प०।

†—एवं वदान्यौ धर्मज्ञः सत्यसंधश्चसोऽभवत्।
प्रियः प्रजानामपि संस्त्वग्दोषेण प्रदूषितः॥
श्लो० २४ अध्याय १४९, उद्योग प०।

हीनाङ्ग पृथ्वी पार्लनाऽभिनन्दन्ति देवताः।
इति कृत्वा नृपश्रेष्ठं प्रत्यषेधन्द्विजर्षभाः॥
श्लो० २५ अध्याय १४९, उद्योग प०।

‡—आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथ्वीपतिः।
द्युमत्सेन इतिख्यातः पश्चात्चान्धेबभूव॥
श्लो० ७ अध्याय २९३, वनपर्व।

आप हमारे राजा पुनः बनें।* महाभारतकार का यह कहना केवल इस बात की ओर सम्बोधित करता है कि द्युमत्सेन की प्रजा का उसमें विशेष प्रेम था और यदि यह मान भी लिया जाय कि द्युमत्सेन के अंधे होने पर भी प्रजा उन्हें राजा बनाना चाहती थी तो यह एक विशेष घटना ही समझी जायगी। सर्वमान्य सिद्धान्त यही था कि अंग-विहीन कोई भी व्यक्ति सर्वथा योग्य होने पर भी राजा नहीं बनाया जा सकता था।

नारी का राज-पद का अधिकारः—नियमानुसार राज्याधिकार राजा के पुत्रों को ही प्राप्त था। महाभारत एवं रामायण में कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला है, जिसमें नारी शासन करती हुई पाई गई हो। व्यास मुनि ने महाभारत के अंतर्गत एक स्थल पर यह अवश्य लिखा है कि यदि राजा के पुत्र न हो तो राज-पद पर कन्या का अभिषेक करे।† वसिष्ठ ने भी रामायण में किसी अंश तक इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। राम वन-गमन के अवसर पर राजा दशरथ और उनकी प्रजा के व्यथित हृदय को सान्त्वना देते हुए वसिष्ठ ने इस प्रकार कहा है सीता देवी वन न जायँगी और यहीं रामचन्द्र के आने तक उनके स्थान पर राज्य करेंगी। गृहस्थों की स्त्रियाँ आत्मा हैं। सीता भी रामचन्द्र की आत्मा है। वह पृथ्वी-पालन करेगी।‡

परन्तु यह संकेत गृहस्थों की गृहिणियों के लिए उनके पति के राज्य सम्बंधी अधिकार की ओर है। यह पिता के राज्य-ग्रहण के सम्बंध में

---

*—एक मत्यंच सर्वस्य जनस्याथ नृपंप्रति।
स चक्षुर्वास्य्य चक्षुर्वासनो राजा भवत्विति॥
श्लो० ५ अध्याय २९८, वनपर्व।

†—कुमारो नास्ति एषां कन्यास्तत्राभिषेचय॥
श्लो० ४५ अध्याय ३३, शा० प०।

‡—न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शील वर्जिते।
अनुष्ठास्यति रामस्यसीता प्रकृतमासनम्॥
श्लोक २३ सर्ग ३७, अयो० का०।
आत्माहि दाराः सर्वेषां दार संग्रह वर्तिनाम्।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्॥
श्लो० २४ सर्ग ३७, अयो० का०।

नहीं है। हिन्दू शास्त्र के अनुसार पत्नी पति का वामांग है। इस नाते से पति के राज्य पर पत्नी का अधिकार स्वाभाविक है।

परन्तु रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में हमें कहीं एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला है जहाँ कोई नारी राज्य करती हुई पाई गई हो। इसके अतिरिक्त इस युग में नियोग प्रथा का प्रचार था, जिसके अनुसार निस्संतान राजा अपने राजवंश को स्थिर रखने के लिए अपनी स्त्री में दूसरे से पुत्रोत्पत्ति करा सकता था। रानी के वंध्या होने पर राजा को दूसरी रानी रखने का अधिकार था। इस दृष्टि से कन्या को राजपद-प्राप्ति के बहुत कम अवसर थे। यही कारण है कि उस युग में कहीं भी ऐसे राज्य का उल्लेख नहीं मिलता है जहाँ का शासन-भार नारी के द्वारा वहन किया गया हो।

आदर्श आचरण का अधिकारः—राजपद-प्राप्ति के लिए जो अन्य आवश्यक गुण अनिवार्य था, वह था एक निर्धारित मात्रा में आचरण की क्षमता, जिसके बिना कोई भी व्यक्ति नियमानुसार राज-पद नहीं प्राप्त कर सकता था और यदि वह किसी प्रकार राज-पद प्राप्त भी कर लेता तो उसे प्रजा के विरोध के कारण अपना पद शीघ्र ही त्याग देना पड़ता था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में इस सिद्धान्त की पुष्टि के ज्वलंत प्रमाण प्राप्त हैं।

डाक्टर बेनीप्रसाद के कथनानुसार रामायण और महाभारत कालीन राजा को समस्त गुण, वैभव और वीरता से सम्पन्न होना चाहिए।*

अयोध्या कांड रामायण में राजा दशरथ इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—लोकपालन का भार बड़ा ही गुरुतर है, जो जितेन्द्रिय नहीं हैं उनसे उसका पालन नहीं हो सकता। इसके पालन के लिए अदम्य साहस आदि राजोचित गुण चाहिए।† किष्किन्धा का राजा राम को सचेत करता हुआ राजा के आचरण की ओर संकेत करता हुआ कहता है। दम, शम, क्षमा, धर्म, धृति, सत्व और पराक्रम यह राजाओं के गुण हैं। अपकारियों को दण्ड देना भी राज

***—स्टेट इन एंशियन्ट इंडिया, डा० बेनीप्रसाद जी द्वारा विरचित।**

†—राज प्रभाव जुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः ॥

श्लो० ६ सर्ग २ अयोध्या का०।

गुण हैं।* नारद के मत से जिसका कि उल्लेख उन्होंने वाल्मीकीय रामायण में किया है, राजा को समुद्र के समान गंभीर, हिमवान पर्वत के समान धीर, विष्णु के समान पराक्रमी, चन्द्र के समान देखने में सुन्दर, प्रलयाग्नि के समान क्रोध में प्रबल, पृथ्वी के समान क्षमाशील तथा सत्य में धर्म के समान अटल होना चाहिए।† सुग्रीव को समझाते हुए राम राजा के गुणों का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—धर्म, अर्थ और काम का समय पर जो अनुष्ठान करता है, हे वानरश्रेष्ठ, इनके लिए जो समय का विभाग करता है, वही राजा है। धर्म तथा अर्थ का त्याग कर जो केवल काम की सेवा करता है वह वृक्ष की शाखा पर सोये हुए के समान गिरने पर ही समझता है। जो शत्रुओं का वध करता है, मित्रों का संग्रह करता है वही त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का फल भोगता है।‡ लक्ष्मण के मतानुसार बलवान् और कुलीन, दयालु और जितेन्द्रिय, कृतज्ञ और सत्यवादी राजा लोक में यश पाता है।×

---

*—दमः शमः क्षमा धृतिः सत्वं पराक्रमः।
पार्थिवानां गुणा राजन्दण्डश्चाप्यकारिषु॥
श्लोक १६ सर्ग १७, किष्किन्धा का०।

†—विष्णुना सदृशो वीर्ये सोम वत्प्रियदर्शनः।
कालाग्नि सदृशः क्रोधे क्षमया पृथ्वी समः॥
श्लो० १८, सर्ग १ बाल कां०।

धनदेन समस्त्याग सत्ये धर्म इवापरः॥
श्लो० १६ सर्ग १, बाल कां०।

‡—धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते।
श्लो० २० सर्ग ३८, किष्किंधा कां०।

विभज्य सततं वीर स राजा हरि सत्तम।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते।
श्लो० २१ सर्ग ३८, किष्किंधा कां०।

×—सर्वाभिजनसंपन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीपते॥
श्लो० ७ सर्ग ३४, किष्किंधा कां०।

महाभारत में राजा के आचरण की तुलना गर्भिणी स्त्री के आचरण से की गई है ।* जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने गर्भ के शिशु की देख रेख एवं वृद्धि और कल्याण के हेतु सदैव सचेष्ट रहती है । वह इस प्रकार के आचरण से दूर रहने का प्रयत्न करती है जिससे उसके गर्भस्थ शिशु को लेशमात्र भी बाधा पहुँचने की आशंका हो; इसी प्रकार राजा का ऐसा आचरण होना चाहिए जिससे उसकी प्रजा का लेशमात्र भी अकल्याण न होने पाए । उसे हर क्षण इस बात की चिन्ता रहनी चाहिए कि उसकी प्रजा के सुख तथा शान्ति का सम्पादन किस प्रकार हो सकेगा । राजा का प्रत्येक कार्य प्रजा की प्रसन्नता (प्रजारञ्जन) एवं उसके कल्याण के लिए होना चाहिए।

महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं—राजा को चतुर माली की भाँति होना चाहिए ।† जिस प्रकार माली वृक्षों की रक्षा कर चिरकाल तक उनका उपभोग करता है उसी प्रकार, हे राजन्, तुम भी बहुत काल तक राज्य भोगने में समर्थ हो सकोगे । बृहस्पति के मतानुसार जो राजा क्षमा ही करता रहता है, नीच मनुष्य उसकी अवज्ञा करने लगते हैं । क्षमाशील हाथी के सर पर महावत चढ़ बैठता है । इन सब बातों को सोच कर राजा को न तो मृदु और न तीक्ष्ण ही होना चाहिए। राजा को बसन्त ऋतु के सूर्य के समान होना चाहिए । जो न तो अधिक ठंडा ही होता है और न अधिक उष्ण ही ।‡ भीष्म के मतानुसार जिस राजा के राज्य में पिता के घर

---

*—यथाहि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्य संशयम् ॥
श्लो० ४५ सर्ग ५६, शान्ति पर्व ।

†—मालाकारोपमो राजन्भव ॥
श्लोक २० अ० ७१, शा० प० ।

‡—तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णोनैव भवेन्नृपः ।
वासन्तार्क इव श्रीमान्नशीतो न च घर्मदः ॥
श्लोक ४०अ० ५६, शा० प० ।

में पुत्र की भाँति प्रजा निर्भय विचरती है उस राजा को सर्वश्रेष्ठ राजा जानना चाहिए ।*

वह व्यक्ति जिसमें राजपद प्राप्ति के समस्त गुण विद्यमान रहते परन्तु यदि उसमें आदर्श आचरण का अभाव होता तो वह राज पद प्राप्ति के सर्वथा अयोग्य समझा जाता था। इस सम्बंध में महाभारतकार ने राजा ययाति के पुत्र यदु का उदाहरण दिया है। राजा ययाति का पुत्र यदु अपने पिता के राज्य-प्राप्ति के अधिकार से केवल इसलिए वंचित किया गया था कि उसमें वांछनीय आचरण का अभाव था। यदु अपनी विजयों के कारण उन्मत्त हो गया था वह महा पराक्रमी, बल के आवेश में आकर मोहित हो गया और पिता की आज्ञाओं का उल्लंघन भी करने लगा था।† वह मदोन्मत्त अपने पिता तथा भाइयों के अपमान करने में प्रवृत्त हो गया था। इस कारण नहुष का पुत्र ययाति अपने पुत्र पर बड़ा अप्रसन्न हुआ। हे दुर्योधन उसने अपने पुत्र यदु को श्राप दिया और उसको अपने राज्याधिकार से भी वंचित कर दिया और उसके जिन मदमाते भाइयों ने यदु का साथ दिया, राजा ययाति ने क्रुद्ध होकर उन पुत्रों को भी शाप दे डाला और वह भी राज्याधिकार से सर्वदा के लिए वंचित कर दिए गए।‡

इसी सम्बंध में राजा सगर के ज्येष्ठ पुत्र असमंज का निर्वासन भी एक पुष्ट प्रमाण है। असमंज में राज्य पद पाने के लिए लगभग समस्त

---

*—पुत्राइव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भयाविचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥
श्लोक ३३ अ० ५७, शा० प०।

†—अवमेनेसतुद्धं दर्प पूर्णः समन्दधी॥
श्लोक ७ अ० १४९, उद्योग० प०।

‡—न चाऽतिष्ठत्पितुः शास्त्रे बलदर्प विमोहितः।
अवमेने चपितरं भ्रातृंश्चाऽप्यपराजितः॥
श्लोक ८ अ० १४९, उद्योग० प०।

तं पिता परम क्रुद्धो ययातिर्नहुषात्मजः।
शशाप पुत्रं गान्धारे राज्याच्चापि व्यरोपयत्॥
श्लोक १० अ० १४९, उद्योग० प०।

वांछनीय योग्यताएं प्रस्तुत थीं परन्तु उसके आचरण में ऐसा एक बड़ा दोष था जो उसके मार्ग में बाधक सिद्ध हुआ। वह क्रूर और उद्दण्ड था, अयोध्या नगरी की जनता के नन्हें-नन्हें बालकों के साथ उसका क्रूरता-पूर्ण व्यवहार निन्दनीय समझा गया, वह बालकों को सरयू नदी में फेंक देता था और उन्हें जल-मग्न होते देख प्रसन्न होता था। उसके आचरण की इस निर्बलता ने उसका सर्वस्व नष्ट कर दिया। उसे जीवन पर्यन्त वनवास दिया गया और वह सदैव के लिए राज्याधिकार से च्युत कर दिया गया।*

यहाँ तक कि वैदिक साहित्य में भी राज्याधिकार के इस सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया है। ऋग्वेद के अनुसार पृथ्वी का राज्य केवल आर्यों को मिलना चाहिए।† वैदिक साहित्य में आर्य शब्द का प्रयोग दिव्याचरण युक्त व्यक्ति के लिए हुआ है अतः यह स्वयं सिद्ध है कि ऋग्वेद इस भूमि के शासन भार को केवल उस व्यक्ति अथवा उन व्यक्तियों को सौंपना पसन्द करेगा जिनका आचरण परम पुनीत हो। अथवा यों कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के अनुसार चरित्रहीन व्यक्ति को राजपद प्राप्ति का लेशमात्र भी अधिकार नहीं है और ऐसे व्यक्ति राज्याधिकार से सर्वथा वंचित रहने चाहिए।

यजुर्वेद में भी आचरण सम्बन्धी गुणों की एक लम्बी सूची दी हुई है जिनकी प्राप्ति राजा के लिए यजुर्वेद अनिवार्य समझता है। यजुर्वेद के ३३ वें अध्याय में इन गुणों का विशेष वर्णन है। यजुर्वेद भी ऋग्वेद के इस मत की यह भूमि आर्यों के लिए शासन के निमित्त दी

***—सचज्येष्ठो नरश्रेष्ठः सगरस्यात्म संभवः।**
बलान्गृहीत्वातु जले सरय्वा रघुनन्दन॥
श्लो० २०, २१ सर्ग ३८, बाल का०।

\+ \+ \+ \+ \+ \+

सतासां वचनं श्रुत्वाप्रकृतीनां नराधिपः।
तम् तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रिय चकीर्षया॥
श्लो० २३ अ० ३८, अयो० का०।

†—अहं भूमिमददामार्यय॥
मंत्र २ सूक्त २६ मण्डल ४, ऋग्वेद।

गई है पुनरावृत्ति करता है।* यजुर्वेद में एक स्थल पर राजा के लिए आचरण सम्बंधी गुणों की प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया है और वह गुण इस प्रकार है--राजा को लोकप्रिय (जनिष्ठः) प्रबल (उग्रः) क्रियाशील (तुराय) जग सुखकारी (मन्दः) ओजस्वी (ओजिष्ठः) तथा प्रजा पर अनेकों उपकार करनेवाला (वहुलाभिमानः) होना चाहिए।†

इस सिद्धान्त पर अथर्ववेद भी समान सम्मति देता है। अथर्ववेद में राजा के गुणों पर प्रकाश डालते हुए एक मन्त्र में इस प्रकार कहा गया है—महान सत्य (सत्यं वृहत्), महान वास्तविकता (ऋतमुग्रम) दृढ़ संकल्प (दीक्षा), विद्या (ब्रह्म) तप (यज्ञ) इस पृथ्वी को धारण करते हैं इस प्रकार अथर्ववेद राज पद के लिए सत्यता, वास्तविक ज्ञान, दृढ़ संकल्प, तप तथा धर्मकार्य के लिए सारी शक्तियों के अधिक से अधिक प्रयोग को परमावश्यक निर्धारित करता है।‡

शुक्र ने राजा के श्रेष्ठाचरण पर बड़ा महत्व दिया है। उनका मत है कि राजा अपने आचरण को ऐसा बना ले जिससे इस लोक में यश तथा परलोक में सुख की प्राप्ति हो सके।× उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ शुक्र-नीति में एक स्थल पर लिखा है—राजा केवल दूसरे को उत्तम कर्म करने का उपदेश देता रहे और आप उस कर्म का आचरण न करे ऐसा नहीं होना चाहिए। ऐसे राजा बहुधा नष्ट होते हुए देखे गए हैं जो दूसरों को तो शुद्धाचरण का उपदेश देते थे परन्तु स्वयं उस पर आरूढ़ न हुए।÷

---

*—यस्यायं विश्वऽआर्यः ॥

यजुर्वेद।

†—जनिष्ठाऽ उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ऽओजिष्ठो वहुलाभिमानः ॥

यजुर्वेद ।

‡—सत्यं वृहतमुग्रं दीक्षातपो ब्रह्मयज्ञः पृथ्वीं धारयन्ति ।

अथर्व वेद ।

×—कुर्यान्नृपः सुवृत्तं तु परत्रेह सुखाय च ॥

श्लो० १२२ अध्या० १, शुक्रनीति।

÷—परोपदेशकुशलः केवलो न भवेन्नृपः ।
प्रजाधिकार हीनः स्यात्सगुणोपि नृपः क्वचित् ॥

श्लो० ९३ अध्या० १, शुक्रनीति।

मनु ने अपने मानव-धर्म शास्त्र में उन राजाओं के नाम लिखे हैं जो अविनयशील होने के कारण अपने राज-पद से च्युत कर दिए गए थे। इनमें राजा वेन, नहुष, सुदास, पवन, सुमुख तथा निमि के नाम प्रसिद्ध हैं।* इस प्रकार मनु भी राज-पद के लिए आचरण सम्बन्धी योग्यता को निर्धारित करते हैं।

इस सिद्धान्त का उल्लेख कौटिल्य महोदय ने भी अपने अर्थ-शास्त्र में किया है उन्होंने भी अपने इस प्रसिद्ध ग्रंथ में उन राजाओं के नाम दिए हैं जो अपने आचरण की दुर्बलता के कारण परिवार तथा मित्रों सहित नष्ट हो गए।† कौटिल्य महोदय ने एक और स्थल पर लिखा है—चाहे जितना चतुर राजा क्यों न हो परन्तु यदि वह षड्-वर्ग—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—से प्रभावित हो गया है तो उसका नाश निश्चय है।‡ ऐसा विचार कर राजा को आत्म-संयम के हेतु अत्यन्त प्रयत्नशील होना चाहिए।×

ऊपर के वर्णन के आधार पर यह निश्चय है कि राजा के लिए हिन्दू युग में उत्तम चरित्र-बल राज-पद प्राप्ति के लिए नितान्त आवश्यक समझा जाता था। आचरण सम्बन्धी इस योग्यता से राजा जैसे ही विहीन हो जाता था, वह तुरन्त राज-पद पर स्थिर रहने का अधिकार नष्ट कर देता था और प्रजा द्वारा ही दण्डित करने का अधिकारी हो जाता था। राज-पद के लिए आचरण सम्बन्धी गुणों का जब इतना ध्यान रक्खा जाता था, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना

---

*—वेनो विनिष्टोऽ विनयान्नैहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदासो, यवनश्चैव, समुखो निमिरेव च॥
श्लो० ४१ अध्या० ७, मानव-धर्म-शास्त्र।

†—एतेचान्येचवहवः शत्रु षड्वर्गमाश्रितः।
सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः॥
वार्ता १४ अ० ६ अधि० १, अर्थशास्त्र।

‡—तद्विरुद्ध वृत्तिवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति॥
वार्ता ५ अ० ६ अधि० १, अर्थशास्त्र।

×—तस्मादरिषड्वर्ग त्यागेनेन्द्रिय जयं कुर्वीत॥
वार्ता १ अ० ७ अधि०, अर्थशास्त्र।

कि रामायण और महाभारत काल में उत्तम आचरण राज-पद प्राप्ति के लिए एक अनिवार्य विशेषता थी सर्वथा न्याय संगत ही होगा। इसलिए राजा बनने के लिए सर्वप्रधान गुण उत्तम आचरण का था जो कि पूर्वकालीन ऋषियों द्वारा निर्धारित किया जा चुका था जिसके बिना राज्याधिकार की अन्य आवश्यक योग्यताएँ—राजवंश में जन्म, ज्येष्ठ होना, शारीरिक क्षमता आदि का कोई मूल्य न रह जाता था। दोनों ग्रंथों (रामायण और महाभारत) में इस प्रकार हम भली भाँति देख चुके हैं कि कई ऐसे राजकुमार हुए हैं जिन्हें आचरण की दुर्बलता के कारण राज-पद के लिए अयोग्य समझा गया। यद्यपि उनमें इस पद के पाने के निमित्त अन्य समस्त गुण विद्यमान थे वे राजघराने में पदा हुए थे, उनमें शारीरिक क्षमता थी और राजा के ज्येष्ठ पुत्र भी थे उस पर भी केवल इस कारण कि उनमें चरित्रदोष था वे राज्याधिकार से वंचित कर दिए गए। इस सम्बन्ध में असमंज और यदु ज्वलन्त प्रमाण हैं।

राजा की नियुक्त की प्रजा द्वारा स्वीकृतिः—रामायण और महाभारत काल में यद्यपि राज्याधिकार वंशपरम्परागत हो गया था परन्तु इस अधिकार की स्वीकृति देना प्रजा के हाथ में था। इस सम्बन्ध में इन दोनों ग्रंथों में कई प्रमाण विद्यमान हैं।

रामायण के पढ़ने से पता चलता है कि राजा सगर की मृत्यु के पश्चात् अंशुमान नामक राजा हुआ जिसकी नियुक्ति प्रजा द्वारा हुई थी।*

राजा दशरथ ने वृद्ध होने पर अपने बड़े पुत्र राम को युवराज पद पर नियुक्त करने का संकल्प किया। उन्हें अयोध्या के राज-पद को अपनी इच्छानुसार किसी को दे देने का अधिकार न था। राज-पद प्राप्ति के पूर्व प्रजा की स्वीकृति लेनी आवश्यक थी। इसलिए राम को युवराज बनाने से सम्बन्धित प्रस्ताव को राजा दशरथ ने एक बड़ी परिषद के सामने स्वीकृति के हेतु प्रस्तुत किया। इस परिषद में अयोध्या

---

*—काल धर्मं गते राम सगरे प्रकृति जनाः।
राजानं रोचयामासुरंशु मंतं सुधार्मिकम्॥
श्लो० १ सर्ग ४२, बाल का०।

राज्य के विभिन्न नगरों के वासियों के प्रधान व्यक्ति (नाना नगरवास्तव्यान् प्रधानान्) विभिन्न प्रदेशों के लोग. (पृथग्जानपदानानपि) और पृथ्वी के प्रधान व्यक्ति (मेदिन्यान् प्रधानान्) और वह पुर तथा राष्ट्र के व्यक्ति जिन्हें किसी प्रकार से सम्मान प्राप्त हो चुका था। (लब्धमानैर्पुरालैर्जानपदैश्च मानवैः)।*

इस बड़ी परिषद के समक्ष जिसमें राज्य के विभिन्न वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधि एकत्र हुए थे राजा दशरथ गम्भीर एवं स्पष्ट शब्दों में इन्द्र के समान इस प्रकार बोले (जीमूत इव नादयन्)—आप लोग जानते हैं कि हमारा यह राज्य कितना उत्तम है।† हमारे पूर्वजों ने पुत्र के समान इसका पालन-पोषण किया है। इक्ष्वाकु वंशी राजाओं के द्वारा प्रतिपालित समस्त जगत को सुख पहुँचाने की शक्ति रखनेवाले इस राज्य को मैं और भी अधिक बड़भागी बनाना चाहता हूँ। आलस्य को त्याग कर अपनी शक्ति भर पूर्वजों द्वारा स्थापित मर्यादा को स्थिर रखते हुए प्रजा की रक्षा की है। समस्त लोक-कल्याण का सम्पादन करता हुआ यह शरीर भी श्वेत छत्र-छाया में अब जरावस्था को प्राप्त हो गया है। मैंने हजारों वर्षों की आयु पाई है जिसमें साधारण पुरुषों की बहुत सी आयु समाप्त हो जाती है। अब यह शरीर वृद्ध हो गया है। अतएव विश्राम चाहता है।‡ लोक पालन का भार बड़ा गुरुतर है। जो जितेन्द्रिय नहीं हैं उनसे इसका वहन नहीं हो सकता (दुर्वहमजितेन्द्रियैः)। इसके

---

*—नानानगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान्पृथिवीपतिः॥
श्लो० ४६ सर्ग १, अयो० का०।

स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः।
पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः॥
श्लो० ५० सर्ग १, अयो० का०।

†—विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम्॥
श्लो० ४ सर्ग २, अयो० का०।

‡—परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वी धर्मधुरं वहन्॥
श्लो० ६ सर्ग २, अयो० का०।

पालन के लिए शूरता आदि राजोचित गुण अनिवार्य हैं। मैं इस राज्य के भार को वहन करते करते थक गया हूँ। अब मैं प्रजा के कल्याण सम्पादन के लिये अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपने स्थान में नियुक्त कर विश्राम चाहता हूँ। पर मैं यह तब चाहता हूँ जब पास बैठे हुए हमारे अन्तरंग इन श्रेष्ठ ब्राह्मणों की आज्ञा हो।* मेरा ज्येष्ठ पुत्र समस्त गुणों में मेरे समान ही है। वह इन्द्र के समान पराक्रमी और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला है। उसका नाम राम है। पुष्य युक्त चन्द्रमा के समान धार्मिकों में श्रेष्ठ उस पुरुषोत्तम को प्रातःकाल मैं युवराज बनाना चाहता हूँ। मैंने जो यह विचार आप लोगों के सामने प्रस्तुत किया है वह यदि विचारपूर्ण हो और उससे आप लोगों का भी लाभ हो तो आप लोग मेरे इस विचार को स्वीकार करें।† यदि इन दोनों बातों में कोई भी न हो अथवा एक ही हो वा दोनों हों वैसा आप लोग मुझे बताएँ। तैसा किया जाए। रामचन्द्र को मैं युवराज बनाना चाहता हूँ यह मुझे प्रिय है। परन्तु इससे भिन्न आप अपने और राज्य के हित की बात सोच सकते हों तो सोचें क्योंकि मेरा विचार एक पक्ष का है। मध्यस्थ का विचार दूसरा होता है और वह उत्तर प्रत्युत्तर से मँजा होने के कारण अधिक उज्जवल होता है।‡

धर्म और अर्थ का ज्ञान रखनेवाले राजा दशरथ के अभिप्राय को भली भाँति समझ कर ब्राह्मण, सेनाध्यक्ष तथा नगर और राष्ट्र के लोग एकत्र हो कर भली भाँति परामर्श कर और राजा दशरथ को बृद्ध समझ कर एक मत होकर उनसे बोले—राजन् आप हजार वर्ष के होने आए हैं। रामचन्द्र में पृथ्वीपालन की योग्यता है। आप उन्हें शीघ्र युवराज बनाएँ। महाराज हम लोग चाहते हैं कि महाबाहु

---

*—संनिकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥
श्लो० १० सर्ग २, अयो० का०।

†—यदिदं मे ऽनुरूपयार्थं मया साधु सुमंत्रितम्।
भवन्तो मे ऽनुमन्यंतां कथं वा करवाण्यहम् ॥
श्लो० १५ सर्ग २ अयो० का०।

‡—यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिंत्यताम्।
अन्यामध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिको दया ॥
श्लो० १६ सर्ग २, अयो० का०।

रामचन्द्र युवराज बनाए जाएँ। यह राज्य के बड़े हाथी पर सवार होकर चलें और राजछत्र से उनका मुँह ढका हो।*

राजा ने उन लोगों के यह वचन सुने। राजा को भी प्रजा का यह निर्णय प्रिय था परन्तु वह प्रजा के हृदय की बात जानने के लिए जान बूझ कर अनजान बनकर बोले†—हे राज-सत्ताधारियो आप लोगों ने रामचन्द्र को युवराज पद देने के लिए जो अपनी सम्मति दी है वह केवल इसलिए कि यह मेरा प्रस्ताव है। क्या आप लोगों का ऐसा यथार्थ मत भी है ? इन दोनों बातों की वास्तविकता पर मुझे सन्देह है। आप लोग यथार्थ बात कहें।‡ मैं तो धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन कर ही रहा हूँ फिर महा बलवान एक युवराज के देखने की इच्छा आप लोग क्यों कर रहे हैं ?

राजा के यह बचन सुन उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया—राजन् आपके पुत्र में अत्यन्त कल्याणकारी गुण हैं।× आप देव समान अपने

---

*—तस्य धर्मार्थ विदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ॥
श्लो० १६ सर्ग २, अयो० का०।

समेत्य ते मंत्रयितुं समतागतबुद्धयः।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्ध दशरथं नृपम् ॥
श्लो० २० सर्ग २, अयो० का०।

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥
श्लो० २२ सर्ग २, अयो० का०।

†—अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत ॥
श्लो० २३ सर्ग २, अयो० का०।

द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलं ॥
श्लो० २५ सर्ग २, अयो० का०।

‡—सँशयोऽयं मैतदिदं ब्रूत तत्वतः ॥
श्लो० २४ सर्ग २ अयो० का०।

×—ते तमूचुर्महात्मनः पौरजानपदैः सह।
बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते ॥
श्लो० २६ सर्ग २, अयो० का०।

पुत्र के गुण सुनें। फिर उन्होंने रामचन्द्र के गुणगान करना प्रारम्भ कर दिया। अन्त में उन्होंने कहा—इसलिए लोक कल्याण में लगे हुए विष्णु के समान अपने पुत्र रामचन्द्र का जिनके गुण उदार हैं हम लोगों के कल्याण के निमित्त शीघ्र प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिषेक करना चाहिए।*

इस प्रकार राम के पक्ष में प्रजा ने उन्हें युवराज बनाने के सम्बन्ध में अपना निर्णय दिया। इस निर्णय के हो जाने के उपरान्त राजा ने राम को सभाभवन में बुलाया और प्रजा के इस निर्णय की सूचना राजा ने उन्हें इस प्रकार दी—राम! तुम मेरे औरस पुत्र हो, गुणों से श्रेष्ठ और मेरे प्रिय पुत्र हो। तुमने अपने गुणों से हमारे राज्य की प्रजा को प्रसन्न किया है।† अतएव जब पुष्य नक्षत्र में चन्द्रमा आए तभी तुम युवराज पद ग्रहण करो। अपनी इच्छा से ही प्रजा (प्रकृति) ने तुम्हें गुणवान बतलाया है और युवराज पद के योग्य समझा है। पुत्र तुम गुणवान हो तथापि स्नेह के कारण तुम्हारे हित की बातें कहता हूँ। ऐसा कहकर दशरथ ने राम को राज्य शासन सम्बन्धी राजोपयोगी उपदेश दिया।‡

रामायण में वर्णित इस घटना से यह पता चलता है कि राजा दशरथ अपने को वृद्ध समझकर और अपने ज्येष्ठ पुत्र राम में

---

*—पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम्।

श्लो० ४३ सर्ग २, अयोध्या का०।

तं देव देवोपममात्मजं ते सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम्
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि॥

श्लो० ५४ सर्ग २, अयो० का०।

†—त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरंजिताः॥

श्लो० ४० सर्ग ३, अयो० का०।

तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि॥
कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति॥

श्लो० ४१ सर्ग १, अयो० का०।

‡—गुणवत्यपितु स्नेहात्पुत्र वक्ष्यामि ते हितम्॥

श्लो० ४२ सर्ग ३, अयो० का०।

राजोचित समस्तगुणों को पाकर जो कि साधारण राजाओं को दुर्लभ हैं अपने मंत्रियों के समक्ष राम को युवराज पद देने का प्रस्ताव रखते हैं।* मन्त्रिमंडल इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। इसके पश्चात् यह प्रस्ताव प्रजा के प्रतिनिधियों—ब्राह्मणों, सेनाध्यक्षों, पुर और राष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों के समक्ष उनकी स्वीकृति के हेतु प्रस्तुत किया जाता है वह भी इस प्रस्ताव को सर्व सम्मति से स्वीकार कर मंत्रिमंडल के द्वारा स्वीकृत किए हुए इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं तब राजा इस प्रस्ताव को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न करता है।

नूतन युवराज की नियुक्ति में प्रजा की स्वीकृति लेना आवश्यक थी, इस सिद्धान्त की पुष्टि में जो प्रमाण दिया गया है वह स्पष्ट और निर्भ्रान्त है।

रामायण में एक स्थल और ऐसा उपलब्ध है जिसमें इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है वह इस प्रकार है—राजा दशरथ के निधन के उपरान्त अयोध्या की राजगद्दी रिक्त हो जाती है। जनता के सामने सब से बड़ी समस्या यह उपस्थित हो जाती है कि अब अयोध्या का राजा किसे बनाया जाए। राजकर्ता गण (राजकर्तारः)—मार्कण्डेय, गौतम, जाबालि आदि और राजा के मंत्रिगण एकत्र हुए। इस समस्या पर उनमें मतभेद था। जब उनमें एक मत न हो सका तो वह सब राजगुरु वसिष्ठ के पास गए। उन्होंने कहा कि राजा के बिना राज्य में अशान्ति एवं अराजकता फैल जायगी।† प्रजा में मत्स्य-न्याय का आतंक जम जायगा।‡ इसलिए हमें आज ही अपना राजा बनाना चाहिए। वसिष्ठ ने भरत को उनके ननिहाल से अयोध्या बुलाने की व्यवस्था दी। उनका यह निर्णय सबने स्वीकार किया।

---

*—निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत ॥
श्लो० ४२ सर्ग १, अयो० का०।

†—इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् ॥
श्लो० ८ सर्ग ६७, अयो० का०।

‡—मत्स्याइव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥
श्लो० ३१ सर्ग ६७, अयो० का०।

भरत ननिहाल से अयोध्या आए। अयोध्या में सभा की गई जिसमें वसिष्ठ ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया। उन्होंने दूतों को आदेश दिया कि वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों, योद्धाओं, अमात्यों और गण के अध्यक्षों को शीघ्र सभा में उपस्थित होने के लिए आमन्त्रित कर आएँ। क्योंकि सभा में उनके साथ बैठकर अत्यन्त आवश्यक कार्य करना है।* भरत शत्रुघ्न तथा अन्य राजपुत्रों को युधाजित तथा सुमन्त्र को एवं भरत के अन्य हितैषियों को भी सभा में आने के लिए आमन्त्रित कर आएँ।† धर्म जानने वाले पुरोहित वसिष्ठ जी ने राजा दशरथ की प्रजा एवं उनके मंत्रियों के समक्ष अयोध्या की रिक्त राजगद्दी भरत को अर्पण करते हुए कहा×—तुम्हारे पिता और भाई ने यह शत्रुहीन राज्य तुम्हें दिया है। सचिवों (मंत्रियों) को प्रसन्न रखते हुए तुम इसका भोग करो और शीघ्र ही अपना राज्याभिषेक कराओ।‡

इस प्रकार उपरोक्त घटना भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करती है कि नूतन राजा की नियुक्ति के लिए प्रजा की स्वीकृति आवश्यक थी।

---

*—सर्ववेदज्ञोदूतान नु शशांस च ॥

श्लो० ११ सर्ग ८१, अयो० का०।

क्षिप्रमानयता व्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥

श्लो० १२ सर्ग ८१, अयो० का०।

†—ब्राह्मणान्क्षत्रियान्योधानमात्यान्गणवल्लभान् ॥

श्लो० १२ सर्ग ८१, अयो० का०।

स राजपुत्रं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम्।
युधाजितं सुमंत्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥

श्लो० १३ सर्ग ८१, अयो० का०।

×—राज्ञस्तु प्रकृतिः सर्वाः संप्रेक्ष्य च धर्मवित्।
इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत ॥

श्लो० ४ सर्ग ८२, अयो० का०।

‡—पित्रा भ्रात्रा च ते दत्त राज्यं निहतकण्टकम्।
तद्भुंक्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥

श्लो० ७ सर्ग ८२, अयो० का०।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि जब रामायण काल में राजपद प्राप्ति के हेतु प्रजा की स्वीकृति अनिवार्य थी तो राम को युवराज पद से च्युत कर देने पर प्रजा ने विद्रोह क्यों नहीं कर दिया। राम को युवराज पद देने में स्वयम् प्रजा ने अपनी स्वीकृति दी थी। राम उनके प्राण सम प्यारे थे और उनके सर्वाधिक हितैषी थे; परन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध राजा ने उन्हें युवराज पद से च्युत ही नहीं किया वरन् उन्हें देश निर्वासित कर दिया। ऐसी परिस्थिति में अयोध्या की प्रजा में राजा के विरोध में विप्लव होना परमावश्यक था।

रामायण में किसी भी स्थल पर ऐसे विद्रोह का प्रमाण नहीं मिलता है जो कि राजा को इस बात पर बाधित करता कि वह प्रजा की अनुमति के बिना उनके मनोनीत युवराज को उस पद से च्युत न कर सकता। परन्तु सत्य तो यह था कि प्रजा का यह निश्चय था कि इस राज संकट का मूल कारण कैकेयी थी। राजा का इसमें लेशमात्र भी हाथ न था। रानी राम के वन-गमन और भरत को राजा बनाने पर तुली हुई थी। यद्यपि कैकेयी का यह षड्यन्त्र अयोध्या के राजा और उसके राज्य दोनों का घातक था। राजा वचनबद्ध होने के कारण विवश था। इस प्रकार राजा के विद्रोह का कारण यदि कोई हो सकता था तो वह कैकेयी थी। राजा निर्दोष था। अतः प्रजा की दृष्टि में वह दोषी न था। राजा ने स्वयं राम को यह आदेश दिया था कि वह उन्हें बन्दी बना लें क्योंकि स्त्री के वश में होने के कारण वह अयोध्या के राजा रहने के सर्वथा अयोग्य हो गए थे।* कैकेयी के इस दोषपूर्ण आचरण से राजा इतना रुष्ट हो गया था कि उसने कैकेयी का परित्याग कर दिया था।† उसने यह भी कहा था कि यदि भरत इस प्रकार अयोध्या के समृद्ध राज्य को पाकर प्रसन्न-

---

*—अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥
श्लो० २६ सर्ग ३४, अयो० का०।

†—अगृह्णां यच्च ते पाणिमाग्निं पर्यणयं च यत्।
अनुजानामि तत्सर्वमस्मिंल्लोके परत्र च॥
श्लोक ८ सर्ग ४२, अयोध्या का०।

होगा तो वह भी मेरा पुत्र न समझा जाय, और मेरे लिए जो वह पिण्डदान करे वह भी मुझे प्राप्त न हो।*

राज्य के कोन कोने से कैकेयी के विरोध में शब्द सुनाई पड़ते थे। अयोध्या नगरी के प्रत्येक घर में उसकी निन्दा हो रही थी और लोग उसकी कड़ी अलोचना कर रहे थे यहाँ तक कि राजघराने में भी प्रत्येक व्यक्ति उसकी निन्दा कर रहा था। कैकेयी के षड्यन्त्र के सम्बन्ध में राजा दशरथ का मौन रहना लक्ष्मण के लिए असह्य हो गया था। उन्होंने राम के सामने यह सुझाव रखा कि आपकी यह धारणा कि पिता की आज्ञा को आँख बन्द कर मान लेना चाहिए और उन्हें तुरन्त बन चला जाना चाहिए लेशमात्र भी न्यायसंगत नहीं है।† आपने धर्म समझ कर जो वनवास करना स्वीकार किया है वह अयोध्यावासियों की इच्छा के विरुद्ध है।‡ माता, पिता नामक उन अहितकारी शत्रुओं की जो स्वेच्छाचारी हैं, आज्ञा का पालन करना आपके अतिरिक्त दूसरा मन से भी नहीं सोच सकता। आज रामचन्द्र के राज्याभिषेक को समस्त लोकपाल तथा तीनो लोकों की जनता भी मिलकर नहीं टाल सकती फिर पिता दशरथ कैसे टाल सकते हैं? लक्ष्मण ने यह सम्मति दी कि राम दशरथ के स्थान में स्वयं राजा बन जाएँ क्योंकि जनमत उनके पक्ष में है। यदि राज्य ग्रहण करने में किसी प्रकार का युद्ध होता है तो वह अन्त तक राम का साथ देंगे। जिन लोगों ने मिल कर आपके वन में जाने का विचार निश्चय किया है अब उन्हीं को १४ वर्ष तक वन में रहना पड़ेगा। मैं पिता की आशा को नष्ट कर दूँगा और उसकी आशा पर भी पानी फेर दूँगा जो तुम्हारे

---

*—भरतश्चेत्प्रतीतः स्याद्राज्यं प्राप्यैतदव्ययम।
यन्मे स दद्यात्पित्रर्थं मा-मां तद्दत्तमागमत्॥
श्लोक ६ सर्ग ४२, अयोध्या का०।

†—सोऽपि धर्मो मम द्वेष्यो यत्प्रसंगाद्विमुह्यसि॥
श्लोक ११ सर्ग २३, अयोध्या का०।

‡—तवायं धर्म संयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः।
मनसापि कथं कामं कुर्यात्वां काम वृत्तयोः॥
श्लोक १४ सर्ग २३, अयोध्या का०।

अभिषेक में विघ्न डाल कर अपने पुत्र के राजा होने की कामना कर रही है ।* उन्होंने यह भी कहा कि परम्परागत राजधर्म के अनुसार राम को ही अयोध्या का राजा होना चाहिए । राम को भी इस सम्बन्ध में राज्य को अस्वीकार करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि धर्म का बहाना लेकर वह जनमत का विरोध कर प्रजा का तिरस्कार कैसे कर सकते हैं ! संसार में कोई भी दूसरा व्यक्ति ऐसे स्वेच्छाचारी माता पिता की आज्ञा नहीं मानेगा ।

मुख्य मंत्रीगण एवं राजगुरु ने कैकेयी की बड़ी आलोचना की । कैकेयी के मर्म स्थानों को अपने अनुपम वाक्य वज्रों से छेदते हुए सुमन्त्र ने कहा—तुमने अपने पति राजा दशरथ का त्याग किया, जो स्थावर, जंगम तथा समस्त जगत के स्वामी हैं । इससे ज्ञात होता है कि तुम्हारे लिए अकार्य कुछ भी नहीं है । मैं तुमको पतिघातिनी और कुलघातिनी समझता हूँ ।❀ ❀ ❀ ❀ ❀ तेरा पुत्र भरत ही राजा हो और वही पृथ्वी पालन करे । हम लोग वहाँ चले जाएँगे जहाँ राम जा रहे हैं । जैसा निन्दित कार्य तू आज कर रही है उससे कोई भी ब्राह्मण तेरे राज्य में न रहेगा । निश्चय हम लोग भी जिस रास्ते से राम जायँगे उसी रास्ते चले जाएँगे । इस प्रकार सब बांधवों, सब ब्राह्मणों और साधुओं से त्यक्त यदि यह अयोध्या राज्य आज तुझे मिल भी गया तो उससे क्या लाभ हो सकेगा ।†

---

*—अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ॥

श्लोक २३ सर्ग २३, अयोध्या का० ।

मद् बलेन विरुद्धाय न स्याद्दैवबलं तथा ॥

श्लोक २३ सर्ग २३, अयोध्या का० ।

प्रति जानें च ते वीर मा भूवं वीर लोकभाक् ।

राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ॥

श्लोक २८ सर्ग २३, अयोध्या का० ।

†—नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामे निशेवितम् ।

त्यक्ता या बान्धवैः सर्वैर्ब्राह्मणैः साधुभिः सदा ॥

श्लोक १२ सर्ग ३५, अयोध्या का० ।

का प्रीती राज्य लाभेन तवदेवि भविष्यति ॥

श्लोक १३ सर्ग ३५, अयोध्या का० ।

प्रजा ने स्वयं राम के साथ वन जाने के लिए पीछा किया था। वह किसी के द्वारा भी अयोध्या लौटने के लिए समझाई नहीं जा सकती थी। वह अपने राजा दशरथ की भी निन्दा करने लगी थी और उन्हें भला बुरा कहने पर उतारू थी। केवल राम का चतुरतापूर्ण हार्दिक आदेश उसे शान्त रख सका। राम ने प्रजा को समझा कर कहा कि अयोध्यावासियों का जो प्रेम और जो आदर बुद्धि मुझमें है वह मेरी प्रसन्नता के लिए तुम लोग भरत में रक्खो। उन्होंने इस बात का विश्वास दिलाया कि भरत का चरित्र बड़ा पुनीत और सुन्दर हैं, वह आप लोगों का प्रिय करेंगे। यद्यपि वह बालक हैं पर बड़े ज्ञानी हैं, उनका चित्त कोमल है, पराक्रम के सभी गुण उनमें विराजमान हैं। वही भरत तुम लोगों के योग्य राजा हैं, वह तुम्हारी रक्षा करेंगे। भरत को मैंने ही राजधर्म की शिक्षा दी है।*

प्रजा राम को राजा बनने के लिए विवश कर रही थी पर वह अयोध्या की राजगद्दी लेना चाहते ही न थे क्योंकि वह राज्य के सुख और वैभव की अपेक्षा अपने पिता की आज्ञा पालन करने में अधिक गौरव समझते थे। दाशरथी रामचन्द्र ने पिता की आज्ञा पालनरूप धर्म में जितनी अधिक दृढ़ता दिखाई प्रजा के लोगों ने उतना ही अधिक रामचन्द्र को अपना राजा बनाने का दृढ़ निश्चय किया। रामचन्द्र वन जाना चाहते थे और प्रजा उन्हें राजा बनाना चाहती थी। रस्सी में बँधे मनुष्य के समान रामचन्द्र तथा लक्ष्मण ने दुखी और रोते हुए पुरवासियों को अपने साथ खींच लिया। प्रजा राम को अपना राजा अवश्य बना लेती परन्तु राम के राज्य न लेने के दृढ़ संकल्प ने उसकी आशा को पूरा न होने दिया।†

प्रजा के विद्रोह के चिह्न भरत के ननिहाल से अयोध्या आने के

---

*—या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्या निवासिनाम्।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम्॥
श्लोक ६ सर्ग ४५, अयोध्या का०।

†—यथा यथा दाशरथिर्धर्म मेवाश्रितो भवेत्।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन्॥
श्लोक ११ सर्ग ४५, अयोध्या का०।

समय भी दृष्टिगोचर होते हैं। भरत अपने ननिहाल से पिता की मत्यु के उपरान्त जब आयोध्या नगरी लौटे, प्रजा ने उनका लेशमात्र भी स्वागत न किया। भरत को देख कर प्रजा ने मुख फेर लिया। प्रजा का गुप्त विरोध तब तक शान्त न हुआ जब तक कि भरत ने अपने इस निर्णय को कि वह राम को मनाने और उन्हें उनका राज्य सौंपने के हेतु बन जाएँगे प्रजा के कानों तक पहुँचा न दिया।

महाभारत में भी ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया गया है जो इस सिद्धान्त की पोषक हैं कि राजा की नियुक्ति की स्वीकृति प्रजा देती थी, परीक्षित की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र जनमेजय पवित्र ब्राह्मणों (शुचिद्विजैः) राजपुरोहित, राजा के मंत्रियों (नृपस्य मंत्रिभिः) और राजधानी के निवासियों (पौरवासि जनैः) के द्वारा राजा बनाया गया वह एकत्र हुए और उन्होंने उसे राजा बनाया।*

इसी सिद्धान्त की पुष्टि में राजा ययाति की घटना उल्लेखनीय है। राजा ययाति अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु को राजा बनाना नहीं चाहते थे क्योंकि वह उद्दण्ड, गर्वीला तथा अविनयशील राजकुमार था। अपने उन राजकुमारों को भी राज्याधिकार से वंचित रखना चाहता था जो किसी प्रकार भी यदु से सहानुभूति रखते थे। वह अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु के शिष्टाचरण के कारण उस पर बहुत प्रसन्न था और उसी को राज्य देना चाहता था। राजा ययाति ने पुरु को राजा बनाने का प्रस्ताव प्रजा की स्वीकृति के हेतु उसके सामने प्रस्तुत किया। परन्तु प्रजा ने उसे अस्वीकार किया। अपने छोटे पुत्र पुरु को राज-सिंहासन पर अभिषिक्त करने के लिए प्रस्तुत हुए राजा से चारों वर्णों विशेष कर ब्राह्मणों ने यह कहा—राजन्! शुक्राचार्य के नाती और देवयानी के सबसे बड़े पुत्र यदु को छोड़ कर पुरु को राजसिंहासन क्यों प्रदान करते हो? हे राजन्! ज्येष्ठ पुत्र का परित्याग कर सबसे छोटा भाई पुरु राज्य कैसे प्राप्त कर सकता है? हम आपको सचेत करते हैं, आप धर्म-मर्यादा का पालन करें।† ययाति के समक्ष केवल एक मार्ग रह गया था और

---

*—नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे संमेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः ॥

श्लो० ६ अ० ४४, आदि० प०।

†— ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा इदं वचनमब्रुवन ॥

श्लो० १९ अ० ८५, आदि० प०।

वह था प्रजा को इस बात से संतुष्ट करना कि उसका यह निर्णय धर्मयुक्त है। अतः ययाति ने उनसे कहा—जो पुत्र माता-पिता का आज्ञाकारी, उनके हित में तत्पर और पुत्रवत् माता-पिता से व्यवहार करनेवाला होता है वही सच्चा पुत्र है।* मेरे हितकारी पुत्र पुरु ने मेरी कामना की पूर्ति की है। स्वयं शुक्राचार्य ने भी मुझको यह अनुमति दी है कि जो पुत्र तेरी (ययाति की) आज्ञा का पालन करे वही पृथ्वी का पालन करनेवाला राजा बन सकता है। अब मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग भी पुरु को राज-पद पर अभिषिक्त करें।

ययाति के ऐसे हेतुयुक्त वचन सुनकर प्रजा ने कहा—जो पुत्र गुणवान है माता-पिता की सेवा में तत्पर रहता है वह छोटा भी श्रेष्ठ है और सब कुछ राज्यादि सम्पत्ति वही प्राप्त कर सकता है। हे राजन् जिस पुत्र ने तेरी आज्ञा का पालन किया है वही राज्य का अधिकारी हो सकता है और शुक्राचार्य द्वारा व्यवस्था दे देने के उपरान्त अब किसी को कुछ उत्तर देने का स्थान ही नहीं है।†

इस प्रकार पुर और राष्ट्र के लोगों के इतना कहते ही नहुष पुत्र ययाति ने अपने छोटे पुत्र पुरु को राज-सिंहासन पर बिठा दिया।‡

कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि ॥

श्लो० २० अ० ८५, आदि प०।

एवं संबोधयामस्त्वां धर्मत्वं प्रतिपालय ॥

श्लो० २२ अ० ८५, आदि प०।

*—माता पित्रोर्वचन कृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः।
स पुत्रः पुत्रवद्यश्च वर्तते पितृ मातृषु ॥

श्लो० २५ अ० ८५, आदि प०।

†—प्रकृतयऊचुः + + अर्हः पुरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत्तव।
वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तु मुत्तरम् ॥

श्लो० ३१ अ० ८५, आदि प०।

‡—पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा।
अभ्यषिंचत्ततः पुरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥

श्लो० ३२ अ० ८५, आदि प०।

इस सम्बन्ध में तीसरा उदाहरण युधिष्ठिर के विषय में है। पुरवासीगण पाण्डुपुत्रों को राजोचित अनेक गुणों से युक्त देखकर सभाओं और चौराहों पर उनके गुण गान करते थे। सभाओं और चौराहों में इकट्ठे होकर पुरवासी पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज्य दिलाने की चर्चा किया करते थे।* इनका उद्देश्य यह था कि युधिष्ठिर के राज्याधिकार को सबल बनाने के लिए उनको लोकप्रिय बना दिया जाए। ऐसा हो जाने से युधिष्ठिर के लिए हस्तिनापुर के राज-पद प्राप्ति में विशेष सहायता मिल सकेगी। वह इन स्थानों पर यह कहा करते थ कि धृतराष्ट्र तो अन्धा होने के कारण पहले ही राज-पद से वंचित किया जा चुका है। शान्तनु पुत्र भीष्म सत्यप्रतिज्ञ और महाव्रती है। जब उसने पूर्व ही राज्य का परित्याग कर दिया था तो वह अब राज्य कैसे ग्रहण कर सकता है। अब हम पाण्डवों में ज्येष्ठ तरुण, युद्धप्रिय, सत्य और करुणा के पक्षपाती युधिष्ठिर को राज-पद पर अभिषिक्त करेंगे।†

युधिष्ठिर के राज-पद त्यागने के समय के उपस्थित होने पर उन्होंने इस बात की व्यवस्था करने की आशा से कि उनके स्थान में परीक्षित हस्तिनापुर के राजा हों प्रजा को बुलाकर तत्सम्बन्धी प्रस्ताव रखा। परन्तु उनकी प्रजा ने इस कार्य में अपनी अनुमति न दी। राजा और प्रजा में इस सम्बन्ध में बड़ा वार्तालाप हुआ। अन्त में राजा प्रजा की अनुमति ले लेने में सफल हुआ। इस प्रकार परीक्षित प्रजा की अनुमति से राजा बना।

विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरान्त कुरु राज्य राजाहीन हो गया। इन्द्र ने राजाहीन राज्य में वर्षा न की। जब अराजक राष्ट्र

---

*—गुणैः समुदितान्दृष्ट्वा पौराः पाण्डु सुतांस्तदा ॥
श्लो० २३ अ० १४३, आदि प० ।

राज्यप्राप्तिं च सम्प्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतंतदा ।
कथयन्ति स्म सम्भूय चत्वारेषु सभासुच ॥
श्लो० २४ अ० १४३, आदि० प० ।

†—तेन यं पाण्डव ज्येष्ठं अभिषिंचाम ॥
श्लो० २७ अ० १४३, आदि० प० ।

में इन्द्र ने वर्षा नहीं की तो क्षुधा के भय से पीड़ित प्रजा भीष्म के पास आई और उनसे बोली—हे महाभाग ! सारी प्रजा नष्ट हो चुकी है । अब आप हमारे राजा बनें ।* परन्तु अपने दृढ़ संकल्प के कारण उन्होंने प्रजा के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया ।

यह घटना भी इस सिद्धान्त को पुष्ट करती है कि राज-पद प्राप्ति के लिए प्रजा की स्वीकृति लेना अनिवार्य था । महाभारत के अन्तर्गत एक और घटना मिलती है जो इस विषय में ज्वलन्त प्रमाण है । यह घटना देवापि के सम्बन्ध में है । राजा प्रतीप धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते थे । राज्य का शासन करते उन्हें जब बहुत समय व्यतीत हो गया तो इस वृद्ध उत्तम राजा प्रतीप ने अपने बड़े पुत्र देवापि के राज्याभिषेक के निमित्त शास्त्रानुसार सारी सामग्री एकत्र की । देवापि सत्यवादी, धार्मिक और पितृ आज्ञाकारी था । इनमें पुर और राष्ट्र के लोग हृदय से प्रेम रखते थे । यह सज्जनों में बड़े सम्मानित थे । इस प्रकार देवापि समस्त बाल-वृद्ध जनों के परमप्रिय थे । वह बड़े उदार और सब प्राणियों के हित में निरत थे । परन्तु वह त्वचा रोग से ग्रस्त थे । ऐसे देवापि के अभिषेक में ब्राह्मणों और वृद्धों ने पुर और राष्ट्र के लोगों से मिल कर विघ्न डाल दिया ।† जब राजा प्रतीप को इस बात का पता चला तो वह रोने लगा और अपने पुत्र के विषय में बड़ा चिन्तातुर हुआ । देवापि बड़ा उदार, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और प्रजा का प्रिय भी था तो भी त्वचा रोग से ग्रस्त होने के कारण प्रजा द्वारा वह राजा बनने के अयोग्य समझा गया । इस अभिषेक के रुकने की घटना देखकर राजा के अंग में बड़ी पीड़ा हुई और वह पुत्र शोक से व्याकुल हो उठा । जब प्रजा ने राजा प्रतीप को अपने पुत्र देवापि के अभिषेक

---

*—उपक्षीणाः प्रजाः सर्वा राजा भव भवाय नः ॥

श्लो० २६ अ० १४७, उद्योग प० ।

†—तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ।

सर्वे निवारयामासु देवापेरभिषेचनम् ॥

श्लोक २२ अ० १४९, उद्योग प० ।

कार्य को रोक दिया तो देवापि वन में चला गया।* बाह्लीक (देवापि का भाई) भी राज्य को छोड़ कर अपने मामा के यहाँ चला गया।† इस प्रकार प्रजा की अनुमति से प्रतीप का तीसरा और सबसे छोटा पुत्र कुरुओं का राजा बनाया गया।

इस प्रकार उपरोक्त घटना इस सिद्धान्त का एक ज्वलन्त प्रमाण है कि महाभारत काल में राजा बनने के पूर्व प्रजा की अनुमति ले लेना अनिवार्य समझा जाता था और राजपद प्राप्ति के लिए यह एक ऐसा प्रतिबन्ध था जिसका उल्लंघन करना राजा की शक्ति के बाहर था।

परन्तु रामायण और महाभारत के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जो यह बतलाते हैं कि कुछ ऐसे भी राजा थे जो अपने पिता के उपरान्त पिता की आज्ञा से ही राजा बन गए थे। इन स्थलों पर प्रजा की अनुमति के प्राप्त कर लेने के उपरान्त वह राजा बनाए गए हों ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं है। सत्य तो यह है कि इन स्थलों पर इस विषय में रामायण और महाभारत मौन इस लिए धारण किए हुए हैं कि उस काल की प्रजा तब तक भावी राजा के अभिषेक के अवसर पर विघ्न डालना पसन्द नहीं करती थी जब तक कि वह कार्य राज्याधिकार के निर्धारित सिद्धान्तों के विरुद्ध न होता और उस कार्य से उन सिद्धान्तों में से किसी एक भी सिद्धान्त के टूटने की आशंका न होती। प्रजा उस समय घटनास्थल पर आना अपना धर्म समझती थी जब कि वह यह समझ लेती थी कि निर्धारित राज्याधिकार के नियमों पर किसी प्रकार का आघात पहुँचने की सम्भावना है। राजा ययाति और प्रतीप के इस सम्बन्ध में ऐसे कार्य थे जिनमें उक्त नियमों पर आघात पहुँच रहा था। इसलिए

---

*—ततः प्रव्यथिताङ्गोऽसौ पुत्रशोक समन्वितः।
निवारितं नृप दृष्ट्वा देवापिः संश्रितोवनम्॥
श्लोक २६ अ० १४९, उद्योग प०।

†—बाह्लीको मातुल कुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः।
पितृ भ्रातृन्परित्यज्य प्राप्तवान परमभिमत्॥
श्लोक २७ अ० १४, उद्योग प०।

प्रजा ने अपने अधिकार का प्रयोग ऐसे अवसरों पर करना अपना कर्तव्य समझा था जिससे अनुपयुक्त व्यक्ति उनका राजा न बन सके।

ऊपर दिए गए उदाहरणों के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत काल में राज्य की नियुक्ति प्रजा के हाथ में थी। प्रस्तुत राजा भावी राजा को केवल लक्षित (Nominate) करता था। परन्तु उसे स्वीकार करने वा अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार प्रजा को ही था। प्रजा की प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष अनुमति पा लेने के उपरान्त उसे राज-पद दिया जाता था।

राज्याभिषेक का अधिकार—रामायण और महाभारत काल में राज-पद प्राप्ति के निमित्त अन्तिम परन्तु सबसे महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध राज्याभिषेक का प्रतिबन्ध था। हिन्दू जनता की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति तब तक धर्मयुक्त राजा न समझा जाता था जब तक कि उसका शास्त्रानुसार राज्याभिषेक न हो जाता था। अनअभिषिक्त राजा पतित समझा जाता था। इस युग में इस नियम का निरन्तर पालन होता रहा था। यहाँ तक कि अधीनस्थ राजाओं के लिए भी इस नियम का पालन करना अनिवार्य समझा जाता था। दुर्योधन की अभिलाषा की सन्तुष्टि के लिए कर्ण को युगा उपप्रान्त का राजा बनाने के पूर्व उसका अभिषेक किया गया था।

इस प्रथा का पालन समस्त हिन्दू युग में होता रहा है। इस संस्कार के मौलिक सिद्धान्त में समस्त हिन्दूयुग में लेशमात्र भी परिवर्तन न हुआ। समय के परिवर्तन से इस संस्कार के वाह्य कृत्यों में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गए थे। परन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप पूर्ववत ही बना रहा। रामायण और महाभारत काल में इस संस्कार में कोई विशेष परिवर्तन हुये हों ऐसा उन ग्रंथों के पढ़ने से पता नहीं चलता। वैदिक युग में जो परिपाटी स्थिर की गई थी इस युग में भी लगभग वही परिपाटी स्थिर रही परन्तु जीवन सम्बन्धी समस्याएँ ज्यों-ज्यों जटिल होती गईं इसके वाह्य रूप में भी अन्तर होता गया।

राम के राज्याभिषेक का वर्णन रामायण के युद्ध काण्ड में दिया गया है इस अवसर पर पृथ्वी के विभिन्न स्थानों से अभिषेक की आवश्यक सामग्री एकत्र की गई। जब शास्त्रानुसार अभिषेक की समस्त सामग्री एकत्र हो गई राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव शत्रुघ्न ने पुरोहित

तथा मंत्रियों के समक्ष प्रस्तुत किया।* इसके अनन्तर वृद्ध ब्राह्मण वसिष्ठ ने संयत होकर सीता सहित राम को रत्न-जटित पीठ पर बिठाया। वसिष्ठ, विजय, जाबालि, कश्यपादि ने नरसिंह रामचन्द्र का अभिषेक स्वच्छ एवं सुगन्धित जल से उसी प्रकार किया जैसे कि वसुओं न इन्द्र का अभिषेक किया था और मनु का अभिषेक जिस राजमुकुट से हुआ था वह रत्नजटित स्वर्णमय राजमुकुट सभा भवन में रत्नपीठ पर विधिपूर्वक रखा गया। पुनः ऋत्वजों और ब्राह्मणों के साथ महात्मा वशिष्ठ के द्वारा वही मुकुट रामचन्द्र को पहनाया गया।† जब यह संस्कार समाप्त हो गया तो राम और सीता को बड़े हाथी पर बिठला कर नागरिकों का एक समारोह निकाला गया। इस प्रकार लोगों को आनन्द मनाने का अवसर दिया गया।

महाभारतकार ने भी युधष्ठिर के राज्याभिषेक का वर्णन लगभग इसी प्रकार किया है। उनका राज्याभिषेक प्रजा के मध्य धौम्य ऋषि के द्वारा किया गया था।

इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि भावी राजा का राज्याभिषेक पुरोहित और राज्य के मुख्य ब्राह्मणों पर निर्भर था। बिना उनकी अनुमति के यह संस्कार नहीं किया जा सकता था। पुरोहित ही को यह अधिकार प्राप्त था कि वह राज्याभिषेक के कृत्यों को राजा से कराता। परन्तु पुरोहित को कोई भी व्यक्ति इस कार्य में नियोजित करने के लिए विवश नहीं कर सकता था। राजघराने का एक व्यक्ति यह प्रस्ताव करता था कि अमुक व्यक्ति का राज्याभिषेक होना चाहिए।

---

*—अभिषेकाय रामस्य शत्रुघ्नाः सचिवैः सह।
पुरोहिताय श्रेष्ठाय सुहृदभ्यश्च न्यवेदयत्॥
श्लोक० ५८ सर्ग १२८, युद्ध का०।

†—ब्रह्मणानिर्मितं पूर्वं किरीटं रत्नशोभितम्।
अभिषिक्तः पुरायेन मनुस्तं दीप्ततेजसम्॥
श्लोक ६४ सर्ग १२८, युद्ध का०।

किरीटेन ततः पश्चाद्वसिष्ठेन महात्मना।
ऋत्वग्भिर्भूषणैश्चैव समयोक्ष्यत राघवः॥
श्लो० ६७ सर्ग १२८, युद्ध का०।

इसस अधिक उसके अधिकार के बाहर था। पुरोहित को यह अधिकार था कि वह इस प्रस्ताव को स्वीकार करता वा न करता। पुरोहित स्वयं एक असाधारण व्यक्ति होता था। वह ब्राह्मणों में प्रधान व्यक्ति होता था। वह अपने बुद्धिबल एवं उच्चाचरण के लिए प्रसिद्ध होता था। वह राज्य के लोगों में सर्वश्रेष्ठ आचरणधारी पुरुष समझा जाता था। प्रजा का पुरोहित में पूर्ण विश्वास होता था। यदि वह किसी ऐसे व्यक्ति का अभिषेक कर बैठता जो कि उस पद के योग्य न होता तो वह अपने पद पर स्थिर कैसे रह सकता था। उसका पद भी विशेष एवं निर्धारित नियमों के अनुसार प्राप्त किया जाता था। पुरोहित पद किस प्रकार निर्धारित होता होगा इस सम्बन्ध नें जगतगुरु शंकराचार्य की नियुक्ति आधुनिक युग में एक उदाहरण मानी जा सकती है।

पुरोहित के साथ साथ उच्चकोटि के ब्राह्मणों का एक वर्ग था जिन्हें रामायणकार ने राजकर्ताओं के नाम से सम्बोधित किया है। यह ब्राह्मण वर्ग भी वीतराग थे और अपने पवित्र आचरण के लिए प्रसिद्ध होते थे। ब्राह्मणों का यह वर्ग राजा के सम्पर्क में रहता था जिसकी सम्मति के बिना राज्य में कोई नई योजना रचनात्मक रूप में नहीं लाई जा सकती थी। वास्तव में राज्य की बागडोर उन्हीं के हाथ में रहती थी। वह राजा के दैनिक कार्य पर नियंत्रण रखते थे। राजा को शासन सम्बन्धी दैनिक कार्य में यह ब्राह्मण वर्ग सम्मति और सहायता देता था।

इसके अतिरिक्त राज्याभिषेक के अवसर पर चारों वर्णों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति अनिवार्य थी। वह पवित्र जल को भावी राजा पर छिड़क कर राज्याभिषेक के कृत्यों में भाग लेते थे। यदि इन्हें किसी प्रकार यह ज्ञात हो जाता कि जिस व्यक्ति का अभिषेक किया जा रहा है वह अनधिकारी है तो वह उनका विरोध कर सकते थे जिसका परिणाम यह होता कि उसका अभिषेक रोक दिया जाता। देवापि और पुरु इसी प्रकार के व्यक्ति समझे गए थे जिनके राज्याभिषेक के अवसर पर इस वर्ग ने विघ्न डाल दिया था।

इस प्रकार भावी राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी संस्कार जिसका

वर्णन रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में उपलब्ध है निश्चयपूर्वक प्रजातंत्रवाद के सिद्धान्तों पर अवलम्बित था।

राजकीय शपथ का अधिकार :—राज्याभिषेक सम्बन्धी संस्कार का एक मुख्य अंग भावी राजा को प्रजाभक्त रहने की शपथ लेने का कृत्य था। महाभारत में इस बात का वर्णन है कि राजा पृथु को अपने राज्याभिषेक के समय इस बात की शपथ मन, वचन और कर्म से लेनी पड़ी थी* और उसका उसने पूर्ण निर्वाह किया था। महाभारत में ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ राजा गद्दी से केवल इस लिए उतार दिए गए और उनका वध कर दिया गया क्योंकि उन्होंने इस शपथ के प्रतिबन्ध को तोड़ दिया था। राजा वेन इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह शपथ परम्परागत थी। ब्राह्मण ग्रंथों में आज भी इस शपथ की शब्दावली ज्यों की त्यों प्राप्त है। ऐतरीय ब्राह्मण में राजा के लिए जो शपथ दी हुई है उसका शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है—जिस रात्रि में मैं उत्पन्न हुआ हूँ और जिस रात्रि में मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगा, इस मध्य में जो कुछ पुण्य मैंने किए हों, मेरा स्वर्ग, मेरा जीवन और मेरी सन्तति नष्ट हो जाए यदि मैं तेरा (प्रजा) द्रोह करूँ।†

महाभारत में भी राजा की शपथ दी हुई है। यह भी लगभग इसी प्रकार है—इसमें राजा शपथ करता है—मैं जगत को ब्रह्म का स्वरूप मानकर उसकी सर्वदा रक्षा करता रहूँगा तथा जो दण्डनीति के अनुसार नित्यधर्म महर्षियों ने कहा है, मैं उसका सर्वदा निःशंक होकर पालन करूँगा और कभी उच्छृंखल न होऊँगा।‡

---

*—प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं ब्रह्म इत्येव चासकृत॥
श्लोक १०६ अ० ५९, शा० प०।

†—यंच रात्रीं जायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरणेष्टा पूर्व लोकं सुकृत मायुः प्रजां वृंजीथा यदि तेद्रुह्य यासिति॥
वार्ता १ अ० ३९ कण्डिका १५, एतरीय ब्राह्मण।

‡—प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीति व्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥
श्लोक १०६-१०७ अ० ५९, शा० प०।

यहाँ तक कि इस अवसर पर उन प्रतिबन्धों की सूचना समस्त जनता के सामने राजा को दी जाती थी जिन पर राज्य भावी राजा को सौंपा जाता था। यजुर्वेद में इन प्रतिबन्धों का उल्लेख इस प्रकार है—यह राज्य तुझे (राजा को) कृषिकार्य के लिए (कृष्याय)। प्रजा की क्षेम कुशल के लिए (क्षेमाय) और सर्वांग समृद्धि और सम्पन्नता (पोष्याय) के लिए प्रदान किया जा रहा है।

इन वैधानिक प्रतिबन्धों के अतिरिक्त भावी राजा को राज्याभिषेक के अवसर पर दिग्विजय के लिए प्रस्थान करना पड़ता था। सम्भवतः इस योजना की व्यवस्था इसलिए की जाती होगी कि यह जाना जा सके कि जो व्यक्ति राजा बनाया जा रहा है वह वीर है और जो राज्य उसे सौंपा जा रहा है उसकी रक्षा करने में वह समर्थ है। महाभारत में युधिष्ठिर की दिग्विजय का वर्णन मिलता है। अपने राज्याभिषेक के अवसर पर युधिष्ठिर ने अपने चारों भाइयों को दिग्विजय के लिए भेजा था और उन्होंने लगभग सारा भारत विजय कर युधिष्ठिर के अधीन कर दिया था।

इस प्रकार वीर घराने में जन्म, ज्येष्ठता का सिद्धान्त, वंश परम्रागत अधिकार, शारीरिक क्षमता, सदाचार की निर्धारित मात्रा, प्रजा की अनुमति, राज्याभिषेक संस्कार और राजकीय शपथ ऐसे प्रतिबन्ध थे जो परम्परागत चले आ रहे थे और जिन्होंने वैधानिक रूप धारण कर लिया था कि किसी प्रकार भी टाले नहीं जा सकते थे। इन्हीं प्रतिबन्धों के अनुसार उस काल में राजा की नियुक्ति होती थी अतः राजा की नियुक्ति की यह प्रथा प्रजातंत्रवाद की पोषक कही जा सकती है और प्रजातंत्रवाद के प्रधान तत्वों में से यह भी एक तत्व किसी अंश तक माना जा सकता है।

तृतीय अध्याय

मंत्रिपरिषद्

रामायण तथा महाभारत और निरंकुश शासनः—रामायण और महाभारत के पढ़ने से पता चलता है कि यह दोनो ग्रंथ निरंकुश शासन का विरोध करते हैं। यह दोनो ग्रंथ ऐसे राजा की निन्दा करते हैं जो कुशल और योग्य मंत्रियों की सहायता और सहयोग के बिना शासन करते हैं। महाभारत के सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर से यह प्रश्न किया है क्या तुम केवल अकेले ही तो मंत्रणा नहीं कर लेते ?* क्या तुमने आत्मा के समान शुद्ध समझाने में समर्थ, कुलीन, प्रेमी, वृद्ध मंत्री नियुक्त किए हैं ?†

यही प्रश्न रामायण के अयोध्या काण्डम् में राम ने भरत से किये हैं—राम भरत से पूछते हैं—क्या तुमने अपने समान विश्वसनीय, शूर, विद्वान, जितेन्द्रिय, कुलीन और अभिप्राय समझने वाले पुरुषों

---

*—कच्चिन्मंत्रयसे नैकः ।।

श्लोक ३१ अ० ५, सभा प० ।

†—कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः संबोधन क्षमाः ॥

श्लोक २७ अ० ५, सभा प० ।

कुलीनाश्चाऽनुरक्ताश्च कृतास्ते वीर ! मंत्रिणः ।।

श्लोक २८ अ० ५, सभा० प० ।

को अपना मँत्री बनाया है ?* क्या तुम किसी बात का निश्चय अकेले तो नहीं करते ?† वह भरत को समझाते हुए सचेत करते हैं कि मंत्रणा राजाओं की विजय का मूल है। इसी कारण शास्त्रज्ञ और मंत्र को गुप्त रखनेवाले मंत्री राजा की रक्षा करते हैं।‡

महाभारत में भी इसी प्रकार के विचार दिए गए हैं। सभा पर्व में नारद युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं हे—राजन्! राजाओं की विजय मंत्रियों के परामर्श पर ही आश्रित है।+ भीष्म भी युधिष्ठिर को यही उपदेश देते हुए कहते हैं—कि मंत्रियों की उत्तम मंत्रणा ही राज्य की वृद्धि का कारण है।× राज्य का भार अत्यन्त गुरु है। अकेला राजा उसके वहन करने में समर्थ नहीं हो सकता। कौटिल्य महोदय ने इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए अर्थशास्त्र में लिखा है—राज्य का रथ अकेले राजा के एक पहिए से नहीं चला करता। उसको सचिव रूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता है। यह सब बात सोच कर राजा को मंत्री अवश्य रखने चाहिए और उनकी मंत्रणा अवश्य लेनी चाहिए।÷ कौटिल्य का मत है कि अमात्य गण राजा को विपत्ति से

---

*—कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मंत्रिणः॥
श्लोक १९ सर्ग १००, अयोध्या का०।

†—कच्चिन्मंत्रयसे नैकः॥
श्लोक० १८ सर्ग १००, अयोध्या का०।

‡—मंत्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव।
सुसंवृत्तो मंत्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः॥
श्लोक १६ सर्ग १००, अयोध्या० का०।

+—विजयो मंत्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत॥
श्लोक २८, अ० ५, सभा प०।

×—मंत्रिणां मंत्रमूलं हि राज्ञे राष्ट्रं विवर्द्धते॥
श्लोक ४८ अ० ८७, शा० प०।

÷—सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च श्रृणुयान्मतम्॥
वार्ता १५ अध्याय ७ अधि० १, अर्थशास्त्र।

बचाते हैं। यह ही लोग समयविभाग के चाबुक से एकान्त रनिवास आदि में प्रमादपूर्वक समय बिताते हुए राजा को सचेत करते हैं।* शुक्राचार्य भी कौटिल्य महोदय के इन विचारों से सहमत हैं। वह इस विषय पर शुक्रनीति में लिखते हैं—यद्यपि कोई कार्य बहुत छोटा है, तथापि वह अकेले आदमी से नहीं किया जा सकता है। जब छोटे से कार्य को भी अकेला मनुष्य नहीं कर सकता तो फिर विशाल राज्य को असहाय पुरुष कैसे चला सकता है? यद्यपि राजा सारी विद्याओं में कुशल हो, मंत्र करना भी जानता हो, तो भी मंत्रियों के विना उसको अकेले कभी मंत्र को नहीं विचारना चाहिए।† राजा को सर्वदा अपने सभासद, अधिकारी, अमात्यादि—प्रकृति और प्रजा के मध्य लोगों की सम्मति से कार्य करना चाहिए। राजा कभी अपने मत के पीछे न चले।‡ जो राजा शक्तिशाली हो और स्वेच्छाचारी हो जाए, तो उस पर विपत्ति अवश्य आएगी।+ युवराज और अमात्यगण

---

*—य एनमपायस्थानेभ्योवारयेयुः ॥

वार्ता १३ अध्याय ७ अधि० १, अर्थशास्त्र।

छायानालिका प्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यतभितुदेयुः ॥

वार्ता १४ अध्याय ७ अधि० १, अर्थ शास्त्र।

†—यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किमुराज्यं महोदयम्॥

श्लोक १ अध्याय २, शुक्रनीति।

सर्व विद्यासु कुशलो नृपोह्यपि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विनामंत्रं नैकोर्थचिंतयेत्क्वचित्॥

श्लोक २ अध्याय २, शुक्रनीति।

‡—सभ्याधिकारि प्रकृति सभासेत्सु मतेस्थितः।
सर्वदास्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमतेन कदाचन॥

श्लोक ३ अध्याय २ शुक्रनीति।

+—प्रभु स्वातंत्र्य मापन्नो ह्यनर्थायैवकल्पते॥

श्लोक ४ अ० २, शुक्रनीति।

राजा के दाएँ बाएँ नेत्र और कर्ण माने गए हैं। इनके बिना राजा बाहु, कर्ण और आँखों से रहित समझा जाता है।*

महाभारतकार ने भी राजा के लिए मंत्रियों की आवश्यकता अनिवार्य बतलाते हुए लिखा है कि पशुओं के बांधव मेघ स्त्रियों के रक्षक पति, ब्राह्मणों के बान्धव वेद और राजा के बान्धव मंत्री होते हैं।† रामायण में राजा के चौदह दोष दिए गए हैं उनमें से एक दोष यह भी है कि राजा किसी बात का निर्णय अपने आप ही कर ले। इस विषय में राम भरत से पूछते हैं—तुमने राजा के चौदहों दोषों का त्याग तो कर दिया है न ? इन दोषों को गिनाते हुए वह एक दोष यह बतलाते हैं कि अकेले राज्य की बातों का निश्चय करना।‡

हिन्दू सप्तात्मक राज्यः—आधुनिक युग में राज्य निर्माण में चार मूल तत्वों की आवश्यकता पड़ती है। यह तत्व भू-भाग, जन, राजनीतिक संगठन, और राज सत्ता हैं। इन चारों तत्वों के संयोग से आधुनिक राज्य का साक्षात्कार होता है। इन तत्वों में से एक का भी अभाव राज्य के अस्तित्व को नष्ट कर देगा।

परन्तु हिन्दू राज्य का निर्माण सात तत्वों के संयोग पर अवलम्बित था। इसीलिए हिन्दू राज्य सप्तात्मक राज्य के नाम से प्रसिद्ध था। राज्य के यह सात तत्व राजा, अमात्य, कोष, बल, मित्र, पुर और राष्ट्र थे।+ हिन्दू राजनीतिक विचारधारा के अनुसार इनमें से एक तत्व का भी अभाव राज्य के अस्तित्व को मिटा देता था।

---

*—युवराजोमात्य गणो भुजावेतौ महीभुजः ॥
❀ ❀ ❀ बाहु कर्णत्हीनः स्याद्विना ताभ्याममतोनृपः ॥
श्लोक १२-१३ अ० २, शुक्रनीति।

†—पर्जन्य नाथाः पशवो राजानो मंत्रिबांधवाः।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥
श्लोक ३८ अ० ३४, उद्यो० प०।

‡—एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च ॥
श्लोक ६६ सर्ग १००, अयोध्या का०।

+—आत्माऽमात्याश्च कोषाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि।

इसलिए हिन्दू राज्य में मंत्रि परिषद् का होना अनिवार्य था। यह केवल आडम्बर, राजा के गौरव वा प्रतिष्ठा बढ़ाने मात्र के लिए न थी। हिन्दू राज्य में मंत्रिपरिषद् अपना निजी अस्तित्व रखती थी और उसकी उपयोगिता महान् थी। राज्य में शासन सम्बन्धी कार्य संचालन में मंत्रिपरिषद् का प्रमुख स्थान था। यह राजा की स्वेच्छाचारपूर्ण एवं निरंकुश योजनाओं को प्रतिबन्ध लगाकर उसे अपनी उचित मंत्रणा के द्वारा सद्मार्ग पर लगाती थी।

मंत्रि परिषद् और उसका निर्माण:—रामायण और महाभारत काल में मंत्रिपरिषद के मंत्रियों की नियुक्ति राजा के अधीन थी। मंत्रिपरिषद के मंत्रियों की नियुक्ति करना तथा उन्हें मंत्रिपद से वियुक्त करना राजा का एक प्रधान कर्तव्य समझा जाता था। परन्तु इन मंत्रियों की नियुक्ति एवं उनके पदच्युत करने से सम्बन्धित अधिकारों पर वैधानिक प्रतिबन्ध थे। रामायण और महाभारत में इस सम्बन्ध में जिन प्रतिबन्धों का वर्णन है उनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

(क) **पैत्रिक अधिकार**:—रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथो में इस विषय के प्रमाण प्राप्त हैं कि मंत्रिपरिषद के मंत्रियों की नियुक्ति के समय राजा को इस ओर विशेष ध्यान देना पड़ता था कि जिस मंत्री की नियुक्ति होने जा रही है वह परम्परागत मंत्रि-वंश से सम्बन्धित है। मंत्रिपद के लिए पिता के उपरान्त पुत्र का अधिकार उचित समझा जाता था। कदाचित यह नियम इसलिए था कि चरित्र निर्माण में रक्त का प्रभाव बड़ा महत्वपूर्ण समझा गया होगा।

तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरु नन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः॥
श्लो० ६४ अ० ६६, शा० प०।

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोश दण्डमित्राणि प्रकृतयः।
वार्ता १ अध्याय १ अधि० ६, अर्थशास्त्र॥

स्वाम्यमात्य सुहृत्कोषराष्ट्र दुर्ग बलानि च।
सप्तांग मुच्यते राज्यं + + + + + +॥
श्लो० ६१ अध्याय १, शुक्रनीति।

रामायण में इस सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिए कई स्थलों में इस सम्बन्ध के वर्णन प्राप्त हैं। भरत अपने बड़े भाई राम को मनाने के लिए चित्रकूट गए थे। भरत को व्याकुल एवं चिन्तित देखकर राम ने उनसे उनकी परिस्थिति से परिचय प्राप्त करने के लिए अयोध्या राज्य के शासन सम्बन्धी अनेकों बातें पूछी थीं। उनमें से एक प्रश्न मंत्रियों वा अमात्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी था। इस विषय में उन्होंने भरत से इस प्रकार पूछा—क्या तुमने अपने समान विश्वसनीय शूर, विद्वान, जितेन्द्रिय, कुलीन, और अभिप्राय समझनेवाले को अपना मंत्री बनाया है न ?* राम का भरत के प्रति यह प्रश्न क्या भरत ने कुलीन वंश के व्यक्ति को मंत्री बनाया है ? इस बात को बतलाता है कि रामायण काल में मंत्रिपद के लिए शुद्ध रक्त का विचार किया जाता था। आगे चलकर राम ने भरत से फिर पूछा—क्या तुम पिता पितामह से आए श्रेष्ठ अमात्यों को उत्तम कामों में नियुक्त करते हो ?† राम का भरत के प्रति यह प्रश्न स्पष्ट बतलाता है कि अमात्यों की नियुक्ति के समय पैत्रिक अधिकार पर विशेष महत्व दिया जाता था।

महाभारत ग्रंथ भी इसी सिद्धान्त को निर्धारित करने में बड़ी सहायता देता है। इस ग्रंथ में कई स्थलों पर राजा के लिए यह बतलाया गया है कि वह कुलीन वंश में उत्पन्न एवं पिता पितामह से चले आए मंत्रिवंश से अपने मंत्रियों की नियुक्ति करे। शान्ति पर्व में ऐसे कई श्लोक उपलब्ध हैं जिनमें इन्हीं विचारों को प्रस्तुत किया गया है।‡ महाभारत के सभा पर्व में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए नारद ने युधिष्ठिर से इस प्रकार प्रश्न किया है—हे युधिष्ठिर ! छल रहित

---

*—कुलीनाश्च + + + + मंत्रिणः ॥

श्लो० १५ सर्ग १००, अयो० का० ।

†—अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ्छुचीन् ॥

श्लो० २६ सर्ग १००, अयो० का० ।

‡—कुलीन कुल सम्पन्नाः ॥

श्लो० १६ अ० ८३, शान्ति० प० ।

पितृपैतामहोयः स्यात् स + + + + ॥

श्लो० ४३ अ० ८३, शा० प० ।

पिता पितामह आदि कुल क्रम से चले आए हुए पवित्र आचरण वाले, श्रेष्ठ मंत्रियों को तो श्रेष्ठ कार्यों में लगाते रहते हो।*

इस प्रकार राजा को अपने मंत्री नियुक्त करते समय सर्व प्रथम इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि जिस व्यक्ति को वह मंत्रि-पद देने जा रहा है वह मंत्रिवंश से सम्बन्धित है। वास्तव में बात तो यह थी कि यह मंत्रि-वंश वैदिक युग से परम्परागत चले आ रहे थे। रामायण और महाभारत में जिन मंत्रि-वंशों की ओर इस सम्बन्ध में संकेत किए गए हैं उनका सम्बन्ध वैदिक काल के राजकर्त्ताओं के वंशों से था जिन्हें वैदिक काल में रत्निन के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसलिए इन मंत्रिवंशों का सम्बन्ध वैदिक युग के मंत्रि घरानों से था जिन्होंने उस युग में राजाओं के वरण करने में प्रमुख भाग लिया था।

परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि राजा को अपनी मंत्रि-परिषद के मंत्रियों की नियुक्ति के लिए केवल इसी एक सिद्धान्त की ओर ध्यान देना पड़ता था। ऐसा समझ लेना कि मंत्रिपद के लिए मंत्रिवंश में जन्म लेना अनिवार्य था भारी भूल होगी। यह सिद्धान्त तभी तक लागू रहता था जब तक कि मंत्रिवंश में मंत्रिपद के सर्वथा योग्य व्यक्ति सुलभ था। यदि मंत्रिवंश में मंत्रिपद के सर्वथा योग्य व्यक्ति होता तो उसी के समान योग्य अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कर उसे सर्वप्रथम अवसर दिया जाता था। परन्तु यदि मंत्रिपद के लिए वास्तव में उपयुक्त व्यक्ति के न प्राप्त होने पर राज्य के अन्य किसी सुयोग्य नागरिक की (जो कि उस पद के सर्वथा योग्य होता) खोज करनी पड़ती थी और उसे मंत्रिपद पर अवश्य नियुक्त कर दिया जाता था। यही कारण है कि रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में जहाँ यह लिखा गया है कि पिता के उपरान्त पुत्र को मंत्रिपद देना चाहिए, वहीं मंत्री के लिए शुद्धाचरण एवं अन्य योग्यताओं पर विशेष महत्व दिया गया है।

(ख) चारित्रिक अधिकार:—इस बात पर ऊपर भली भाँति प्रकाश डाला जा चुका है कि कुलीन वंश में जन्म तथा पैतृक अधिकार का ध्यान

***—अमात्यानु पधातीतान्पितृ पैतामहान्शुचीन ॥**

श्लो० ४२ अ० ५, सभा प० ।

इसी सीमा तक रखा जाता था जब तक पुराने मंत्रिवंश में मंत्रिपद के सर्वथा योग्य व्यक्ति मिल जाता था। कुलीन वंश में उत्पन्न होने और त्रिवर्ग पालन में दक्ष होने पर भी अनुभव रहित व्यक्ति मंत्रिपद पर नियुक्त करना वर्जित था।* मंत्री का चरित्र इतना सुदृढ़ होना अनिवार्य था कि उसके सामने चाहे जैसी परिस्थिति क्यों न उपस्थित हो जाती परन्तु वह अपने कर्तव्य पथ से लेशमात्र भी विचलित न होता। काम, क्रोध, लोभादि विकारों के प्रभाव से वह कभी पथभ्रष्ट न होता।† महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को इसी विषय पर उपदेश देते हुए कहा है कि शूर, महान अनुभवी, संतुष्ट, महान उत्साही और ब्राह्मण स्वभाव का मंत्री होना चाहिए।‡ मंत्री को देश काल के अनुरूप कुशलतापूर्वक कार्य करने की योग्यता होनी चाहिए।+ मूर्ख, दरिद्र स्वभाव, अहंकारी, शत्रुप्रेमी, वाचाल, क्रूर स्वभावक्रोधी और लोभी को मंत्री पद कभी देना ही नहीं चाहिए।÷ जो मंत्री इस बात का आडम्बर करते हैं कि वह राजा के हितैषी हैं

---

*—अल्प श्रुतो मंत्री 'कल्याणाभिजनोप्युत।
धर्मार्थ काम संयुक्तो नालं मंत्रं परीक्षितुं॥

श्लो० २६ अ० ८३, शा० प०।

†—यो न कामाद् भयाल्लोभात् क्रोधाद्वाधर्ममुत्सृजेत्॥

श्लो० २७ अ० ८०, शा० प०।

‡—अमात्यांश्चाति शूरांश्च, ब्राह्मणांश्च, परिश्रुतान्।
सुसंतुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्च कर्मसु॥

श्लो० ३ अ० ८३, शा० प०।

+—देश काल विधा ज्ञानमितृ × × × × ×।
नित्यमर्थेषु राजा कुर्वीत मंत्रिणः॥

श्लो० ८ अ० ८३, शा० प०।

÷—अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः।
असुहृत क्रोधनो लुब्धो न मंत्र श्रोतुमर्हति॥

श्लो० ३७ अ० ८३, शा० प०।

परन्तु हृदय से सच्चे नहीं हैं उन्हें राजा को तुरन्त पदच्युत कर देना चाहिए।*

रामायण में भी मंत्रियों के चरित्र पर बड़ा महत्व दिया गया है। रामायण के बालकाण्ड में लिखा है कि राजा दशरथ के मंत्री श्रेष्ठ गुण ग्रहण करते थे, प्रसिद्ध पराक्रमी थे, विदेश में भी उनकी ख्याति थी तथा उनके विचार निश्चित होते थे। वह सभी तरह गुणवान थे, कोई गुणहीन न था, सन्धि-विग्रह के रहस्यों के जानने वाले थे। प्रजा उनमें अनुरक्त थी और वह धन, धान्य से युक्त थे।† अरण्यकाण्डम् में मारीच ने उन मंत्रियों को प्राणदण्ड की व्यवस्था दी है जो कुमार्ग-गामी अपने राजा को कुमार्ग में जाने से नहीं रोक सकते। मारीच के विचार से मंत्री ऐसे निर्भीक होने चाहिए जो अपने स्वेच्छाचारी राजा को वश में रख सकें।‡ अयोध्याकाण्ड में भी मंत्री के चरित्र पर बड़ा महत्व दिया गया है। राम मंत्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भरत से प्रश्न करते हुए पूछते हैं—क्या तुमने अपने समान विश्वसनीय शूर विद्वान, जितेन्द्रिय, कुलीन और अभिप्राय समझनेवाले मंत्री बनाए हैं ?+

---

*—अहितं च हिता कारं धाष्टर्याञ्जल्पन्ति ये नराः।
अवश्यं मंत्र बह्यास्ते कर्तव्याः कृत्य दूषकरः॥
श्लो० ३८ अ० ८३, शा० प०।

†—गुरोर्गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमैः।
विदेशेष्वपि विज्ञाताः सर्वतो बुद्धि निश्चयाः॥
श्लो० १७ सर्ग ७, बा० का०।

अमितो गुणवन्तश्च न चासन्गुण वर्जिताः।
सन्धिविग्रह तत्वज्ञाः प्रकृत्या संपदान्विताः॥
श्लो० १८ सर्ग ७, बाल० का०।

‡—वध्याः खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण।
ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः॥
श्लो० ६ सर्ग ४१, अरण्य० का०।

+—कच्चिदात्म समाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मंत्रिणः॥
श्लो० १५ सर्ग १००, अयो० का०।

राम का यह कथन भी इस बात को सिद्ध करता है कि राजा के मंत्रियों का चरित्र बहुत ऊँचा होना चाहिए।

लगभग सभी हिन्दू राजनीति विचारकों ने मंत्रियों में बुद्धि बल और चरित्रबल के उच्च आदर्शों का समावेश किया है। मंत्रियों में इन अनिवार्य गुणों का अभाव राज्य को नष्ट कर देता है। वास्तव में मंत्रिमंडल के मंत्रियों के ही कंधों पर राज्य का सारा भार होता है। वही राज्य संचालन करते हैं न कि राजा। राजा का तो केवल यही कर्तव्य रह जाता है कि वह अपने कुशल एवं योग्य मंत्रियों की मंत्रणानुसार कार्य कराने का आदेश दें।

(ग) राज्य में निवास का अधिकार:—चरित्र तथा प्रतिभा-सम्बन्धी गुणों के अतिरिक्त अन्य विशेषताओं की भी आवश्यकताएँ मंत्रि-पद के लिए वांच्छनीय थीं। इनमें उसी राज्य में निवास का अधिकार भी एक विशेषता थी। इसीलिए महाभारत और रामायण में मंत्रिपद के लिए इस प्रतिबन्ध की ओर संकेत किए गए हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि में महाभारतकार ने शान्तिपर्व में लिखा है कि चाहे जितना योग्य और सदाचारी विदेशी क्यों न हो परन्तु उसे मंत्रि पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए।* केवल वह व्यक्ति मंत्री बनाना चाहिए जो उसी राज्य का नागरिक हो।†

रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों को पढ़ने से विदित होता है कि उस युग के मुख्य राज्यों में मंत्रिपद अपने राज्य के निवासियों को ही दिए गए थे। महाराज दशरथ के मंत्रियों के अयोध्या नगरी में ही वासस्थान थे। वह अयोध्या राज्य के ही निवासी थे। किष्किन्धा राज्य के मंत्री उसी जाति के थे जिसके कि स्वयं किष्किन्धा के राजा थे और अधिकांश उसी प्रदेश के निवासी भी थे। रावण के मंत्री भी लंका के निवासी थे और उसी राक्षस जाति के थे जिसका कि राजा रावण स्वयं था।

महाभारत में भी ऐसा ही है। हस्तिनापुर राज्य के प्रमुख मंत्री प्रायः

---

*—आगंतुश्चानुरक्तोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।
सत्कृतः सम्विभक्तो वा न मंत्र श्रोतुमर्हति॥
श्लो० ३८ अ० ८३, शा० प०।

†—स्वदेशजैः॥ श्लो० १६ अ० ८३, शा० प०।

उसी राज्य के थे। विदुर और संजय दोनों मंत्री थे। ये दोनों हस्तिनापुर राज्य के ही नागरिक थे। शकुनि जो दुर्योधन का मामा था और जिसने कुछ काल तक मंत्रिपद पर काम किया था वह विदेशी था और गान्धार देश का रहने वाला था। परन्तु वह दुर्योधन का केवल सम्मतिदाता था। धृतराष्ट्र ने राज्य के विषय में उसका कभी विश्वास नहीं किया और इसीलिए उसने शकुनि को हस्तिनापुर की मंत्रिपरिषद में स्थान नहीं दिया था।

मंत्रियों की नियुक्ति में पैतृक अधिकार का सिद्धान्त भी इसी विचार का प्रतिपादन करता है। उदाहरण के लिए भावी मंत्री का पिता मंत्री होने के नाते अथवा अवकाश प्राप्त मंत्री होने के कारण स्थायीरूप से उस राज्य का जिसका कि वह मंत्री है अथवा रह चुका होगा, राजधानी का निवासी अवश्य होगा। यदि ऐसा नहीं है तो राजा की प्रत्येक आवश्यकता तथा निमंत्रण पर वह कैसे उपस्थित हो सकेगा? मंत्री को तो सभाभवन के समीप ही किसी न किसी एक कोठी में रहना ही होता होगा। अतः इस प्रकार के मंत्रियों के पुत्र स्वाभाविक रूप से ही राज्य के नागरिक हो जाएँगे।

मंत्रिपद के लिए राज्य का निवासी होना वाञ्छनीय था यह विचार कई हिन्दू राजनीति विचारकों ने व्यक्त किए हैं और मंत्रिपद के लिए उन्होंने भी यह प्रतिबन्ध लगाया है। ऋग्वेद भी इस ओर कुछ संकेत करता है। ऋग्वेद राजा के लिए तो यह स्पष्ट कहता है कि हम लोगों को अपने ही देशवासी को राज पद पर अभिषिक्त करना चाहिए।* जब ऋग्वेद राजपद के लिए यह प्रतिबन्ध लगाता है तो यह भी सम्भव है कि यही प्रतिबन्ध मंत्रिपद पर भी लगाया जाता होगा।

कौटिल्य महोदय अपने अर्थशास्त्र में ऐसे ही विचार प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि मंत्री उसी राज्य का जिसका कि वह मंत्री बनाया जा रहा है निवासी होना आवश्यक है।†

---

*—अस्मैवेतः संवृज्यते॥ ऋग्वेद।

†—जानपदो ऽभिजातः॥

वार्ता १ अ० ९ अधि० १, अर्थशास्त्र।

इस सिद्धान्त के मूल में यह रहस्य है कि राज्य का नागरिक होने के नाते उसे अपने राज्य के प्रति विशेष भक्ति होगी। वह अपनी मातृभूमि के प्रति विश्वासघात न करेगा। दूसरे राज्य का निवासी विदेशी होने के नाते शासन कार्य में सदैव विश्वास करने योग्य नहीं होता। विशेष कर राज्य के उस विभाग में जिस पर कि राज्य का जीवन ही निर्भर हो। उसका अपने राज्य के राजा से मिल जाना स्वाभाविक है। ऐसे मंत्री से राज्य का कितना अनिष्ट हो सकता है कल्पना की जा सकती है। आधुनिक राज्यों में यह प्रतिबन्ध लगाया जाता है। वर्तमान युग में तो इस सिद्धान्त का इतना महत्व बढ़ गया है कि राज्य में किसी भी पद की प्राप्ति के लिए उस राज्य का नागरिक होना एक अनिवार्य प्रतिबन्ध माना गया है और जो इस युग में प्रत्येक सभ्य राज्य में कठोरता के साथ बरता जा रहा है।

(घ) प्रजा के विश्वास का अधिकारः—महाभारत ग्रंथ के अनुसार मंत्रिपद के लिए प्रजा उस पर विश्वास रखती हो यह प्रतिबन्ध भी अनिवार्य समझा जाता था। महाभारत के शान्तिपर्व में यह स्पष्ट लिखा हुआ है कि मंत्रिपद उसे देना चाहिए जिसमें उस राज्य के राष्ट्र और पुर की जनता का विश्वास स्वाभाव से ही हो।* जिस व्यक्ति में पुर और राष्ट्र की जनता का विश्वास न हो उसे कदापि मंत्री न बनाए। इसलिए राज्य के मंत्रियों के लिए यह बात आवश्यक थी कि वह राज्य की प्रजा के हृदयों में अपना विश्वास जमा लेते। यह सम्भव है कि मंत्रिगण तभी तक अपने पद पर रह सकते होंगे जब तक कि राज्य की जनता उन पर विश्वास रखती होगी। इसलिए राजा को मंत्री की नियुक्ति वा उसे पदच्युत करने के समय इस ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता था कि उस राज्य में इस सम्बन्ध में लोकमत उसके साथ है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उस युग में यह परिपाटी बन चुकी थी कि राजा उन व्यक्तियों में से अपने मंत्री चुनता था जिनके लिए प्रजा की सम्मति, यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष, अवश्य होती थी।

---

*— पौरजान पदायस्मिन् विश्वास धर्मतोगताः ॥

श्लो० ४६ अ० ८३, शा० प०।

(ङ) आयु का अधिकारः—मंत्रियों की नियुक्ति में आयु का विचार प्रमुख स्थान रखता था। राज्य के मंत्रिपद के लिए बहुत बड़े अनुभव की आवश्यकता पड़ती थी। यही बात इस सिद्धान्त की पोषक है। क्यों कि शासन सम्बन्धी बड़े अनुभव प्राप्ति के लिए ऐसा अवश्य हुआ होगा कि राज्य के अन्य पदों पर रहकर मंत्री बनने के पूर्व उसने शासन सम्बन्धी अनुभव को प्राप्त किया होगा। इस बड़े अनुभव के प्राप्त करने के लिए उसे अपनी आयु का बहुत बड़ा भाग मंत्रिपद के अतिरिक्त राज्य के अन्य क्षेत्रों में क्रियाशील होकर कार्य करने में लगाना पड़ा होगा। सामान्य रीति से पहले वह स्थानीय संस्थाओं में रह कर ख्याति प्राप्ति करेगा, फिर वह प्रान्तीय संस्थाओं में भाग लेगा तत्पश्चात वह केन्द्रीय शासन कार्य में भाग लेने योग्य बन सकेगा। यहाँ भी जब वह अपने विशेष अनुभव एवं प्रतिभा तथा कौशल के लिए प्रसिद्धि पा लेने पर मंत्रिपद के योग्य समझा जा सकेगा। इस प्रकार उसकी आयु का बहुत बड़ा भाग अनुभव प्राप्ति के कार्यों में व्यतीत हो जाना सम्भव है। इसलिए मंत्रिपद पर पहुँचने के समय वह अपनी आयु का अधिक भाग भोग चुकेगा। इस दृष्टि से भी आयु सम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर हो जाता है।

महाभारत पर श्री नीलकण्ठ ने जो अनुक्रमणिका लिखी है उसके अनुसार मंत्री की आयु न्यून से न्यून पचास वर्ष होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में शान्तिपर्व के पच्चासीवें अध्याय के श्लोक संख्या नौ पर उन्होंने जो टिप्पणी दी है उसमें यह स्पष्ट लिखा है कि मंत्रि-परिषद के प्रत्येक मंत्री की आयु न्यून से न्यून पचास वर्ष होनी चाहिए।*

महाभारत के सभापर्व में नारद ने मंत्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए युधिष्ठिर से पूछा है—क्या तुमने आत्मा के समान शुद्ध, समझाने में समर्थ, कुलीन, प्रेमी और वृद्ध मंत्री नियुक्त किए हैं ?† नारद का यह कथन भी इसी बात का साक्षी है कि महाभारत

---

* —पंचाशत वर्षवर सन्तियेकैकस्य ॥

नीलकण्ठ टिप्पणी श्लोक संख्या ९ अ० ८५, शा० प० पर।

†—कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधन क्षमाः।

× × × × कृतास्तेवीर ! मंत्रिणः ॥

श्लो० २७-२८ अ० ५, सभा प०।

काल में:मंत्रियों की नियुक्ति के समय आयु का भी विचार किया जाता था। नारद के विचार से मंत्रियों को वृद्ध होना चाहिए।

रामायणकार ने भी दशरथ के कुछ मंत्रियों के लिए वृद्ध शब्द का प्रयोग किया है। राजा दशरथ के कम से कम सुमंत्र और सिद्धार्थ नाम के दो मंत्री वृद्ध अवश्य थे। क्योंकि रामायण में उन्हें वृद्ध शब्द से सम्बोधित किया गया है।* रावण के मंत्रि परिषद में भी वृद्ध मंत्री थे। लंका में सीता की बन्दी अवस्था में सरमा नाम की एक स्त्री रक्षिका सीता की देख भाल के लिए रावण द्वारा रखी गई थी। उसने सीता से यह कहा था कि आपको छोड़ देने के लिए रावण की माता ने उसे बहुत समझाया, रावण के हितैषी वृद्ध मंत्री ने भी उससे बहुत कहा।† परन्तु वह इस बात पर सहमत न हुआ। निषादराज गुह के मंत्री भी रामायण में वृद्ध ही बतलाए गए हैं। वनवास की अवस्था में वह अपनी जाति के लोगों तथा वृद्ध मंत्रियों के साथ राम से मिला था।‡ किष्किन्धा राज्य के मंत्रियों पर भी यही बात लागू थी। नल, नील, मयन्द प्रभृति मंत्री निश्चित रूप से वृद्ध थे।

महाभारत में भी ऐसे राजाओं की संख्या अधिक है जिनकी मंत्रि-परिषद में वृद्ध मंत्री थे। महाराज शान्तनु की मंत्रि-परिषद में एक वृद्ध मंत्री था। राजा शान्तनु सत्यवती से विवाह करना चाहते थे। परन्तु सत्यवती का पिता जिस प्रतिबन्ध के साथ अपनी कन्या का विवाह करना चाहता था वह शान्तनु को प्रिय न था। इसीलिए वह चिन्तित रहा करते थे। शान्तनु पुत्र देवव्रत ने अपने पिता की चिन्ता का कारण

---

*— तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसंमताः ॥

श्लो० ४४ सर्ग १४, अयो० का०।

तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थोनाम नामतः ॥

†—जनन्या राक्षसेन्द्रो वै त्वन्मोक्षार्थं बृहद्वचः।
अति स्निग्धेन वैदेहि मंत्रिवृद्धेन चोदितः ॥

श्लो० २० सर्ग ३४, युद्ध का०।

‡—वृद्धैः परिवृत्तो ऽमात्यैर्ज्ञाति भिश्चाप्युपागतः ॥

श्लो० ३४ सर्ग ४०, अयो० का०।

अपने पिता के वृद्ध मंत्री से पूछा था ।* सम्वरण नामक राक्षसराज का मंत्री भी वृद्ध था । अपने राजा को पृथ्वी पर मूर्छित पड़ा हुआ देखकर जैसे पुत्र को पिता उठावे उसी भाँति, बुद्धि, आयु, कीर्ति और नीति में वृद्ध मंत्री ने राजा (संवरण) को भूमि से उठाया और स्वस्थ हुआ ।† दैत्यराज के मंत्री भी वृद्ध थे । महाभारत के आदिपर्व में एक कथा है जिसमें दैत्यों की विजय का वर्णन है । इस सम्बन्ध में नारद ने इस प्रकार कहा है कि त्रैलोक्य की विजय की इच्छावाले दैत्यों ने मंत्रणा करके अपनी सेनाओं को आज्ञा दी । मित्र तथा वृद्ध दैत्य मंत्रियों ने भी इनको अपनी अनुमति दे दी ।‡ महाभारत में रामायण की कथावस्तु का भी वर्णन है । इस कथा के अन्तर्गत ऐसा वर्णन दिया हुआ है कि रावण की मृत्यु के पश्चात् उसके वृद्ध एवं योग्य मंत्री अविंध्य ने राम के पास आकर सीता उन्हें समर्पित की ।+ मद्र देश के राजा अश्वपति ने अपनी पुत्री सावित्री को अपने वृद्ध मंत्री के साथ उसी के अनुरूप वर ढूँढने के लिए भेजा था ।× धृतराष्ट्र का मंत्री विदुर उतना ही वृद्ध था जितना कि स्वयं धृतराष्ट्र । संजय उसका दूसरा मंत्री भी वृद्ध ही था ।

उपरोक्त वर्णनों के आधार पर जो कि रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में दिए हुए हैं यह निश्चित है कि मंत्रि परिषद का मुख्य

---

*—अभ्यगच्छत्तदैवा ऽऽशुवृद्धामात्यं पितुर्हितम् ।
तमपृच्छत्तदाऽभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥
श्लो० ७३ अ० १००, आदि प० ।

†—प्रज्ञया वयसा चैव वृद्धः कीर्तिया नयेन च ।
अमात्यस्तं समुत्थाप्य बभूव विगतज्वरः ॥
श्लो० ६ अध्या० १७५, आदि० प० ।

‡—सुहृद्भिर प्यनुज्ञातौ दैत्यैर्वृद्धैश्च मंत्रिभिः ॥
श्लो० २ अ० १२२, आदि० प० ।

+— अविंध्योनाम सुप्रज्ञो वृद्धमात्यो विनिर्ययौ ।
श्लो० ६ अ० २९०, वन प० ।

×—एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धाश्च मंत्रिणः ।
श्लो० ३६ अ० २९२, वन प० ।

मंत्री तो वृद्ध होता ही था। यद्यपि ऐसा कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं है जिसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि मंत्रिपरिषद की सदस्यता के लिए केवल अधिक आयुवाले व्यक्ति ही नियुक्त किए जा सकते थे। फिर भी रामायण और महाभारत के मुख्य राजाओं के मंत्री वृद्ध बतलाए जाने के कारण यह सम्भव है कि इन राजाओं के समस्त मंत्री अधिक अवस्था के हों और उनकी नियुक्ति के समय भीष्म के कथनानुसार कम से कम पचास वर्ष की आयु के प्रतिबंध पर विचार किया जाता होगा। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उस युग में मंत्रियों की नियुक्ति के समय आयु का विचार अवश्य किया जाता होगा।

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या—मंत्रिपरिषद में मंत्रियों की संख्या कितनी होनी चाहिए, इस विषय पर हिन्दू शास्त्रकारों में मतभेद है। कौटिल्य महोदय ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए विभिन्न शास्त्रकारों के मत अपने प्रसिद्ध ग्रंथ अर्थशास्त्र में दिए हैं। उन्होंने लिखा है—मनु के मत के माननेवालों ने मंत्रिपरिषद में बारह मंत्री रखने का विधान किया है।* बृहस्पति के मतानुयायियों ने सोलह† और शुक्राचार्य के मत के माननेवालों ने बीस सदस्य रखना स्वीकार किया है।‡ परन्तु कौटिल्य का मत है कि जैसा समय देखे उतने ही सदस्य मंत्रिपरिषद में रखने चाहिए।×

मनु ने मानव धर्मशास्त्र में मंत्रिपरिषद के मंत्रियों की संख्या निर्धारित करते हुए लिखा है कि मूल से जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया है, शूर, उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ कुलीन वंश में उत्पन्न और सुपरीक्षित

---

*—**मंत्रिपरिषदं द्वादशामात्यान्कुर्वीतेति मानवाः।**
वार्ता ५३ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

†—**षोडशेतिबार्हस्पत्याः।**
वार्ता ५४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र।

‡—**विंशतिमित्यौशनसाः।**
वार्ता ५५ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

×—**यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः।**
वार्ता ५५ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

सात व आठ मंत्री होने चाहिए।* शुक्र ने शुक्रनीति में आठ वा दस मंत्रियों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है।† राजा दशरथ के मंत्रियों की संख्या आठ थी। इससे पता चलता है कि वाल्मीकि भी आठ मंत्रियों के रखने के समर्थक थे।‡

महाभारत में मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या कहीं अधिक बतलाई गई है। शान्ति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजा को अपने मंत्रिपरिषद में सैंतीस सदस्यों की नियुक्ति करनी चाहिए। यह सदस्य चारो वर्णों के प्रतिनिधि स्वरूप होने चाहिए जिससे राज्य की जनता के प्रत्येक वर्ग एवं हितों की भली भाँति रक्षा हो सके। इन सदस्यों की नियुक्ति इस प्रकार होनी चाहिए—चार ब्राह्मण सदस्य हों जो महान् पंडित श्रेष्ठ आचरणवान, वेदज्ञ और सामान्य ज्ञान में कुशल हों।× क्षत्रिय वर्ण के आठ सदस्य होने चाहिए जो अपने शरीर एवं बुद्धि बल के लिए प्रसिद्ध हों। इक्कीस धनी वैश्य तथा तीन शुद्धाचरणधारी शूद्र इस परिषद के सदस्य होने चाहिए। इन सदस्यों के अतिरिक्त आठों गुणों से युक्त एवं पुराणवेत्ता एक सूत सदस्य होना आवश्यक है। यह सदस्य जन्म से सूत होना चाहिए।+

मंत्रिपरिषद में मंत्रियों की इतनी बड़ी संख्या रखने की आवश्यकता पर भीष्म महोदय ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है—एक ही मनुष्य में शासन-सम्बन्धी सारे वाञ्छनीय गुण पाए नहीं जाते अतः

---

*—मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ प्रकुर्वीतपरीक्षितान्।
श्लो० ५४ अ० ७, मानवधर्मशास्त्र।

†—अमात्योदूत इत्येताराज्ञः प्रकृतियोदश।
श्लो० ७० अ० २, शुक्रनीति।
अष्ट प्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित्स्मृतः सदा।
श्लो० ७१ अ० २, शुक्रनीति।

‡—अष्टौ बभूर्वुवीरस्यतस्यामात्याः।
श्लो० अ० ७, बा० का०।

×—श्लो० ७ अ० ८५, शा० प०।

+—श्लो० ८ अ० ८५, शा० प०।

राजा को कई ऐसे व्यक्तियों को अपना मंत्री बनाना चाहिए जो भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञ हों।* इस सम्बन्ध में कौटिल्य का भी कथन है कि राज्य का रथ अकेले राजा के एक पहिये से नहीं चला करता इसलिए अमात्यादि दूसरे चक्र की आवश्यकता पड़ती है।† शुक्राचार्य ने शुक्रनीति में लिखा है—भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार का बुद्धि वैभव देखा गया है। अकेला मनुष्य सब कुछ जान लेने में समर्थ नहीं है; इसलिए राजा को विद्वान और बुद्धिमान पुरुषों की प्रजापालन के कार्य में अवश्य सहायता लेनी चाहिए।‡ इन्हीं विचारों का मानव धर्म-शास्त्र में दूसरे शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया गया है—जब कि सुगम काम भी एक व्यक्ति से होना कठिन है तो विशेषकर बड़े फल का देनेवाला राज्य सम्बन्धी काम एक व्यक्ति के द्वारा कैसे पूरा हो सकता है! ×

इस प्रकार महाभारतकार ने मंत्रिपरिषद में सदस्यों की इतनी बड़ी संख्या इसलिए रक्खी थी कि जिससे विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ मंत्रि-परिषद में स्थान पा सकें और जिससे राजा को हर विषय पर श्रेष्ठतम मंत्रणा मिलने का सुअवसर प्राप्त हो सके।

---

*—दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्युतौ गुणैः शुभैः।
श्लो० ५ अ० ८५, शा० प०।

नकस्मिन्पुरुषे ह्येतेविद्यन्त इति मे मतिः।
श्लो० ४ अ० ८५, शा० प०।

†—सहाय साध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च श्रुणुयान्मतम्।
श्लो० १५ अ० ७ अधि० १, अर्थशास्त्र।

‡—पुरुषे पुरुषे भिन्नंदृश्यते बुद्धि वैभवम्।
न हितत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन् शक्यते॥
श्लो० ५-७ अ० २, शुक्रनीति।

×—अपि यत्सुकरं कर्म तप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्॥
श्लो० ५५ अ० ७, मानव धर्मशास्त्र।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि महाभारत कालीन मंत्रि-परिषद में वैश्य वर्ण के सदस्यों की संख्या सबसे अधिक निर्धारित की गई है। इसका मुख्य कारण यह था कि हिन्दू समाज के भरण-पोषण का भार वैश्य वर्ण पर ही था। कृषि, पशुपालन और धन के लेन-देन का सारा कार्य इसी वर्ण के हाथ में था और यही तीन कार्य हिन्दूसमाज की आधार शिला थे। इसलिए राज्य के शासन की मुख्य शाखा में वैश्य वर्ण का प्रतिनिधित्व इस मात्रा में होना न्यायसंगत ही था।

मंत्रि परिषद् की अंतरंग समिति—महाभारतकार ने, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है राजा की मंत्रि परिषद में सैंतीस सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है; परन्तु इतनी बड़ी परिषद के लिए राज्य के महत्वपूर्ण विषयों के रहस्यों को गुप्त रखना एवं शासन कार्य संचालन में विशेष कौशल का होना असम्भव है। इस बात को महाभारत-कार ने भली भाँति समझ लिया था। इसलिए इस गहन समस्या का सुलझाना परमावश्यक था। महाभारतकार ने इस परमावश्यक समस्या को सुलझाने के लिए यह उचित समझा कि राजा को मंत्रि परिषद के सदस्यों में से सर्वश्रेष्ठ आठ सदस्यों की एक समिति का निर्माण कर लेना चाहिए। इस प्रकार बड़ी मंत्रिपरिषद में से आठ सर्वश्रेष्ठ सदस्यों की समिति बनाने का विधान महाभारत के शान्ति पर्व में है।*

वाल्मीकीय रामायण में इतनी बड़ी मंत्रि परिषद का जिसका कि वर्णन महाभारत में है, उल्लेख नहीं किया गया है।† राजा दशरथ एवं भरत दोनों के मंत्रियों की संख्या आठ बतलाई गई है। रामायण में वर्णित अन्य राजाओं जैसे रावण, जनक, वालि, सुग्रीवादि के मंत्रियों की संख्या ठीक-ठीक नहीं दी गई है। इसलिए निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि राजा दशरथ तथा भरत की मंत्रिपरिषद के यह आठ सदस्य किसी बड़ी मंत्रिपरिषद से चुने हुए थे अथवा केवल यही आठ सदस्य मंत्रिपरिषद का निर्माण करते थे।

---

*—अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत् ॥

श्लो० ११ अ० ८५, शा० प० ।

†—धृष्टिजयन्तो विजय सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः ।
अकोपो धर्मपालश्च सुमंत्रश्चाष्टमोऽर्थवित ॥

श्लो० ३ सर्ग ७२, उत्तर का० ।

मंत्रियों की परम अंतरंग समिति:—मंत्रिपरिषद के सर्वश्रेष्ठ आठ सदस्यों की समिति से एक छोटी समिति के निर्माण की ओर रामायण और महाभारत दोनों संकेत करते हैं। इस छोटी समिति के सदस्य राजा के वास्तविक मंत्री थे और उन्हीं पर राजा की मंत्रणा का भार निर्भर था। यह मंत्री मंत्रिपरिषद के अन्तरंग समिति के सर्वश्रेष्ठ सदस्य थे। वाल्मीकि के मतानुसार इस समिति में तीन वा चार सदस्य होने चाहिए।* जिनसे शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर सम्मिलित वा प्रथक्-प्रथक् सम्मति लेना राजा का कर्तव्य था।† महाभारत में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है और उसमें भी यही बतलाया गया है कि इस समिति में तीन सदस्य होने चाहिए जिनसे राजा को प्रथक् वा संयुक्त परामर्श लेना अनिवार्य था।‡

मनु ने सात वा आठ मंत्रियों की समिति में से केवल एक सर्वश्रेष्ठ मंत्री को इस स्थान के लिए उचित समझा है। उन्होंने मानव-धर्मशास्त्र में लिखा है कि उन सब (सात वा आठ) मंत्रियों में से सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण मंत्री के साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।× परन्तु कौटिल्य ने इस मत का घोर विरोध किया है। इस सम्बन्ध में उनका मत इस प्रकार है—जो राजा एक ही मंत्री के साथ मंत्रणा करता है उसको मत भेद के स्थानों में ठीक-ठीक मंत्र का निश्चय नहीं हो सकता है। यदि राजा ने एक ही मंत्री विचार के लिए रखा है तो वह अपनी इच्छानुसार बिना किसी सोच विचार के उच्छृंखल नीति से भी चल

---

*—मंत्रिभिस्त्वं यथोदिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेवच।

श्लो० ७१ सर्ग १००, अयो० का०।

†—कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मंत्रं मंत्रय सेवुधाः॥

श्लो० १७ सर्ग १००, अयो० का०।

‡—तेषां त्रयाणां विविधि विमर्शं विबुद्ध्य॥

श्लो० २३ अ० ८३, शा० प०।

×—सर्वेषां तुविशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्य संयुतम्॥

श्लो० ५८ अ० ७, मानव धर्मशास्त्र।

सकता है।* जो राजा अपने राजनीति के विषयों का दो मंत्रियों के साथ विचार करते हैं वह भी ठीक नहीं है। यदि दोनों मंत्री मिल जाएँ तो राज्य का मंत्र उचित रूप से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि दो का मिल जाना बहुत सम्भव है।† यदि दोनों मंत्रियों में मतभेद वा अनबन हो जाय तो किसी बात का निर्णय ही न हो सकेगा और कार्य का सर्वथा नाश हो जायगा।‡ यदि तीन वा चार मंत्री हों तो इस ढंग के अनर्थ के आने की बहुत ही कम सम्भावना होती है। कार्य ठीक-ठीक चलता रहता है ऐसा ही देखा गया है।× यदि चार से अधिक मंत्री नियुक्त किये गये तो फिर किसी भी कार्य का निश्चय करना कठिन हो जाता है और मंत्र की रक्षा नहीं हो सकती है।+

इस प्रकार कौटिल्य ने भी मंत्रिपरिषद के सदस्यों में से सर्वश्रेष्ठ तीन वा चार मंत्रियों की समिति का विधान किया है। इस नाते से कौटिल्य और रामायण तथा महाभारतकार में समानता पाई जाती है।

---

*—मंत्रयमाणो ह्येकेनार्थ कृच्छ्रेषु निश्चयं नाधिगच्छेत् ॥

वार्ता ३८ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

एकश्चमंत्री यथेष्टमनवग्रहश्चरति ॥

वार्ता ३९ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

†—द्वाभ्यां मंत्रयमाणो द्वाभ्यां संहताभ्यामवगृह्यते ॥

वार्ता ४० अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

‡—विगृहीताभ्यां विनाश्यते ॥

वार्ता ४१ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र।

×—त्रिषु चतुर्षु वा नैकान्तं कृच्छ्रेणोपपद्यते महा दोषं ॥

वार्ता ४२ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

उपपन्नं तु भवति ॥

वार्ता ४३ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

+—ततः परेषु कृच्छ्रेणार्थ निश्चयो गम्यते ॥

वार्ता ४४ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

मंत्रो वा रक्ष्यते ॥

वार्ता ४५ अ० १५ अधि० १, अर्थशास्त्र।

मंत्र गुप्त रखने तथा कार्य कुशलता का ढंग—मंत्रि परिषद के अन्तर्गत अन्तरंग समिति एवं उससे छोटी समिति का निर्माण इस आशय से किया जाता था कि मंत्र गुप्त रह सके और शासन-कार्य में सुचारुता आ सके। शासन-सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर मंत्रिपरिषद के प्रत्येक सदस्य से सदैव परामर्श लेना न तो सम्भव ही है और न उचित ही। ऐसा करने से व्यर्थ के लम्बे वाद-विवाद में समय नष्ट होता है और कार्य-संचालन में बाधा उपस्थित होती है। पिशुनाचार्य के मत की आलोचना करते हुए कौटिल्य ने ठीक ही लिखा है—यदि प्रत्येक कार्य के अध्यक्ष के साथ मंत्रणा की जाएगी तो मंत्रणा कहाँ तक लम्बी की जाय। इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी। अतः तीन या चार मंत्रियों के साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।*

रामायण तथा महाभारत दोनों इस विषय पर एकमत हैं कि बड़ी संख्या वाली समिति व परिषद के मध्य की गई मंत्रणा गुप्त नहीं रह सकती। परन्तु दोनों ग्रन्थ जनमत की उपेक्षा करने के भी पक्ष में नहीं हैं। दोनों का ही विश्वास है कि मंत्र गुप्त रहना चाहिए।† मंत्रियों के द्वारा दी हुई उत्तम मंत्रणा पर ही राज्य निर्भर रहता है।‡ इसी के सहारे राजा लोक कल्याण का गुरुतर भार वहन करने में सफल होता है। मंत्रियों के द्वारा निश्चित किया हुआ मंत्र तब तक

---

*—नेति कौटिल्यः ॥

वार्ता ३५ अ० १५, अधि० १, अर्थशास्त्र।

अनवस्थाह्येषा ॥

वार्ता ३६ अ० १५, अधि० १, अर्थशास्त्र।

मंत्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा मंत्रयेत् ॥

वार्ता ३७ अ० १, अधि० १, अर्थशास्त्र।

†—कच्चिन्मंत्रय से नैकः कच्चिन बहुभिः सह।
कच्चित्ते मंत्रितो मंत्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥

श्लो० १८, सर्ग १००, अयो० का०।
श्लो० ३१ अ० ५, सभा प०।

‡—मंत्रिणां मंत्र मूलं हि राजा राष्ट्रं विवर्द्धते।

श्लो० ४८ अ० ८३, शान्ति प०।

गुप्त रहना चाहिए जब तक कि उसे क्रियात्मक रूप न दे दिया जाए। केवल अवसर के प्राप्त होने पर इसका भेद खुलना चाहिए। मंत्रियों को मंत्र गुप्ति के लिए कछुए की तरह काम लेना चाहिए।* जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को छिपाकर रखता है। वह उन्हें तब तक छिपाए रखता है जब तक वह उन्हें बाहर निकालने की आवश्यकता अनुभव नहीं करता।

अत: मंत्रगुप्ति एवं कार्यकुशलता दोनों की दृष्टि से मंत्रिपरिषद से अंतरंग समिति और फिर उससे तीन वा चार सदस्यों की छोटी समिति का निर्माण करना अत्यधिक युक्तिसंगत था। आधुनिक काल में भी लगभग इसी प्रणाली से इंगलैंड जैसे राज्य में काम लिया जाता है। यह विधि उस युग में उत्तम समझी गई थी। मंत्रि परिषद में राज्य के चोटी के व्यक्ति सदस्य होते थे। उनमें से सर्वश्रेष्ठ सात वा आठ सदस्य चुनकर अन्तरंग समिति बनाई जाती थी। फिर इन सात वा आठ सर्वश्रेष्ठ सदस्यों में से तीन वा चार श्रेष्ठतम सदस्यों की एक छोटी समिति बनाने की प्रथा थी। इस विधि से राजा को राज्य के सवश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ पुरुषों से राज्य संचालन में हर समय परामर्श मिलता रहता था।

इस प्रकार रामायण और महाभारत-काल में बड़ी परिषद से छोटी समितियों का क्रमानुसार निर्माण करना, कार्य में सुचारुता एवं कुशलता तथा मंत्र को गुप्त रखने के विचार से एक उत्तम साधन समझा गया था। इस प्रणाली से राजा को हर समय उत्तम से उत्तम मंत्रियों से शासन सम्बन्धी विषयों पर परामर्श करने का अवसर मिलता था। अन्त में प्रत्येक आवश्यक विषय राजगुरु के समक्ष उसकी सम्मति के निमित्त प्रस्तुत करना उचित समझा जाता था। राजगुरु राज्य का योग्यतम तथा महान् व्यक्ति समझा जाता था।

कार्यप्रणाली—तीन वा चार मंत्रियों की छोटी समिति का राजा से घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। यह तीन वा चार सदस्य राजा के मंत्री कहलाते थे। इनसे परामर्श किए बिना कोई भी योजना राजा

---

*—गूहेत्कूर्म इव अंगानि ॥

श्लो० ४५ अ० ८३, शान्ति प०।

द्वारा कार्य में परिणत नहीं की जा सकती थी। इस समिति का प्रधान राजा स्वयं होता था। राजा इन मंत्रियों से पृथक्-पृथक् वा सामूहिक दोनों रूपों में मंत्रणा कर सकता था। अत्यन्त गोपनीय एवं विश्वसनीय महत्वपूर्ण विषय इस समिति के समक्ष प्रस्तुत किए जाते थे। प्रत्येक विषय पर जो कि इस समिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता था विशद विवेचना की जाती थी। मंत्रियों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक निर्णय तथा अपना स्वयं मत राजा राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत करता था।* राजगुरु का निर्णय लेकर राजा उस निर्णय को मंत्रिपरिषद के समक्ष उसकी स्वीकृति के हेतु रखता था।

महाभारत में मंत्रियों की इस छोटी समिति की बैठक होने के उचित स्थान का भी वर्णन दिया गया है। इस वर्णन में किया गया है कि इस समिति की बैठक खुले मैदान में वा राजभवन के ऊपरी खण्ड में होनी चाहिए। यदि मैदान में बैठक की जाए तो इस बात का ध्यान रहे कि मंत्रणा-स्थल के समीप लम्बी-लम्बी घास, झाड़ियाँ, वृक्ष वा अन्य छिपने के स्थान नहीं होने चाहिए जहाँ कोई व्यक्ति छिपकर मंत्रियों का वाद-विवाद सुन सके और समिति की गुप्त मंत्रणा को जान ले। वह स्थान जन-साधारण की पहुँच के बाहर होना चाहिए। गूँगे, बहरे, नपुंसक तथा ऐसे ही अन्य व्यक्तियों को ऐसे स्थल पर आने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए।† राजा तथा मंत्रियों के मध्य जिस स्थान पर गुप्त मंत्रणा हो रही हो वहाँ पक्षियों को भी न आने दिया जाए। वाद-विवाद इतना शान्त रूप से होना चाहिए कि बाहरी व्यक्ति उसे सुन न सके।

मंत्रिपरिषद की इस छोटी समिति से ऊपर सात वा आठ सदस्यों की अन्तरंग समिति थी। यह मंत्री राज्य संचालन करते थे। राज्य

---

*—तेषां त्रयाणां विविध विमर्श, विबुद्ध्य चित्रं विनिवेश्यतत्र।
स्व निश्चयं तत्प्रति निश्चयं निवेदयत् ······ गुरु॥
श्लो० ४३-४४ अ० ८६, शान्ति प०।

†—आरुह्य व वेश्म तथैव शून्यं स्थलं प्रकाशं काशहीनंषागङ्ग-
दोषान्परिहृत्य सर्वान्। संमंत्रयेत्कार्यमहीनकालम्॥
श्लो० ४ अ० ८३, शान्ति प०।

का समस्त शासनकार्य विभिन्न शासन विषयों के अनुसार कई विभागों में विभक्त किया जाता था। प्रत्येक विभाग एक मंत्री के अधीन रहता था। रामायण में इस बात का उल्लेख किया गया है कि सुग्रीव के प्लक्ष और प्रभाव नाम के मंत्री क्रमशः अर्थ तथा धर्म विभाग के अध्यक्ष थे।* प्रहस्त नाम का रावण का एक मंत्री था जो उसके सेना-विभाग का अध्यक्ष था।†

सात व आठ मंत्रियों की यह समिति कार्यकारिणी समिति थी जिसका मुख्य कर्तव्य शासन सम्बन्धी योजनाओं को रचनात्मक रूप देना था। इस प्रकार यह समिति मंत्रियों की छोटी समिति से भिन्न थी। छोटी समिति का मुख्य कर्तव्य मंत्र का निश्चय करना था। परन्तु यह समिति राज्य की शासन सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करती थी। इस समिति का भी प्रधान राजा होता था।

रामायण भी लगभग इसी कार्यप्रणाली की पुष्टि करती है। राजा दशरथ ने, जरावस्था को प्राप्त हो जाने पर, अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज पद देने का स्वयं निर्णय कर सुमंत्र से परामर्श किया। सुमंत्र ने राजा द्वारा प्रस्तुत किए गए विचार की सराहना की और अपनी सम्मति दी। तत्पश्चात यह प्रस्ताव मंत्रिपरिषद के समक्ष प्रस्तुत किया गया और मंत्रिपरिषद द्वारा स्वीकृति पा लेने के उपरान्त वह प्रस्ताव सभा के समक्ष रखा गया। सभा ने भी उसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। फिर राजा की आज्ञा से सभाद्वारा स्वीकृत किए गए प्रस्ताव को रचनात्मक रूप देने के निमित्त राजा ने पुनः उसे अपने मंत्रियों को सौंप दिया।

रामायण के पढ़ने से पता चलता है कि लंका राज्य में भी लगभग इसी प्रणाली से काम लिया जाता था। सरमा नाम की नारी-रक्षिका सीता को समझाती हुई कहती है—आपके मुक्त कर देने के लिए रावण के हितैषी बूढ़े मंत्री ने उसे बहुत समझाया। इस प्रकार बूढ़े

***—प्लक्षश्चैव प्रभावश्च मंत्रिणावर्थ धर्मयोः ॥**

श्लो० ४३ सर्ग ३१, किष्किन्धा का०।

†—प्रहस्तंवाहिनीपतिम् ॥

श्लो० १ सर्ग १२, युद्ध का०।

मंत्रियों ने उसे बहुत समझाया परन्तु वह तुझे लौटाना नहीं चाहता जैसे धन का लोभी धन छोड़ना नहीं चाहता। युद्ध में बिना मरे वह तुम्हें लौटाना नहीं चाहता यही क्रूर रावण तथा उसके मंत्रियों का निश्चय है।*

इस प्रकार रावण ने सीता सम्बन्धी समस्या अपनें मंत्रिपरिषद के समक्ष विचारार्थ रखी थी। मंत्रिपरिषद ने रावण द्वारा रख गए प्रस्ताव को बहुमत से स्वीकार किया था। उसके पश्चात रावण ने उसे क्रियात्मक रूप देने की आज्ञा दी थी।

महाभारतकार ने तैंतीस सदस्यों की जिस मंत्रिपरिषद का उल्लेख किया है उसका वर्णन रामायण में कहीं नहीं मिलता और न इसमें कहीं भी उसके कार्यक्षेत्र वा कार्यशैली का ही उल्लेख मिलता है। परन्तु दूसरे साधनों से इस ओर कुछ सहायता मिली है। कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि कठिन समस्या के प्रस्तुत होनें पर राजा को मंत्रिपरिषद बुलानी चाहिए। उस समय जिस बात की अधिकांश लोग पुष्टि करें उसी कार्य के सिद्ध करने का उपाय करना चाहिए।†

कौटिल्य के इस कथन से पता चलता है कि मंत्रिपरिषद के बहुमत द्वारा निर्णय पर राजा को निर्भर रहना पड़ता था।

मंत्रिपरिषद का महत्व महान था इस विषय पर अशोक के शिला-लेख भी संकेत करते हैं। अशोक के एक शिलालेख में ऐसा खुदा हुआ प्राप्त हुआ है कि वह इस परिषद की प्रत्येक कार्यवाही से भली भाँति भिज्ञ रहने के हेतु बड़ा चिन्तित रहता था। उसने दूतों (प्रतिवेदिकों) से स्पष्ट कहा है कि मुझे परिषद की दैनिक कार्यवाही से हर समय परिचित रहना चाहिए।‡

---

*—एवं स मंत्रिवृद्धश्च मात्रा च बहुबोधितः॥

श्लो० २३ सर्ग ३४ युद्ध का०।

नोत्सहत्यमृतो मोक्तुं युद्धे त्वामिति मैथिलि।

सामात्यस्यनृशंसस्य निश्चयो ह्येष वर्तते॥

श्लो० २४ सर्ग ३४ यु० का०।

†—अत्ययिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्।

तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्॥

वार्ता ६३-६४ अ० १५ अधि० १ अर्थ शास्त्र।

‡—अशोक के शिलालेख संख्या ६।

अशोक के इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिषद की बैठकें स्वतंत्र रूप से होती थीं। इसके सदस्यों को शासन सम्बन्धी विषयों पर विचार करने तथा उन पर निर्णय देने का पूर्ण अधिकार था।

इस प्रकार मंत्रिपरिषद अपनी छोटी समितियों की सहायता से राजा की स्वेच्छाचार पूर्ण योजनाओं पर नियंत्रण रखती थी। वह अपनी श्रेष्ठ मंत्रणा के द्वारा राजा को पथ प्रदर्शन करती थी। उसके समस्त दैनिक कार्यों की देख रेख कर राजा के कार्यक्षेत्र को सीमिति कर देती थी। इसी कारण उस युग में राजा अपने स्वतंत्र विचारों को कार्यान्वित करने में स्वच्छंद न था। उसे मंत्रिपरिषद द्वारा किए गए निर्णय के अनुसार आचरण करना पड़ता था। मंत्रिपरिषद राजा के हाथ का शस्त्र मात्र न थी वरन् वह राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग थी, जिसके बिना राजा सदैव असहाय था और शासनकार्य में नितान्त असमर्थ था। इस परिषद का निर्माण प्रजातंत्रवाद के मौलिक सिद्धातों के आधार पर होता था। इसके सदस्यों की नियुक्ति करते समय राजा को परम्परागत कतिपय प्रतिबन्धों की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता था और यह प्रतिबन्ध वैधानिक होने के कारण राजा द्वारा उपेक्षा की दृष्टि से कदापि नहीं देखे जा सकते थे। इस मंत्रिपरिषद की कार्य-प्रणाली भी प्रजातंत्रवाद के मौलिक सिद्धान्तों पर आश्रित थी। शासन सम्बन्धी विषयों पर स्वतंत्र विवेचन करने का प्रत्येक सदस्य को अधिकार होना, बहुमत से निर्णय पर पहुँचना एवं इस निर्णय के अनुसार शासन किया जाना आदि ऐसे सिद्धान्त हैं जो प्रजातंत्रात्मक राज्य के मुख्य तत्व कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से रामायण और महाभारतकालीन मंत्रिपरिषद प्रजातंत्रात्मक राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग समझी जाएगी।

ब्राह्मणपरिषद्—रामायण के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अयोध्या राज्य की राजधानी में एक ब्राह्मणपरिषद भी थी जिसका वहाँ के राजा से घनिष्ट सम्बन्ध था। इस ब्राह्मणपरिषद में राज्य के चोटी के ब्राह्मण सदस्य थे जो अपने बुद्धिबल एवं उच्चाचरण के लिए विख्यात थे। इन ब्राह्मणों की संख्या नौ थी। उनके नाम वसिष्ठ, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, मार्कण्डेय, मौद्गल्य, विजय, गौतम और

जाबालि थे ।* इनमें मुख्य वसिष्ठ थे। राजा दशरथ ने राम को युवराज पद देने के निमित्त प्रजा की स्वीकृति लेने के लिए जिस बड़ी परिषद को अयोध्या नगरी में बुलाया था उसमें इस ब्राह्मणपरिषद के सदस्य भी सम्मिलित हुए थे । यद्यपि इन ब्राह्मणों के नाम इस अवसर पर नहीं दिए गए हैं परन्तु इस प्रकरण में जो वर्णन दिया गया है उसके पढ़ने से इनकी उस परिषद में उपस्थिति थी ऐसा बोध होता है। राजा अपने विचार परिषद के समक्ष रखते हुए कहते हैं—मुझे यह प्रिय है कि राम अयोध्या के युवराज बनाए जाएँ क्योंकि मैं अब वृद्ध हो गया हूँ। राम मेरे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र हैं। परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि मेरे समीप बैठे हुए यह ब्राह्मण इस बात की अनुमति दे दें कि राम अयोध्या के युवराज बनाए जाएँ ।†

राजा के इस कथन से ब्राह्मण परिषद के महत्व का बोध होता है और यह पता चलता है कि इस परिषद की स्वीकृति बिना प्राप्त किए हुए नये राजा की नियुक्ति नहीं हो सकती थी। इस प्रकार इस ब्राह्मण-परिषद को राज्य के वास्तविक अधिकार प्राप्त थे ।

राजा दशरथ की मृत्यु के उपरांत वही ब्राह्मण परिषद जनता के सामने उपस्थित होकर भावी राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में चर्चा करती हुई दिखाई गई है । इस स्थल पर यह ब्राह्मण राजकर्ता के नाम से सम्बोधित किए गए हैं ।‡ राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात चौदह दिन व्यतीत हो जाने पर यह राजाकर्ता एकत्र होकर भरत को अयोध्या का

---

*—मार्कंडेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवस्य च कश्यपः ।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महा यशाः ॥
श्लो० ३ सर्ग ६७, अयो० का० ।
एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन् ।
वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितं ॥
श्लो० ४ सर्ग ६७, अयो० का० ।

†—सन्निकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥
श्लो० १० सर्ग २, अयो० का० ।

‡—समेत्य राज कर्त्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ॥
श्लो० २ सर्ग ६७, अयो० का० ।

रिक्त राजपद प्रदान करते हैं। इस स्थल पर भी वह राजकर्ता के नाम से सम्बोधित किए गए हैं।*

यही ब्राह्मण भरत के साथ राम को मनाने के लिए चित्रकूट गए थे। वहाँ उन्होंने अयोध्या का राज्य राम को सौंपने का प्रयत्न किया था। उस समय राम और भरत दोनों अयोध्या का राज्य ग्रहण नहीं करना चाहते थे और इसी विषय पर दोनों भाइयों में मतभेद था। वसिष्ठ ने दोनों के बीच समझौता कर इस मतभेद को दूर कर दिया था।

चौदह वर्ष वनवास व्यतीत कर जब राम अयोध्या लौट आए थे उस समय भी ब्राह्मणपरिषद के यह सदस्य उपस्थित थे। उन्होंने राम के राज्याभिषेक में प्रमुख भाग लिया था। वसिष्ठ, वामदेव, विजय, जाबालि, कश्यप, कात्यायन और गौतम ने पवित्र जल से राम का अभिषेक किया था।† इस स्थल पर रामायणकार ने लिखा है कि ब्राह्मणों ने राम का राज्याभिषेक उसी प्रकार किया था जैसे कि इन्द्र का राज्याभिषेक देवों द्वारा हुआ था।‡

---

*—ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे ॥
समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥
श्लो० १ सर्ग ७९, अयो० का०।

त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः ॥
श्लो० ३ सर्ग ७९, अयो० का०।

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् ॥
अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान्नरर्षभ ॥
श्लो० ४ सर्ग ७९, अयो० का०।

†—वसिष्ठो विजयश्चैव जाबालिरथ काश्यपः।
कात्यायनो गौतमश्च वामदेवस्तथैव च ॥
श्लो० ६० सर्ग १२८, युद्ध का०।

अभिषिचन्नरव्याघ्रं प्रसन्नेन सुगंधिना। सलिलेन × × × ॥
श्लो० ६१ सर्ग १२८, युद्ध का०।

‡—सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा ॥
श्लो० ६१ सर्ग १२८, युद्ध का०।

इस प्रकार यह ब्राह्मणपरिषद राजा पर अपना महान् प्रभाव रखती थी। राजा को इसके द्वारा बतलाए गए पथ पर चलना पड़ता था।

अतः मंत्रिपरिषद और ब्राह्मण परिषद के होते हुए राज्य के शासन क्षेत्र में शायद ही राजा को कोई ऐसा अवसर मिलता होगा जब वह अपने स्वेच्छाचार पूर्ण विचारों के अनुसार कोई कार्य प्रारम्भ करता हो। इन संस्थाओं के गहन प्रभाव, एवं इनके संरक्षण तथा नियंत्रण के कारण राज्य में राजा का स्थान एक प्रतिष्ठित सेवक का स्थान बन गया था। इन परिषदों का निर्माण इसी उद्देश्य से किया गया था कि राजा की शासन सम्बन्धी स्वेच्छाचार पूर्ण योजनाओं पर नियंत्रण लगाकर उसे सन्मार्ग पर ले जाना चाहिए जिससे राजा लोककल्याण के गुरुतर भार को कुशलतापूर्वक वहन कर सकता।

इसलिए यह परिषदें प्रजातंत्रात्मक राज्य के मुख्य अंग मानी जाएँगी और इन्हें प्रजातंत्रात्मक राज्य के मूल तत्वों में सम्मिलित करना उचित ही होगा। इन संस्थाओं ने रामायण और महाभारत काल में प्रजातंत्रात्मक राज्य के विकास एवं उसके संस्थापन में बड़ा सहयोग दिया है।

चतुर्थ अध्याय

सभा

रामायण और महाभारत में सभा शब्द का प्रयोगः—रामायण तथा महाभारत ग्रन्थों में सभा शब्द का प्रयोग सभाभवन तथा सदस्यों की बैठक दोनों के लिए किया गया है। रामायण के अयोध्या काण्ड में एक स्थल पर इस प्रकार का वर्णन मिलता है—राजा दशरथ ने अपनी प्रजा के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों की एक परिषद सभा-भवन में अपने पुत्र राम को युवराज बनाने की स्वीकृति लेने के हेतु बुलाई थी। इस परिषद की बैठक हो जाने के उपरान्त राजा दशरथ ने राम को सभाभवन में बुलाकर इस बात की सूचना दी थी कि प्रजा ने स्वयं उन्हें अयोध्या का युवराज वरण किया है।*

राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त राजगुरु वसिष्ठ और राजकर्ता-गण सभाभवन में एकत्र हुए थे और उन्होंने भावी राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में अपने-अपने मत प्रदर्शन किये थे।† वसिष्ठ ने इस सभा में प्रवेश किया था।‡

---

*—तेन विभ्राजिता तत्र सा सभापि व्यरोचत ॥

श्लोक ३६ सर्ग ३, अयो० का०।

†—समेत्य राजकर्त्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ॥

श्लो० २ सर्ग ६७, अयो० का०।

‡—सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥

श्लो० १ सर्ग ८१ अयो० का०।

रामायण के युद्ध काण्ड में यह वर्णन दिया हुआ है कि राजा रावण की सभा उसके राजभवन से कुछ दूरी पर स्थित थी। राजा अपने रथ में बैठ कर सभाभवन को गया था। उस समय सभा की बैठक नहीं हो रही थी।*

महाभारतकार ने भी सभा शब्द का प्रयोग इन्हीं दो अर्थों में किया है। नारद ने राजा युधिष्ठिर के पास जाकर कई प्रकार की सभाओं की चर्चा की है। उन्होंने इन्द्र, वरुण आदि के सभाभवनों का विशद वर्णन किया है जिसमें उनके आकार-प्रकार एवं सजावट आदि का विशेष उल्लेख है।† वृष्णियों की सभा सुधर्मा के नाम से विख्यात थी।‡ मयदानव ने राजा युधिष्ठिर के लिए अत्यन्त रमणीय एवं विशाल सभा बनाई थी।× इन्द्र ने राजा नल को आदेश दिया था कि वह दमयन्ती को इस बात की सूचना दें कि इन्द्र, वरुण, यम और कुवेरादि दिग्पाल उसके स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए सभा (सभाभवन) में पहुँच चुके।+

इन उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ ऐसे उदाहरण भी रामायण

---

*—तमास्थाय रथश्रेष्ठं महामेघसमस्वनम् ॥
प्रययौ रक्षसां श्रेष्ठो दशग्रीवःसभांप्रति ॥
श्लो० ४ सर्ग ११, युद्ध का०।

सभां गच्छति रावणे ॥
श्लो० ६ सर्ग ११, युद्ध का०।

†—वरुणस्य सभायां ॥
श्लोक २ अ० १२, सभा प०।

शक्रस्य तु सभायां तु देवाः ॥
श्लो० ५ अ० १२, सभा प०।

‡—ते समासाद्य सहिताः सुधर्माभितः सभाम् ॥
श्लो० ११ अ० २२७, आदि प०।

×—न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाऽथ तादृशी।
सभा रूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान्मयः ॥
श्लो० २७ अ० ३, सभापर्व।

+—लोकपाला महेन्द्राद्याः सभां यान्ति दिदृक्षवः ॥
श्लो० ५ अ० ५५, वन प०

तथा महाभारत में मिलते हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि यह शब्द लोगों की बैठक के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त उनके मंत्रियों तथा राजकर्ताओं ने यह उचित समझा कि अयोध्या के रिक्त राजपद पर दूसरा राजा नियुक्त होना चाहिए। इस स्थान पर उन समस्त आपत्तियों एवं विपत्तियों का जो राजा रहित राज्य के लोगों को भोगनी पड़ती हैं, बड़ा रोचक वर्णन किया गया है। इन आपत्तियों एवं विपत्तियों का वर्णन करते हुए रामायणकार ने लिखा है कि राजाहीन राज्य में सभाएँ नहीं की जा सकतीं।* महाभारत में यह वर्णन मिलता है कि हस्तिनापुर की राजगद्दी के लिए युधिष्ठिर के राज्याधिकार की पुष्टि करने के हेतु राजधानी की जनता सभाओं (लोगों की बैठकों) में युधिष्ठिर के गुणानुवाद करती थी।† वृष्णियों की सभा (सदस्यों की बैठक) को सभापाल ने सुभद्राहरण सम्बन्धी सम्वाद दिया था।‡

इस प्रकार रामायण एवं महाभारत में सभा शब्द सभाभवन एवं सदस्यों की बैठक इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया गया है।

महाभारतकार ने सभा शब्द का प्रयोग सार्वजनिक स्थानों जैसे धर्मशाला तथा टिकासरों के लिए भी किया है। क्षुधा तथा तृषा से पीड़ित नल और दमयन्ती थककर सभा (धर्मशाला) में पहुँचकर एक रात ठहरे थे।÷ यह सभा गहन जंगल में थी। दुर्योधन ने नकुल तथा सहदेव के मामा शल्य को प्रसन्न करने के निमित्त उनके स्वागत के लिए उनके मार्ग में स्थान-स्थान पर टिकासरे बनवाए थे जिनका महाभारतकार ने सभा के नाम से उल्लेख किया है। इन सभाओं में उत्तम प्रकार के भोजन तथा सोने आदि का विशेष प्रबन्ध किया गया था।

---

*—नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ॥

श्लो० १२ सर्ग ६७, अयो० का०।

†—कथयन्ति स्म संभूय चत्वरेषु सभासु च ॥

श्लो० २४ अ० १४३, आदि प०।

‡—तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सान्नाहिकीं ततः ॥

श्लो० १२ अ० २२२। आदि प०।

÷—क्षुत्पिपासा परिश्रान्तौ सभां काञ्चिदुपेयतुः।

श्लो० ४ अ० ६२ वन प०।

इन सभाओं में कुआँ, जलाशय, स्नानागार आदि का भी आयोजन किया गया था। शल्य इन टिकासरों में ठहरकर बड़ा प्रसन्न हुआ था।* इस प्रकार की सभाएँ कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए दुर्योधन ने भी उस समय कृष्ण के मार्ग में थोड़े-थोड़े अन्तर पर बनवाई थीं जब वह दुर्योधन को अन्तिम बार समझाने के हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान कर रहे थे।†

सभा में बैठने का प्रबन्ध:—राजा दशरथ की सभा सोने-चाँदी की बनी हुई थी। यह सोने के खम्भों पर स्थिर थी। यह खम्भे रत्न-जटित थे। वसिष्ठ सभा में एक विशेष आसन पर बैठते थे। यह आसन सोने का बना हुआ था।‡ विभिन्न सदस्यों के अनुरूप छोटे-बड़े आसन होते थे। इन आसनों पर सभासद राजा की ओर मुख करके बैठते थे।+

रावण की सभा में सोने चाँदी के छोटे-छोटे ऊँचे आसन थे। सभाभवन का धरातल संगमरमर का बना था। राजा का आसन वैदूर्य मणि का था जिसपर सोने का काम किया गया था। इस

---

*—तत्र माल्यानि मांसानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतः ॥

श्लो० ६ अ० ८, उद्योग प०।

कूपाश्चविविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः।
वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च॥
आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम॥

श्लो० १०-१२ अ० ८, उद्योग० प०।

†—ततो देशेषु रमणीयेषु भागशः।
सर्वरत्नसमाकीर्णाः सभाश्चक्रुरनेकशः॥

श्लो० १३ अ० ८४, उद्योग प०।

‡—शातकुम्भमयीं रम्यां मणिहेमसमाकुलाम्॥

श्लो० १० सर्ग ८१, अयो० का०।

सकाञ्चनमयं पीठं स्वस्त्यास्तरणसंवृतम्॥

श्लो० ११ सर्ग ८१, अयो० का०।

+—अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः॥

श्लो० ५० सर्ग १, अयो० का०।

आसन पर मूल्यवान गद्दा पड़ा रहता था जिसके ऊपर मृगचर्म बिछा रहता था। सभासद राजा की ओर मुख करके अपने पूर्व निर्धारित आसनों पर बैठते थे।* इन सदस्यों के मध्य राजा देवों के मध्य इन्द्र के समान शोभित होता था।†

महाभारत में भी सभाभवन एवं उसके आसनों का लगभग इसी प्रकार का वर्णन किया गया है। महाभारतकार ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि सभा में सदस्यों के स्थान नियत थे। राजा विराट की सभा में राजा युधिष्ठिर राजघराने के आसन पर बैठ गए थे। ऐसा देखकर राजा ने उनसे पूछा कि वह राजवंश सम्बन्धी आसन पर कैसे बैठ गए थे?‡ इस सभा के वषय में विभिन्न प्रकार के आसनों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया हुआ है। लगभग इसी प्रकार का वर्णन कुरुओं की सभा में भी मिलता है।

सभा की देख-रेखः—रामायण और महाभारत काल में सभा-भवन को अच्छी दशा में रखने के लिए विशेष ध्यान दिया जाता था। सभा की रक्षा के निमित्त कुछ सेवकों की नियुक्ति की जाती थी। वह सेवक समयानुसार सभाभवन के विकास एवं जीर्णोद्धार का प्रबन्ध करते रहते थे। युधिष्ठिर की सभा का निर्माण मयदानव की देख-रेख में हुआ था। इस सभाभवन की रक्षा के हेतु बहुत से सेवक नियत थे।× रावण की सभा की रक्षा का भार छः सौ पिशाच सेवकों पर निर्भर था।÷ जिनकी नियुक्ति राज्य की ओर से हुई थी।

---

*—आससाद महातेजाः सभां विरचितां तदा।
सुवर्ण रजतास्तीर्णाविशुद्ध स्फटिकान्तराम्॥
श्लो० १४ सर्ग ११, युद्ध का०।
विराजमानो वपुषां रुक्मपट्टोत्तरच्छदाम्॥
श्लो० १५ सर्ग ११, युद्ध का०।

†—अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः॥
श्लो० ७ अ० ७०, विराट प०।

‡—तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः॥
श्लो० २८ अ० ३, सभा प०।

×—तां पिशाच शतैः षड्भिरभिगुप्तां सदा प्रभाम्।
श्लो० १९ सर्ग ११, युद्ध का०।

सभा में अनुशासन:—रामायण और महाभारत में इस ओर संकेत किए गए हैं कि* उस काल की सभाओं में अनुशासन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। सभा के समस्त सभासदों को उसके नियमों का पालन करना पड़ता था। रावण की सभा का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि सभा के सभासद एक दूसरे को पुकारते नहीं थे और वह चिल्लाकर बोलते भी नहीं थे। उनमें से कोई भी झूठ नहीं बोलता था।* महाबली मनस्वी शस्त्रधारियों की सभा में रावण अपनी प्रभा से वसुवों की सभा में इन्द्र के समान शोभित हो रहा था।†

राजा विराट एवं कुरु-सभाओं में भी अनुशासन की मात्रा रावण की सभा से किसी प्रकार कम न थी। सभाभवन के द्वार पर एक सरकारी अधिकारी बैठता था जो द्वारपाल कहलाता था। उसकी आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति सभाभवन में प्रवेश नहीं कर सकता था। हनुमान रावण की सभा में राम का संवाद सुनाने के लिए प्रवेश करना चाहते थे परन्तु द्वारपाल ने उन्हें द्वार पर ही रोक दिया था। सुभद्रा-हरण सम्बन्धी संवाद इसी अधिकारी ने सभा को दिया था।+

सभा के सदस्य सभासद कहलाते थे। रामायण और महाभारत दोनों में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। राजा दशरथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज पद देने की सूचना देने के लिए उन्हें सभा में बुलाया था। उन्होंने राजगुरु वसिष्ठ के साथ सभा में प्रवेश किया। सभा के सभासद राजगुरु तथा राम को सभाभवन में प्रवेश करते देखकर अपने-अपने आसन के समीप खड़े हो गए।× अयोध्या-काण्ड के एक स्थल पर भरत सभा में राम के वनगमन सम्बन्धी घटनाएँ

---

*—न चुक्रुशुर्नानृतमाह कश्चित्सभासदो नापि जजल्पुरुच्चैः।
श्लो० ३० सर्ग ११, युद्ध का०।

†—तस्यां सभायां प्रभया चकाशे मध्ये वसूनामिव वज्रहस्तः।
श्लो० ३१ सर्ग ११, युद्ध का०।

+—सभापालस्य तत्सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम्।
श्लो० ११ अ० २२२, आदि प०।

×—तेन चव तदा तुल्यं महासीनाः सभासदः।
आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम्॥
श्लो० २४ सर्ग ५, अयो० का०।

अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए बार बार स्पष्टीकरण करते हुए यह वक्तव्य दिया कि राम को मनाने के लिए उन्हें वन जाना चाहिए। भरत के इस प्रस्ताव को सुनकर अयोध्या की सभा के सभासद आनन्द के आँसू बहाने लगे।*

महाभारत के सभापर्व में नारद ने सभा के सदस्यों को सभासद के नाम से सम्बोधित किया है।† राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करने का निश्चय कर अपना यह निश्चय सभा के सभासदों के समक्ष प्रस्तुत किया।‡ श्रीकृष्ण ने कौरव और पाण्डवों के मध्य शान्ति स्थापित करने के लिए कुरुसभा में स्वयं जाकर उन समस्त परिस्थितियों का दिग्दर्शन सभा के सभासदों (सभासदेषु) को कराने के हेतु अत्यन्त ओजपूर्ण व्याख्यान दिया था जिसका कुरुसभा के सभासदों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था।

सभा का प्रधान:—राम को युवराज बनाने के प्रस्ताव की स्वीकृति लेने के निमित्त राजा दशरथ ने जिस बड़ी परिषद को बुलाया था उसमें उन्होंने स्वयं प्रधान का आसन ग्रहण किया था। परन्तु इस परिषद में सभा के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के भी व्यक्ति उपस्थित थे। अत: राम को युवराज बनाने से सम्बन्धित प्रस्ताव पर विचार करने के हेतु सभासद अन्यत्र एकत्र हुए थे। सभासदों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए थे अन्त में सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि राम युवराज बनाए जायँ। अब यह प्रश्न होता है कि बिना प्रधान के सभासदों की यह बैठक कैसे हुई होगी और किस प्रकार राम के युवराज बनाने का प्रस्ताव सभासदों के समक्ष प्रस्तुत किया गया होगा और उस पर कैसे विचार हुआ होगा ? इसलिए यह निर्विवाद है कि सभासदों की इस बैठक में उन्हीं में से ही एक सभा-

---

*—तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः॥
श्लो० १७ सर्ग ८२, अयो० का०।

†—एते चाऽन्ये च बहवः पितृराजसभासदः।
श्लो० ३३ अ० ८, सभा प०।

‡—युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः।
श्लो० ४ अ० १३, सभा प०।

सद ने प्रधान का आसन ग्रहण किया होगा। रामायणकार ने इस सभासद को मध्यस्थ के नाम से संबोधित किया है।*

लंका राज्य की सभा की जब बैठक हुई थी तो राजा रावण ने प्रधान का आसन ग्रहण किया था। जिस समय श्रीकृष्ण ने शान्ति-संदेश लेकर कुरुओं की सभा में प्रवेश किया था उस समय धृतराष्ट्र कुरुसभा में प्रधान का आसन ग्रहण किए हुए थे। युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का कम-से-कम आधा राज्य दिलाने के हेतु जो प्रस्ताव राजा विराट की सभा में प्रस्तुत किया गया था उस समय राजा विराट् स्वयं प्रधान पद ग्रहण किए हुए थे।

उपरोक्त घटनाएँ इस सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं कि रामायण और महाभारत काल में साधारणतया सभा का प्रधान राजा ही होता था। परन्तु राजा की अनुपस्थिति में उसका स्थान सभा के योग्य एवं सर्वश्रेष्ठ सदस्य द्वारा ग्रहण किया जाता था। रामायण में उसे मध्यस्थ के नाम से संबोधित किया गया है। परन्तु महाभारत उसे श्रेष्ठ के नाम से सम्बोधित करती है।† विशेषकर उस अवसर पर जब कि सभा न्यायालय के रूप में काम करती थी। यह प्रधान सभासदों में से किस प्रकार बनाए जाते थे? उनकी कौन-कौन विशेष योग्यताएँ होनी चाहिए इत्यादि का उल्लेख इन दोनों ग्रन्थों में कहीं भी प्राप्त नहीं है।

सभा का संघटन—सभा के संघटन पर रामायण में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है। अयोध्या राज्य की राजधानी में सभा थी। जनता के विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधियों को सभा में सदस्यता का अधिकार प्राप्त था। इस बात का उल्लेख रामायण में उस स्थल पर मिलता है जब कि राजा ने राम को युवराज पद प्रदान करने का प्रस्ताव स्वीकृत करने के हेतु प्रस्तुत किया था। इस परिषद् में अयोध्या की सभा के सभासदों के अतिरिक्त अन्य वह राजागण भी सम्मिलित थे जिनका अयोध्या राज्य से किसी प्रकार का राजनीतिक संबंध था। सभा के सभासदों ने अन्यत्र एकत्र होकर यह निश्चय किया था कि उनका

---

*—**मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दभ्यधिकोदया ॥**

श्लो० १६ सर्ग २, अयोध्या का०।

†—**अनेन भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ॥**

श्लो० ८० अ० ६८, सभा० प०।

राजा बूढ़ा हो गया है ।* अतः उनके ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र राम को युवराज पद पर नियुक्त करना चाहिए । रामायण इस स्थल पर उन सभासदों का वर्गीकरण करते हुए वर्णन करती है कि यह सभासद ब्राह्मण (ब्राह्मणाः), मुख्य सैनिक (बल मुख्याः) तथा पौर और जनपद के लोग (पौर जानपदैः) थे ।† यह कदापि संभव नहीं था कि अयोध्या राज्य के समस्त जनों ने एक ही समय और एक ही स्थान पर एकत्र हो इस विषय पर निर्णय दिया होगा । इसलिए यह निर्विवाद है कि राज्य के विभिन्न वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधियों को अयोध्या की सभा में बैठने का अधिकार मिला होगा । इसलिए यह स्पष्ट है कि राजा दशरथ के समय में ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा राष्ट्र एवं पुर की अन्य जनता के प्रतिनिधि अयोध्या की सभा के सभासद थे ।

राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त भरत ने बड़ा विलाप किया । राजगुरु वसिष्ठ ने सभा में प्रवेश किया और उन्होंने चतुर दूतों को यह आदेश दिया कि वह क्षत्रियों (क्षत्रियान्) योद्धाओं (योद्धान्) अमात्यों (अमात्यान्) और गण के अध्यक्षों (गणवल्लभान) को शीघ्र सभा में ले आए ।‡ इस स्थल पर भी राजा दशरथ की सभा की सदस्यता का अधिकार लोगों को जिस सिद्धान्त पर प्रदान किया गया था, उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । यहाँ पर भी ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा गण के प्रतिनिधियों को सभा में बैठने का अधिकार दिया गया है । दूसरे शब्दों में पुर और राष्ट्र की जनता के विभिन्न वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधियों को सभा की सदस्यता का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त

---

*—समेत्य ते मंत्रयितुं समतागतबुद्धयः ।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।।
श्लो० २० सर्ग २, अयो० का० ।

†—तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः ।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ।।
श्लो० १९ सर्ग २, अयोध्या का० ।

‡—ब्राह्मणान्क्षत्रियान्योधानमात्यान्गणवल्लभान् ।
क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥
श्लो० १२ सर्ग ८१, अयो० का० ।

था। इन सदस्यों के अतिरिक्त राजघराने के सदस्यों को भी इस सभा में सम्मानित सदस्यों के रूप में बैठने का अधिकार था।*

इस प्रकार राजा दशरथ की सभा की सदस्यता का अधिकार जनता के विभिन्न वर्गों तथा हितों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर निर्भर था।

वाल्मीकि ने रामायण में लंका राज्य की सभा का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है और इसमें प्रजातन्त्रवाद की झलक अधिक दृष्टिगोचर होती है। राजा रावण ने अपने दूतों को आदेश दिया था कि वह राक्षसों को सभा में तुरंत बुला लाए।† अपने राजा के आदेश को पाकर दूत लंका में घूमने लगे। वह प्रत्येक घर, उपवन में निःशंक होकर जाते थे और चाहे कोई विहार करता हो अथवा सोता हो तब भी वह उसे सभा में उपस्थित होने के लिए संदेश दे आते थे।‡ इन राक्षसों में बहुत से रथ पर, बहुत से घोड़ों पर, बहुत से हाथियों पर, और बहुत से पैदल ही सभाभवन में पहुँचे।+ उस दिन वह नगरी रथ, घोड़ों और हाथियों से भर गई। उड़ते हुए पक्षियों से भरे आकाश के समान वह नगरी उस विशेष दिन शोभित हुई।× विविध प्रकार के वाहनों को सभा द्वार पर छोड़ कर उन्होंने पैरों से ही सभाभवन में प्रवेश किया जिस प्रकार सिंह पर्वत की गुफा में प्रवेश करता है। इन साधारण सभा-

---

*—स राजपुत्रं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम्।
युधाजितं सुमंत्रं च ए च तत्रहिता जनाः॥
श्लो० १३ सर्ग ८१, अयो० का०।

†—समानयत मे क्षिप्रमिहैतान्राक्षसानिति।
श्लो० १८ सर्ग ११, युद्ध का०।

‡—अनुगेहमवस्थाय विहारशयनेषु च।
उद्यानेषु च रक्षांसि चोदयन्तोह्यभीतवत्॥
श्लो० १९ सर्ग ११, युद्ध का०।

+—तेरथान्तचरा एके दृप्तानेके दृढान्हयान्।
नागानेकेऽधिरुरुहुजग्मुश्चैके पदातयः॥
श्लो० २० सर्ग ११, युद्ध का०।

×—सापुरी परमाकीर्णा रथकुंजरवाजिभिः।
संपतद्भिर्विरुरुचे गरुत्मद्भिरिवाम्बरम्॥
श्लो० २१ सर्ग ११, युद्ध का०।

सदों के अतिरिक्त राजा के मंत्रिगण (मंत्रिणश्च) विभिन्न विभागों के अध्यक्ष (अमात्याश्च) तथा मुख्य-मुख्य योद्धागण (शूराश्च) भी सभा में सम्मिलित हुये ।* कोई पीठों पर, कोई चटाइयों पर और कोई भूमि पर ही बैठ गये ।†

उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजा रावण की सभा की सदस्यता केवल लंका नगरी की जनता तक ही सीमित न थी, संपूर्ण राज्य की जनता के प्रतिनिधियों को इसमें बैठने का अधिकार प्राप्त था । इस सिद्धान्त की पुष्टि में एक प्रमाण यह दिया जा सकता है कि सदस्यगण रथों, घोड़ों तथा हाथियों पर चढ़ कर आये थे और उस विशेष दिन लंका नगरी यानों और वाहनों से भर गई थी । यदि सभा में केवल लंका नगरी के निवासी ही गए होते तो उस दिन लंका नगरी में वाहनों और यानों का इतना बड़ा जमाव न हुआ होता । कवि ने वाहन तथा यानों के वर्णन सम्बन्धी उत्सुकता को सभा द्वार के वर्णन तक ही सीमित रखकर उसी द्वार पर वाहनों और यानों के समूह का विशद वर्णन किया होता और इस प्रकार अपनी उत्सुकता को तृप्त कर लिया होता कवि को सारी नगरी में भीड़-भड़क्के के दिखाने की इतनी आवश्यकता न पड़ी होती । इसके अतिरिक्त सभासदों की अधिक संख्या पैदल ही सभा में आई होती । रथों, हाथियों व घोड़ों पर बैठकर थोड़े से सदस्य आए होते । इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि रावण के दूत घर-घर गए थे । सभासदों को बुलाने के लिए उनके घरों में अथवा उपवनों में जहाँ वह काम करते होंगे उन दूतों को उस समय भेजा गया था । बाजार, दूकान आदि में उनके जाने का कहीं भी संकेत नहीं है । इससे यह पता चलता है कि रावण के दूत लंका नगरी के बाहर जहाँ पर कि उपवनों में लोग काम करते थे उन्हें बुलाने के लिए भेजे गये इसलिए रावण की सभा में लंका राज्य की जनता के प्रतिनिधियों को सभा में सदस्यता

---

*—मंत्रिणश्च यथामुख्या निश्चितार्थेषु पंडिताः ।
अमात्याश्च गुणोपेताः सर्वज्ञा बुद्धि दर्शनाः ॥
श्लो० २५ सर्ग ११, युद्ध का० ।

†—पीठेष्वन्ये बृसीष्वन्ये भूमौकेचिदुपाविशन् ।।
श्लो० २३ सर्ग ११, युद्ध का० ।

का अधिकार प्राप्त था। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस सभा में लंका नगरी की जनता अधिक संख्या में आई होगी।

रावण की सभा की सदस्यता के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि उपरोक्त वर्णन से यह पता चलता है कि संभवत: सभा की सदस्यता कुटुम्ब के आधार पर थी। रावण ने अपने दूतों को सभासदों को बुलाने के लिए राज्य के प्रत्येक घर में जाने का आदेश दिया था यदि कोई कुटुम्ब उद्यान में था तो वहाँ भी दूतों को जाने के लिए आदेश दिया गया था। इससे पता चलता है कि लंका राज्य में प्रत्येक कुटुम्ब को सभा की सदस्यता का अधिकार प्राप्त था। इसलिए यह कहना उचित ही होगा कि रावण की सभा की सदस्यता में कुटुम्ब के प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त प्रचलित था। इस प्रकार यह घटना इस सिद्धान्त की पोषक है कि रामायण में जिस सभा का उल्लेख है वह सभा सदस्यता की दृष्टि से एक ऐसी संस्था है जिसमें प्रजातंत्रवाद के सिद्धान्तों का समावेश है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि समस्त लंका राज्य से सभा के सदस्यों के बुलाने के लिए अत्यन्त अल्प समय का उल्लेख है। लंका राज्य के सुदूर भागों में इतने अल्प समय में सदस्यों को रावण का संदेश कैसे पहुँचाया गया होगा? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है, 'संभव है कि रावण के पास कुछ विशेष साधन हों जिनके द्वारा यह संदेश सभासदों तक शीघ्र पहुँचा दिया गया हो अथवा कवि को समय का विशेष ध्यान ही न रहा होगा। उसका उद्देश्य सभा के प्रभुत्व मात्र का वर्णन करना था इसलिए उसने इन छोटी मोटी-बातों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।'

रामायण में किष्किन्धा राज्य की सभा का उल्लेख नहीं है इस ओर वाल्मीकि मौन से हैं। कवि ने मंत्रिपरिषद् और अमात्य परिषद् की ओर अवश्य संकेत किया है परन्तु इनकी रूपरेखा का भी कुछ भी वर्णन नहीं दिया है। महाभारत में भी सभा की सदस्यता की ओर कुछ प्रकाश डाला गया है। सभा की सदस्यता के लिए महाभारत में कुछ विशेष योग्यताओं का प्रतिबन्ध लगाया गया है। भीष्म के विचार से सभा के सदस्य अत्यन्त उच्च आचरण के होने चाहिए। उन्हें लज्जाशील (ह्रीनिशेवा:) आत्म विजयी (दान्ता:)

सत्यवादी और सरल स्वभाव वाले (सत्यार्जव समन्युताः) होने चाहिए। उन्हें इतना निर्भीक होना चाहिए कि वह राजा को सत्यमार्ग बतलाने में लेशमात्र भी संकोच न करें।*

इस प्रकार उच्चाचरण सभा की सदस्यता के लिए एक आवश्यक प्रतिबन्ध था। यह आचरण सम्बन्धी विशेषता आडम्बर मात्र के लिये न थी परन्तु सभासद को अपने दैनिक जीवन में इसके अनुसार आचरण रखना पड़ता था। महाभारतकार का मत है कि अधर्म से बिधा हुआ धर्म जिस सभा में होता है उसके काँटे को अधर्म से बिधे हुये सभासद निकालने में समर्थ नहीं हो सकते, ऐसी सभा में जो प्रधान होता है उसको पाप का आधा भाग प्राप्त होता है। आधे का आधा इस पाप के करने वाले को और शेष आधा उन सभासदों को लगता है जो निंदित पुरुष की निन्दा नहीं करते हैं।† जिस सभा में निन्दा करने योग्य व्यक्ति की निन्दा की जाती है उस सभा नें प्रधान और सभासद पाप से छूट जाते हैं। और सारा पाप कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है।‡

महाभारत के उद्योग पर्व में सभासद की परिभाषा करते हुये विदुर महोदय ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—मेरी समझ में वह सभा नहीं मानी जा सकती जिसमें वृद्ध जन न हों, वृद्ध जन वह नहीं कहे जा सकते जो धर्म की बात न करते हों, वह धर्म

---

*—ह्री निशेवास्तथा दान्ताःसत्यार्जव समन्युताः।
शक्ताः कथयितुं सम्यक्ते तवस्यु सभासदाः॥
श्लो० २ अध्याय ८३, शान्ति प०।

†—विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चाऽस्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥
श्लो० ७८ अध्याय ६८, सभा प०।

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम्॥
श्लो० ७६ अध्याय ६८, सभा प०।

‡—अनेन भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निंद्यते॥
श्लो० ८० अध्याय ६८, सभा प०।

नहीं है जिसमें सत्य का अभाव हो और वह सत्य नहीं जो छल से रहित न हो।*

इस प्रकार सभा की सदस्यता के लिए महाभारत में आचरण का महान् महत्व बतलाया गया है। सभासद को विद्या और आयु दोनों में उच्च स्थान प्राप्त किए हुए होना चाहिए। साथ ही उसमें उच्चकोटि का आचरण होना परमावश्यक है। उसे निर्भीक और स्पष्टवादी होना चाहिए।

राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते थे। उन्होंने अपने इस विचार को अपनी सभा के समक्ष रखा। इस सभा में ब्राह्मण (ब्राह्मणाः) क्षत्रिय (पार्थिवैः) और उच्च कोटि के ऋषि-मुनि (महर्षियैः) थे। कवि लिखता है कि राजा युधिष्ठिर की यह सभा इन्द्र की सभा के समान प्रकाशित हो रही थी।† जिस सभा में दुर्योधन ने युधिष्ठर को जुआ खेलने के लिए आमंत्रित किया था उसमें भिन्न-भिन्न देशों के राजा, राजघराने के सदस्य और सेना के बड़े-बड़े अधिकारी गए थे।‡ एक स्थल पर बलदेव ने धृतराष्ट्र की सभा के उन व्यक्तियों का उल्लेख किया है जिनसे सभा बनाई गई थी। यह उस समय की घटना है जब कि राजा विराट की सभा में युधिष्ठिर को अपने पैतृक राज्य प्राप्ति के सम्बन्ध में सभासदों में वादविवाद हो रहा था। बलदेव ने युद्ध का विरोध करते हुए कहा था कि युद्ध हानिकर सिद्ध होगा। इसलिए हस्तिनापुर को एक कुशल ब्राह्मण दूत भेजना

---

*—न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यम् यच्छलेनभ्युपेतम् ॥
श्लो० ५८ अध्याय ३५, उद्योग प०।

†—तत्सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
भ्राजतेस्म तदाराजन्नाकपृष्ठं यथामरैः ॥
श्लो० २५ अध्याय ३४, सभा प०।

‡—ते द्वन्द्वशः पृथक्चैव सिंहग्रीवा महौजसः।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि विभेजिरे ॥
श्लो० ३ अध्याय ६०, सभा प०।

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः ॥
श्लो० ५ अध्याय ६०, सभा प०।

चाहिए जिसे धृतराष्ट्र की सभा में जाकर शान्ति का सम्वाद उस समय देना चाहिए जब सभा की बैठक हो रही हो। बलदेव के कथनानुसार इस सभा में मुख्य योद्धागण जैसे भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि तथा अन्य जो कि सेना के अधिकारी थे (बलप्रधानाः) निगमों के प्रधान (निगमप्रधानाः) अनुभवशील (बहुश्रुत) एवं अधिक अवस्था वाले वृद्धगण (वृद्धाः) तथा पुर के वृद्धगण (पौरेषुवृद्धेषु) थे।*

द्वारकापुरी के नष्ट हो जाने और कृष्ण की मृत्यु के उपरान्त अर्जुन ने वृष्णि राज्य के मंत्रियों से भेंट करने के निमित्त सभाभवन में प्रवेश किया था। इस सभा का नाम सुधर्मा था। इस सभा में प्रजा के प्रतिनिधि ब्राह्मणों और नैगमों के सदस्य थे।†

इस प्रकार महाभारत में वर्णित सभा केवल बड़े राजाओं का दर्बार ही न था जिसमें छत्रप राजा एकत्र होते हों। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे भी अवसर आते रहते थे जब कि छत्रप राजा सभा में उपस्थित होते थे। परन्तु राज्य के शासन का मुख्य कार्य सभा के नियमित सदस्यों द्वारा ही सम्पादित होता था। छत्रप राजा किन्हीं-किन्हीं अवसरों पर आवश्यकता पड़ने पर आमंत्रित कर लिए जाते थे। यह अवसर ऐसे होंगे जैसे नये राजा के राजतिलक करने के समय, किसी विशेष यज्ञ के आयोजन करने के समय जैसे राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञादि। परन्तु शासन का दैनिक कार्य सभा के स्थायी सदस्यों द्वारा ही किया जाता था। यह बात ध्यान में सदैव रहनी चाहिए कि सभा की किसी भी बैठक में जनता के प्रतिनिधियों से सभा कभी भी रिक्त नहीं होती थी। इस लिए महाभारत-कालीन सभा में जनता के प्रतिनिधि प्रत्येक बैठक में बने ही रहते थे। प्रमुख जनाः, ब्राह्मणमुख्याः, पौरवृद्धाः, गणवल्लभाः,

---

*—सभीष्ममामंत्र्य कुरु प्रवीरं × × × द्रोणंसपुत्रं।
× × × निगमप्रधानाः × × × पौरेषु वृद्धेषुच संगतेषु ॥
श्लो० ५—६—७ अ० २, उद्योग प०।

†—सुधर्मां यादवीं सभां प्रविवेशार्जुन शूरः शोचमानो महारथोन।
श्लो० ७ अध्याय ७, मौसल प०।
सर्वाः प्रकृतयस्तथा। ब्रह्मणं नैगमास्तत्र परिवार्योस्म स्थिरे ॥
श्लो० ९ अध्याय ७, मौसल प०।

सार्थवाह तथा प्रकृतिजनाः आदि शब्द रामायण तथा महाभारत ग्रंथों में मिलते हैं। यह शब्द निश्चयपूर्वक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को प्रकट करते हैं। इसलिए इस निर्णय पर पहुँचना उचित ही होगा कि रामायण और महाभारत-कालीन सभा की प्रत्येक बैठक में जनता के प्रतिनिधि हर समय उपस्थित रहते थे।

सभा के साधारण नियमः—यह पीछे लिखा जा चुका है कि सभा का प्रधान राजा होता था और राजा की अनुपस्थिति में सभा का सर्वश्रेष्ठ सभासद प्रधान का आसन ग्रहण करता था। रामायण तथा महाभारत दोनों में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि उस सर्वश्रेष्ठ सभासद को प्रधान का आसन किस प्रकार दिया जाता था। राजा उसे नियत करता था, अथवा सभा के सदस्यों द्वारा ही वह चुना जाता था। इस सम्बन्ध में किसी निश्चय पर पहुँचना असम्भव है। परन्तु इतना अवश्य दिया हुआ है कि इस सभासद को रामायणकार ने मध्यस्थ और महाभारत ने उसे श्रेष्ठ के नाम से सम्बोधित किया है।

सभासदों के द्वारा सभा में भाषण देने अथवा प्रश्न करने आदि का क्या ढंग था रामायण तथा महाभारत में इस बात का भी कहीं भी विशेष वर्णन नहीं मिलता है। परन्तु इधर-उधर की कुछ घटनाओं को एकत्र करने के उपरान्त पाठक एक निश्चय पर पहुँच जाता है।

रावण की सभा में सभासद, प्रधान तथा सभासदों दोनों को सम्बोधित करते हुए तथा अपने विचार प्रकट करते हुए रामायण में वर्णित हैं। राजा दशरथ की सभा में इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था दी हुई नहीं है। इसलिए इस विषय पर कोई ऐसी सामग्री रामायण में प्राप्त नहीं हुई है जिसके आधार पर सभा के कार्य संचालन के सम्बन्ध में किसी निश्चय पर पहुँचा जा सके। महाभारत में वर्णित सभा में भी सभासदगण प्रधान तथा सभासदों को सम्बोधित करते हुए अपने विचार प्रकट करते थे। महाभारत में ऐसा दिया हुआ है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि रामायण तथा महाभारत-कालीन सभा में सभासदगण सभा के प्रधान एवं सभासदों दोनों को सम्बोधित कर अपने विचार प्रकट करते थे।

आधुनिक काल की धारासभाओं में सभासद अपने स्थानों से ही बोलते हैं। यही प्रणाली रामायण तथा महाभारत-कालीन सभा में भी

प्रचलित थी। सभासदों को अपने आसन से खड़े होकर बोलना पड़ता था। राजा विराट की सभा में शनिपुत्र सात्यकि को अपने विचार प्रकट करने के लिए अपने आसन पर खड़ा होना पड़ा था।* (उत्पपात)

सभा में प्रस्ताव प्रधान की ओर से अथवा किसी भी सभासद की ओर से प्रस्तुत किया जा सकता था। प्रस्ताव का समर्थन होता था, फिर उस पर वादविवाद किया जाता था और अन्त में प्रस्तावक महोदय को अपने विचार पुनः प्रकट करने एवं अन्य सभासदों के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अवसर दिया जाता था। राजा विराट की सभा में श्रीकृष्ण ने प्रस्ताव रक्खा था कि धृतराष्ट्र के समीप एक योग्य दूत इस संवाद के सहित अवश्य भेजना चाहिए कि वह राज्य का कम-से-कम आधा भाग युधिष्ठिर को अवश्य दें क्योंकि वह उसका धर्मतः अधिकारी है। बलराम ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया था, फिर अन्य सभासदों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया गया था। अन्त में प्रस्तावक महोदय (श्रीकृष्ण) को अपने विचार प्रकट करने एवं अन्य सभासदों के द्वारा किए गए आक्षेपों का समाधान करने के लिए पुनः अवसर दिया गया था सभा में सभासदों का मौन रहना ही उनकी अनुमति समझी जाती थी। कौरव सभा के मध्य इस प्रश्न पर कि युधिष्ठिर के जुआ में हारने पर द्रौपदी भी हार गई थी, भीष्म मौन थे। भीष्म की मौनता सभासदों द्वारा प्रस्ताव के पक्ष में स्वीकृति मान ली गई थी। परन्तु 'साधु-साधु' शब्द भी सभासदों की अनुमति प्रकट करते थे। सभासदों की अनुमति प्रकट करने के लिए शब्द को दो बार बोला जाता था। नागों की सभा में एलापत्र नामक नाग ने एक प्रस्ताव रखा था। इस सभा में नागराज वासुकि प्रधान था। इस सभा के सभासदों ने एलापत्र के प्रस्ताव से सहमत होकर अपनी अनुमति "साधु साधु" कह कर दी थी।†

सभा में बहुमत का सिद्धान्त प्रचलित था। यदि किसी विषय पर सभासदों में मतभेद होता, परन्तु उनकी अधिक संख्या एक पक्ष में होती

---

*—शनिप्रवीरः सहसोत्पपात ॥

श्लो० १४ अ० २, उद्योग प० ।

†—सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाऽब्रुवन् ॥

श्लो० १ अ० ३१, आदि प० ।

तो अन्य सभासदों के लिए वह निर्णय माननीय समझा जाता था। यदि सभासदों में से कोई सभासद भी बहुमत द्वारा किए गए निर्णय से सहमत न होता तो उसके लिए केवल एक मार्ग खुला था कि वह सभाभवन से उस समय यह घोषित करके (कि उक्त निर्णय राजा एवं राज्य के लिए अहितकर सिद्ध होगा, इसलिए) वह सभाभवन को त्याग कर बाहर जा रहा है।* (Principle of Walk out) अन्यथा उसे अन्य सभासदों के साथ उस निर्णय को मानना ही होगा और उसका फल सबके साथ उसे भोगना ही पड़ेगा। रावण अपने सभा के सभासदों के बहुमत को अपनी ओर कर लेने के लिए अत्यन्त उत्सुक और प्रयत्नशील था। रावण का प्रस्ताव यह था कि सीता को वापस न किया जाय और राम से युद्ध किया जाय। परन्तु विभीषण रावण के इन विचारों से सहमत न था। उसने यह भी देख लिया था कि सभा का बहुमत रावण के साथ है और सभा का यह निर्णय रावण और लंका राज्य दोनों के लिए अहितकर एवं घातक होगा। अतः वह अपने दल के साथ सभाभवन में यह घोषणा कर सभा से बाहर चला आया था कि वह सभा के इस निर्णय से सहमत नहीं है। विभीषण तथा उसके दल के चले जाने के उपरान्त रावण का प्रस्ताव सभा द्वारा स्वीकृत हो गया। सभासदों का एक मत उद्दण्ड-से-उद्दण्ड राजा की स्वेच्छाचारपूर्ण योजनाओं को रोकने में समर्थ था। विभीषण ने लंका की सभा में सभासदों का ध्यान इस बात की ओर दिलाया था कि समस्त सभासद एकमत होकर अपने राजा रावण को मृत्यु के मुख से बचाने का प्रयत्न करें। वह उसकी घातक योजनाओं का एक स्वर से विरोध करें जिससे रावण को विवश होकर अपनी इन योजनाओं को त्यागना पड़ेगा।† जिसका परिणाम यह होगा कि उनका उनके राजा और उनके राज्य का बड़ा कल्याण होगा।

राजा विराट की सभा के कार्यसंचालन में भी लगभग इसी प्रणाली का सहारा लिया जाता था। कृष्ण द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव का

---

*—उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भिः सह राक्षसैः ॥

श्लो० १७ सर्ग १६, युद्ध का०।

†—समेत्य सर्वैः परिपूर्ण कामैः।

निगृह्य राजा परि रक्षितव्यो भूतैर्यथा भीम बलैर्गृहीतः ॥

श्लो० १६ स० १४, युद्ध का०।

समर्थन हुआ था फिर उसपर सभासदों के विवेचनापूर्ण वाद-विवाद हुए थे और अन्त में वह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकार किया गया था।* हस्तिनापुर की कुरुसभा में भी इस बात की ओर संकेत मिलता है कि वहाँ भी लगभग इसी प्रणाली से काम लिया जाता था। जिस समय कृष्ण ने कौरवों और पाण्डवों के बीच समझौते का प्रस्ताव कुरु-सभा में रक्खा था तो कुरुसभा के सदस्यों की अधिक संख्या कृष्ण के विचार से सहमत तो थी, परन्तु कुछ महत्वशाली सभासदों के प्रभाव के कारण उनमें एकमत न हो सका। अतः वह दुर्योधन को बन्दी बनाकर समझौता कर लेने के प्रस्ताव पर अपनी सम्मति न दे सके और इस प्रकार कौरवों और पाण्डवों के मध्य विषवृक्ष का उन्मूलन करने में वह सफल न हुए थे। यद्यपि कृष्ण के द्वारा प्रस्तुत किए हुए इस प्रस्ताव को कुरुसभा ने स्वीकार नहीं किया था, परन्तु यह घटना इस सिद्धान्त की पुष्टि अवश्य करती है कि बहुमत का सिद्धान्त महाभारत-कालीन सभा में प्रचलित था।

सभा में वक्तव्य का ढङ्गः—रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथ इस बात की पुष्टि करते हैं कि सभासदों को सभा में अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। महाभारत के सभापर्व में धृतराष्ट्र-पुत्र विकर्ण स्वच्छन्दतापूर्वक अपने विचार प्रकट करता हुआ दिखलाया गया है। उसने द्रौपदी के पक्ष की पुष्टि में ओजस्वी वक्तव्य देकर सभासदों को द्रौपदी के पक्ष में करने का यथासाध्य प्रयत्न किया था।† द्रौपदी ने स्वयं एक गहन प्रश्न सभा के समक्ष प्रस्तुत कर सभासदों को उनके व्यक्तिगत विचारों को प्रकट करने के हेतु आमन्त्रित किया था। जो सभासद इस गहन प्रश्न के उत्तर देने की क्षमता रखते थे, इस वाद-विवाद में सम्मिलित हुए थे।

राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर भी इसी प्रणाली का पालन किया गया था। भीष्म ने उदक पान के हेतु कृष्ण का नाम प्रस्तुत किया था, भीम ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया, शिशुपाल ने

---

*—कृपया अध्याय ३, उद्योग पर्व में देखिये।

†—यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम॥
श्लो० १६ अ० ६८, सभा प०।

इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। इस विषय पर सभासदों के अपने-अपने विचारपूर्ण वक्तव्य स्वच्छन्दतापूर्वक होते रहे। राजा विराट की सभा में श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के हितों का पोषण करते हुए सभा में उपस्थित विभिन्न राजाओं के समक्ष एक लम्बा व्याख्यान दिया था। उसमें उन्होंने यह प्रस्ताव किया था कि एक योग्य दूत कौरवसभा में भेजा जाय * और वह कौरवसभा में पहुँचकर सभासदों के समक्ष कृष्ण के यह विचार प्रभावशाली व्याख्यान द्वारा प्रस्तुत करे, जिससे कौरव वीरों के विचार बदल सकते थे। इसके उपरान्त बलदेव ने इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए इतना अंश मौलिक प्रस्ताव में जोड़ने का प्रस्ताव किया था कि शान्ति से ही काम लिया जाय, युद्ध करना अहितकर होगा। उनका कहना था कि युद्ध से ही सदैव उचित निर्णय होता है यह सर्वदा सत्य नहीं हो सकता। शान्ति द्वारा मनुष्य जिस निर्णय पर पहुँचता है वह महान् कल्याणकारी होता है।†

बलदेव के यह वचन सुनकर शनिपुत्र सात्यकि ने खड़े होकर बलदेव के वचनों का घोर विरोध किया।‡ सात्यकि के वक्तव्य के उपरान्त राजा द्रुपद ने उनके विचारों का समर्थन करते हुए अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया कि आगामी युद्ध के लिए भारत के मुख्य-मुख्य राजाओं को शीघ्र अपनी ओर कर लेने के लिए उन्हें आमन्त्रित कर देना चाहिए।+ श्रीकृष्ण जिन्होंने सर्वप्रथम प्रस्ताव रक्खा था अन्त में खड़े हुए और सभासदों का अपने वक्तव्य द्वारा उन्होंने समाधान किया और इस प्रकार उनका प्रस्ताव सभा ने स्वीकार किया।

सुधर्मा नाम की यादवों की सभा में सुभद्राहरण पर घोर वाद-विवाद हुआ था। सभासदों ने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार विचार

---

*—उद्योग पर्व अध्याय १।

†—साम्नाजितोऽर्थोऽर्थकरोभवेत ॥

श्लो० १३ अ० २, उद्योग प०।

‡—एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे शिनि प्रवीरः सहसोत्पपात।
तच्चापि वाक्यंपरिनिन्द्य तस्य समाददे वाक्यमिदं समन्युः ॥

श्लो० १४ अ० २, उद्योग प०।

+—तत्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने ॥

श्लो० १० अ० ४, उद्योग प०।

प्रकट किए थे। समस्त सभासद इस निर्णय पर पहुँच रहे थे कि अर्जुन को बन्दी बना लेना चाहिए परन्तु बलदेव ने खड़े होकर अर्जुन द्वारा किये हुए अनुचित कार्य की घोर निन्दा करते हुए यह सुझाव रक्खा कि इस विषय पर श्रीकृष्ण के विचार जान लेने चाहिए। इस सुझाव को भोज, वृष्णि और अन्धक जाति के सभासदों ने स्वीकार किया। कृष्ण खड़े होकर अर्जुन के कार्य की सराहना करने लगे और उन्होंने यह बतलाया कि अर्जुन ने उनका अपमान कदापि नहीं किया बल्कि उनसे सुभद्रा का विवाह हो जाने से उन सबका गौरव बढ़ गया है। उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि अर्जुन को आदरपूर्वक बुलाकर उनसे सुभद्रा का विवाह कर दिया जाय।* यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ और इसी के अनुसार काम किया गया।

नागों की माता कद्रु के द्वारा समस्त नाग जाति के नाश के हेतु शाप दिए जाने का समाचार सुन कर नागराज वासुकि के सभापतित्व में नागों की एक बड़ी सभा हुई। वासुकि ने यह कह कर वाद-विवाद प्रारंभ किया कि हम सबको जनमेजय द्वारा किए जानेवाले नागयज्ञ के रोकने का उपाय सोचना चाहिए।† समस्त नाग इस सभा में उपस्थित थे, परन्तु जिन नागों ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करना उचित समझा उन्होंने एक-एक करके अपने-अपने विचार सभा में प्रकट किए। अन्त में एलापत्र नाम के नाग ने अपने विचार सभा के समक्ष प्रकट किए। समस्त नागों ने एलापत्र द्वारा प्रस्तुत किए हुए सुझाव को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। उन्होंने साधु-साधु शब्दध्वनि करके अपनी सम्मति प्रकट की।‡

रामायण भी इस प्रणाली की पुष्टि करती है—राजा दशरथ ने अयोध्या की सभा में अपने पुत्र राम को युवराज पद देने के प्रस्ताव को

---

*—तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप।
श्लो० १२ अ० २२३, आदि प०।

†—तस्मात्संमंत्रयामोऽद्य भुजङ्गानामनामयम्।
यथा भवेद्धि सर्वेषां मानः कालोऽत्यगादयम॥
श्लो० ७ अ० ३७, आदि प०।

‡—सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाऽब्रुवन॥
श्लो० १ अ० ३९, आदि प०।

प्रस्तुत किया और सभासदों से उनके इस प्रस्ताव से सम्बन्धित विचारों को प्रकट करने के लिए आमंत्रित किया। राजा ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया कि मेरे विचार एक पक्ष के हैं परन्तु मध्यस्थ का विचार भिन्न होता है वह उत्तर-प्रत्युत्तर से मँजा होने के कारण अधिक उज्ज्वल होता है।* मैंने जो यह विचार आप लोगों के सम्मुख रक्खा है वह यदि विचारपूर्ण हो और उससे आप लोगों का भी लाभ हो तो आप लोग इस विचार को स्वीकार करें। राम को अयोध्या राज्य का युवराज बनाने के प्रस्ताव की स्वीकृति सभा के सदस्यों द्वारा हुई थी।

राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त सभा के सभासद सभाभवन में एकत्र हुए, और अपनी-अपनी योग्यतानुसार प्रत्येक सभासद ने एक-एक करके उक्त विषय पर अपने विचार प्रकट किए थे।† राजगुरु वसिष्ठ के ओजपूर्ण वक्तव्य ने सभासदों को एक निश्चय पर पहुँचा दिया और वह निर्णय सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ।

इस विषय पर लंका राज्य की सभा में अधिक प्रकाश डाला गया है। राम लंका पर आक्रमण करनेवाले थे, ऐसा समाचार सुन रावण ने भयभीत होकर अपनी सभा की बैठक की। रावण सभा में जिस प्रस्ताव को रखना चाहता था उसे सभा के समक्ष प्रस्तुत करने के पूर्व अपने कार्य को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए सभासदों के समक्ष अपना स्पष्टीकरण किया था। सम्भव है, रावण को यह भय था कि शायद उसके सभासद उसके इस अवैधानिक कार्य की निन्दा करते हुए उसका विरोध करेंगे। इसीलिए उसने उस दिन के कार्य प्रारम्भ होते ही अपनी स्थिति का पूर्ण परिचय सभासदों को देना उचित समझा था। वह कहता है—मैंने बहुत पहले, इस बात को सोचा था कि मैं इस कार्य की सूचना आप सज्जनों को दे सकूँ कि राम के मुझ पर क्रुद्ध होने का क्या कारण है, परन्तु मैं सभा को बुला न सका, क्योंकि वीर कुम्भकर्ण उस समय, गाढ़निद्रा में पड़ा हुआ था, वह गत छः मास से

---

*—विमर्दाभ्यधिकोदया ।।

श्लो० १६ सर्ग २, अयो० का०।

†—एते द्विजाः सहामत्यैः पृथग्वाचमुदीरयन ॥

श्लो० ४ सर्ग ६७, अयो० का०।

निद्रामग्न था।* इतना कहने के उपरान्त वह सभा के प्रत्येक सदस्य से सहायता और विश्वास ग्रहण करने की प्रार्थना करता हुआ कहता है—महानुभावो धर्म, अर्थ और काम विषय सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित होने पर प्रिय-अप्रिय, लाभ-अलाभ, सुख-दुख, हित-अनहित का निर्णय आप लोग करते हैं। परामर्श के द्वारा कर्तव्य निर्णय करके आप लोगों ने मेरे जितने कार्य प्रारम्भ किए हैं वह कभी विफल नहीं हुए हैं। जिसको जो ठीक मालूम पड़े वह वैसा कहे।†

रावण का ऐसा वचन सुनकर कुम्भकर्ण आवेश में आकर इस प्रकार बोला—लक्ष्मण रहित राम की सीता को आप जब यहाँ लाए थे, उसी समय इस बात का विचार भी करना था। महाराज आपने जो कुछ यह किया है सब अवैधानिक (सर्व एतन् महाराज कृतम प्रतिमम) है।‡ यह कार्य करने के पूर्व ही आपको हम लोगों से परामर्श करना उचित था। जो राजा न्यायपूर्वक राज्य-कार्य करता है उसे अन्त में पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता। जो राजा इस सिद्धान्त के विपरीत आचरण करता है वह अवश्य नष्ट हो जाता है। जो पहले किए जानेवाले कार्य को पीछे करना चाहता है और पीछे किए जानेवाले कार्यों को पहले करता है ऐसे व्यक्ति को नीति-अनीत का कुछ भी ज्ञान नहीं

---

*—अहं तु खलु सर्वान्वः समर्थयितुमुद्यतः।
कुम्भ कर्णस्य तु स्वप्नान्नेममर्थंचोदयम् ॥
श्लो० १० सर्ग १२, युद्ध का०।
अयं हि सुप्तः षण्मासान्कुम्भकर्णो महाबलः ॥
श्लो० ११ सर्ग १२ युद्ध का०।

†—ब्रूत यस्य यथा मति ॥
श्लो० २२ सर्ग १२, युद्ध का०।
अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ।
भवद्भिर्मन्त्र्यतां मंत्रः सुनीतं चाभिधीयतां ॥
श्लो० २५ सर्ग १२, युद्ध का०।

‡—सर्वमेतन्महाराज कृतमप्रतिमं तव।
वधीयेत सहास्माभिरादावेवास्य कर्मणः ॥
श्लो० २९ सर्ग १२, युद्ध का०।

होता।* आपने बिना परिणाम समझे यह बहुत बड़ा कार्य प्रारम्भ कर दिया है। यह हर्ष का विषय है कि विषमिश्रित अन्न के समान राम ने तुमको नष्ट नहीं कर दिया। अतएव तुमने प्रबल शत्रु से अनुचित कार्य प्रारम्भ किया है। परन्तु मैं तुम्हारे शत्रुओं को मार कर शान्त कर दूँगा। निशाचर! तुम्हारे शत्रुओं को मैं मारूँगा चाहे वह इन्द्र हो, सूर्य या अग्नि हो, पवन अथवा कुबेर वा वरुण मैं उससे युद्ध करूँगा।

कुम्भकर्ण के बैठ जाने के उपरान्त महाबली महापार्श्व रावण के कार्य की सराहना करता हुआ रावण को सम्मति देता है कि वह शत्रु का सर झुकाकर सीता के साथ रमण करे। जिस प्रकार मुर्गा छल से मुर्गी पर आक्रमण करता है और उसे वश में कर लेता है उसी प्रकार वह सीता पर बलपूर्वक आक्रमण करे। अन्त में वह कहता है नीति-निपुण के द्वारा किए साम, दाम, भेद को छोड़ कर केवल दण्ड के द्वारा ही कार्य सिद्ध करने की बात मुझे रुचिकर है।†

रावण, कुम्भकर्ण और महापार्श्व के वीरतापूर्ण वक्तव्यों को सुन कर विभीषण रावण के प्रस्ताव की घोर विवेचना के निमित्त खड़ा हो जाता है।‡ वह सीता को रावण के लिए विषैला साँप समझता है और इस बात का अनुरोध करता है कि सीता को आदरपूर्वक राम के समीप भेज देना चाहिए वह रावण को सचेत करता है कि उसकी सेना के वीर-से-वीर योद्धा भी राम के समक्ष टिक नहीं सकते। इसलिए उसके लिए एक ही मार्ग खुला है और वह यह है कि सीता को उनके पति के पास सम्मानपूर्वक भेज दिया जाय (प्रदीयताम दाशरथीम मैथिलीं)

---

*—न्यायेन राजकार्याणि यः करोति दशानन।
न स सन्तप्यते पश्चान्निश्चितार्थमतिर्नृपः॥
श्लो० ३० सर्ग १२, युद्ध का०।

यः पश्चात्पूर्वकार्याणि कर्माण्यभिचिकीर्षति।
पूर्वं चापरकार्याणि स न वेद नयानयौ॥
श्लो० ३२ सर्ग १२, युद्ध का०।

†—दण्डेनसिद्धिमर्थेषु रोचये॥
श्लो० ७ सर्ग १३, युद्ध का०।

‡—विभीषणोराक्षसराजमुख्यमुवाच वाक्यं हितमर्थयुक्तं।
श्लो० १ सर्ग १४, युद्ध का०।

विभीषण के वचन सुनकर सेनापति प्रहस्त बोला—हम लोग किसी से डरते नहीं। देवताओं, दानवों और न अन्य किसी का हमें भय है। यक्ष गन्धर्व, भयंकर सर्प और गरुड़ से भी हमें भय नहीं है। फिर राजपुत्र राम से युद्ध करने में मुझे किस बात का भय है ?*

प्रहस्त के वचन सुनकर विभीषण पुनः खड़े होकर अर्थयुक्त वचन बोले। इस अवसर पर विभीषण ने जो वक्तव्य सभा में दिया था बड़ा मर्मभेदी एवं अर्थयुक्त है। उसने सभासदों से अनुरोध किया कि वह अपने राजा को सर्वनाश से बचाएँ। उसने यह सम्मति दी कि समस्त सदस्य एकमत होकर बली भूतों से ग्रहीत पुरुष के समान बलपूर्वक राजा को रोकें और शत्रु द्वारा उनके केश ग्रहण न होने दें।† यह राजा लक्ष्मण के उत्तम चरित्र रूपी सागरमें डूबने जा रहा है और उसके पश्चात बड़वानल रूपी रामचन्द्र के पराक्रम में जलने जा रहा है। आप सब लोग एक होकर (समेत्य) इसे रोकिए।‡ इसी समय रोकने से काम बन सकता है। ऐसा करने से ही राजा, नगर, मित्रों और हम सबका कल्याण हो सकता है।+

इसके उपरान्त विभीषण और रावण के पुत्र इन्द्रजीत के मध्य उग्र विवाद प्रारम्भ हो गया। विभीषण ने इन्द्रजीत को राजनीति के ज्ञान से बालक समझकर कहा कि वह व्यक्ति दण्ड का भागी है जो ऐसी अपरिपक्व बुद्धिवाले व्यक्ति को इस सभा में बुलाकर लाया है। ऐसे

---

*—निशम्य वाक्यं तु विभीषणस्य ततः प्रहस्तो वचनं बभाषे ॥
श्लो० ७ सर्ग १४, युद्ध का०।
कथं नु रामाद्भविता भयं नो नरेन्द्रपुत्रात्समरे कदाचित् ॥
श्लो० ८ सर्ग १४, युद्ध का०।

†—यावद्धि केशग्रहणात्सुहृद्भिः समेत्य सर्वैः परिपूर्ण कामैः।
निगृह्य राजा परिरक्षितव्यो भूतैर्यथा भमीबलैर्गृहीतः ॥
श्लो० ११ सर्ग १४, युद्ध का०।

‡—युक्तस्त्वयं तारयितुं समेत्य काकुत्स्थ पातालमुखे पतन्नः।
श्लो० २० सर्ग १४, युद्ध का०।

+—इदं पुरस्यास्य सराक्षसस्य राज्ञश्च पथ्यं सुहृज्जनस्य ॥
श्लो० २१ सर्ग १४, युद्ध का०।

अपरिपक्व बुद्धिवाले व्यक्ति के परामर्श पर आस्था नहीं की जा सकती ।*

रावण के अन्तिम वक्तव्य ने वाद-विवाद को समाप्त कर दिया। रावण ने विभीषण के आचरण पर अविश्वास करते हुए कहा कि विभीषण स्वार्थी है। वह मेरी उन्नति नहीं देख सकता। वह राक्षस जाति का शत्रु है और स्वयं लंका का राजा बनना चाहता है।

रावण द्वारा कहे गए इन कठोर वचनों ने विभीषण के हृदय को वेधित कर दिया। न्याययुक्त वचन बोलनेवाले विभीषण ने ऐसे कठोर वचन सुनकर अपने दल के चार राक्षसों के साथ सभाभवन को छोड़कर आकाशमार्ग की ओर से प्रस्थान कर दिया।† चलते समय उसने यह घोषणा कर रावण को सचेत कर दिया कि उसका सर्वनाश होनेवाला है। उसने अन्त में यह भी कहा कि आपको बड़ा समझकर हितकामना से जो मैंने आपसे कहा है उसके लिए आप मुझे क्षमा करें। अब आप राक्षसों के साथ इस नगरी की तथा अपनी रक्षा करें। आपका कल्याण हो मैं जा रहा हूँ। निशाचर हितैषी, मैंने आपको रोका परन्तु मेरी बात आपको रुचिकर प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि गतायु मनुष्य मृत्यु के समय मित्रों का कहना नहीं मानते। ऐसा वचन कहकर विभीषण सभाभवन छोड़ कर चला गया।‡

विभीषण का सभाभवन छोड़ने से सम्बन्धित यह कार्य प्रजातंत्रवाद के मूल तत्वों के अनुकूल है। आधुनिक युग में भी इस प्रणाली का प्रचलन प्रजातंत्रात्मक राज्यों की धारासभाओं में देखा जाता है।

सभा में सभासदों को अपने विचार प्रकाशन की पूर्ण स्वतंत्रता थी

---

*—न तात मंत्रे तव निश्चयोऽस्ति बालस्त्वमथाप्यविपक्वबुद्धिः ॥
श्लो० ६ सर्ग १५, युद्ध का० ।

†—उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भिः सहराक्षसैः ॥
श्लो० १७ सर्ग १६, युद्ध का० ।

‡—स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया विना ॥
श्लो० २५ सर्ग १६, युद्ध का० ।

निवार्यमाणस्य मया हितैषिणा न रोचते ते वचनं निशार ।
परान्तकाले हि गतायुषो नरा हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥
श्लो० २६ सर्ग १६, युद्ध का० ।

इस सिद्धान्त की पुष्टि में वाल्मीकीय रामायण में एक अन्य स्थल पर एक पुष्ट प्रमाण प्राप्त है। यद्यपि इस स्थल पर सभा का वैधानिक स्वरूप नहीं है परन्तु जिस प्रणाली का अनुसरण किया गया है वह इस अवसर पर इसी सिद्धान्त के प्रचलन की पोषक है। वह घटना इस प्रकार है—

विभीषण ने लंका राज्य की सभा छोड़कर चार राक्षसों के दल के साथ राम के शिविरि के समीप पहुँचकर राम की शरण में रहने की प्रार्थना की। यह समाचार सुग्रीव के द्वारा राम तक पहुँचाया गया। सुग्रीव के वचन सुनकर समस्त वानरों को एकत्र करने का आदेश दिया गया। वानर-समूह के समक्ष विभीषण को शरण देने से सम्बन्धित समस्या उनके विचारार्थ रखते हुए राम ने कहा—मित्रों का कल्याण चाहनेवाले बुद्धिमान और मंत्रणा देने में समर्थ पुरुषों को चाहिए कि वह कर्तव्याकर्तव्य में संदेह उत्पन्न हो जाने पर उपदेश दें।* रामचन्द्र के ऐसा कहने पर उनका कल्याण चाहनेवाले उत्साहित हो अपना-अपना मत एक-एक करके प्रकट करने लगे।†—सर्वप्रथम अंगद बोले—विभीषण की परीक्षा होनी चाहिए।‡ यह शत्रु के यहाँ से आया है इस लिए इस पर संदेह होना स्वाभाविक है। इस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर शरभ नाम का वानर सोच-विचार कर अर्थयुक्त वचन बोला—विभीषण के पीछे शीघ्र ही गुप्त दूत नियत कर देने चाहिए।+ इसके उपरान्त जाम्बवान स्वार्थरहित एवं गुणयुक्त वचन बोले—इसके बड़े भाई पर संकट आया है। इसे उसके पास उसकी रक्षा

---

*—सुहृदामर्थकृच्छ्रेषु युक्तं बुद्धिमता सदा।
समर्थेनोपसंदेष्टुं शाश्वतीं भूतिमिच्छता॥
श्लो० ३३ सर्ग १७, युद्ध का०।

†—इत्येवं परिपृष्टास्ते स्वं स्वं मतमतीन्द्रताः॥
श्लो० ३४ सर्ग १७, युद्ध का०।

‡—इत्युक्ते राघवायाथ मतिमानङ्गदोऽग्रतः।
विभीषण परीक्षार्थमुवाच वचनं हरिः॥
श्लो० ३८ सर्ग १७, युद्ध का०।

+—क्षिप्रमस्मिन्नरव्याघ्र चारः प्रति विधीयताम्॥
श्लो० ४३ सर्ग १७, युद्ध का०।

के लिए रहना चाहिए, परन्तु यह यहाँ आया है इसलिए इसपर संदेह तो करना ही चाहिए ।* इसके बाद नीति और अनीति का जाननेवाला एवं उत्तम वक्ता मयन्द सोचकर उत्तम युक्तिपूर्ण वचन बोला—यह विभीषण रावण का छोटा भाई है अतएव मीठे वचनों द्वारा इससे रावण से सम्बन्धित प्रश्न कर रावण का भेद लेना चाहिए ।† फिर हनुमान संक्षिप्त, कोमल एवं अर्थयुक्त वचन बोले—रावण की दुष्टता तथा राम का पराक्रम देख कर अपनी बुद्धि से विचारकर वह आपकी शरण में आया है। यह उसी की बुद्धि के अनुकूल है। मन में कपट रखनेवाला व्यक्ति निःशंक और प्रफुल्ल मुख होकर पास नही आ सकता। आपके उद्योग को देखकर और रावण के दुर्व्यवहार को समझ कर, वालि का मारा जाना और सुग्रीव का राजपद प्राप्ति का समाचार सुनकर, राज्य पाने की कामना से समझ-बूझ कर ही वह आपके समीप आया है। इन बातों से तो उसे आश्रय देना ही उचित जान पड़ता है ।‡ इसके उपरान्त राम ने अपने विचार प्रकट किए ।+ राम ने हनुमान के विचारों की सराहना की और अन्त में समस्त वानर समूह ने उन विचारों को स्वीकार किया। तत्पश्चात विभीषण को शरण दी गई। इस प्रकार लम्बे वाद-विवाद के उपरान्त वह वानर-समूह अन्तिम निर्णय पर पहुँचा और वह निर्णय कार्य रूप में परिणत किया गया।

उपरोक्त घटनाएँ जो रामायण और महाभारत ग्रंथो में विभिन्न

---

*—अदेशकाले सम्प्राप्तः सर्वथा शंक्यतामयम् ॥
श्लो० ४६ सर्ग १७, युद्ध का० ।

†—पृच्छ्यतां मधुरेणायं शनैर्नरपतीश्वरः ॥
श्लो० ४८ सर्ग १७, युद्ध का० ।

‡—उद्योगं तव सम्प्रेक्ष्य मिथ्यावृत्तं च रावणम् ॥
वालिनं च हतं श्रुत्वा सुग्रीवं चाभिषेचितम् ॥
श्लो० ६६ सर्ग १७, युद्ध का० ।

राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहा गतः ।
एतावत्तु पुरस्कृत्य विद्यते तस्य संग्रहः ॥
श्लो० ६७ सर्ग १७, युद्ध का० ।

+—ममापि च विवक्षास्ति काचित्प्रति विभीषणम् ।
श्लो० २ सर्ग १८, युद्ध का० ।

स्थलों पर पाई जाती हैं इस सिद्धान्त को स्थिर करती हैं कि सभा में सभासदों को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी और सभासदों की सर्व सम्मति राजा की प्रबल-से-प्रबल इच्छा को रोक सकती थी।

सभा के कार्यः—वैदिक काल में सभा और समिति बड़े महत्व की संस्थायें थीं। वैदिक राजा इन संस्थाओं के बिना कोई भी महत्वपूर्ण कार्य करने में असमर्थ था। ब्राह्मण ग्रंथों में उन्हें ब्रह्मा की दो यमज कन्यायें बतलाया है। इस प्रकार यह दोनों संस्थाएँ उस युग से महत्व-पूर्ण कार्य करती चली आती हैं जब कि वेदों का प्रादुर्भाव हुआ था और वैदिक सभ्यता का उदय प्रारम्भ हुआ था परन्तु रामायण और महाभारत काल में समिति अपने मौलिक राजनीतिक स्वरूप से दूर हो गई। सभा में भी उसके संघटन एवं कार्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गए। वैदिक युग में सभा बड़े लोगों (Elders) की संस्था थी। नगर अथवा ग्राम के बड़े लोग (Elders) एकत्र होकर देश या जाति की समस्याओं पर निर्णय देते थे परन्तु रामायण और महा-भारत-काल में सभा ने जनता की संस्था का रूप धारण कर लिया था।

रामायण तथा महाभारतकालीन सभा और आधुनिक युग की धारासभाओं में पर्याप्त मात्रा में भिन्नता है। कार्यों की दृष्टि से तो ये नितान्त भिन्न हैं। आधुनिक धारासभाओं का मुख्य कर्तव्य प्रजा के कल्याण के हेतु विधियों का निर्माण करना है। प्राचीन भारत में विधियों के निर्माण करने का अधिकार सभा को प्राप्त नहीं था, क्योंकि उस काल में विधियों का उद्गमस्थान ऋषियों के मस्तिष्क अथवा परम्परागत प्रचलित प्रथाएँ एवं पद्धतियाँ थीं। विधि-निर्माण का कुछ अंश विभिन्न स्थानीय संस्थाओं द्वारा होता था। इस दृष्टि से रामायण एवं महाभारत-कालीन सभा आधुनिक धारासभाओं से भिन्न थी।

प्रजातंत्र राज्यों की आधुनिक धारासभाओं का दूसरा मुख्य कर्तव्य राष्ट्रीय कोष पर नियंत्रण रखना है। इन सभाओं की स्वीकृति प्राप्त किए बिना किसी प्रकार की भी आर्थिक योजना न तो बनाई जा सकती है और न कार्यरूप में परिणत ही की जा सकती है—इस सभा की स्वीकृति के बिना राज्य की प्रजा पर किसी प्रकार का नया कर लागू नहीं किया जा सकता। इसलिए राज्य के आय-व्यय का लेखा तैयार

करना, उस पर वाद-विवाद करना और उसे स्वीकार करना इन सभाओं का दूसरा मुख्य कर्तव्य है।

कुछ ऐसे उदाहरण मिले हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि रामायण एवं महाभारत-काल में आय-व्यय का लेखा रखने की प्रथा प्रचलित थी। इस सिद्धान्त की पुष्टि एक कथा के द्वारा होती है जिसका विवरण महाभारत के अन्तर्गत दिया हुआ है। वह इस प्रकार है:—

लोपामुद्रा नाम की एक राजकन्या थी। उसका विवाह ऋषि अगस्त के साथ हुआ था। ऋषि-आश्रम में पहुँच कर उसने चिथड़ों की शय्या पर सोना रुचिकर न समझा। वह राजकुमारियों के समान अपना जीवन व्यतीत करना चाहती थी। इसलिए अगस्त ऋषि को उसे सन्तुष्ट करने के लिए धन की आवश्यकता पड़ी। अगस्त ऋषि धन की याचना करने के लिए श्रुतर्वा नाम के एक आर्य राजा के समीप गए* और उनसे आर्थिक सहायता के लिए प्रार्थना की। राजा ने अगस्त ऋषि को आय-व्यय समान है ऐसा दिखा दिया।† अतः बिना नये कर लगाए हुए उसने ऋषि को आर्थिक सहायता देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। परन्तु नया कर लगाया जाय इस बात को ऋषि ने न्यायसंगत न समझा। इसलिए वह दोनों ब्रध्नश्व नाम के दूसरे राजा के पास गए और उससे धन की याचना की। वहाँ भी ऋषि को वही उत्तर मिला। राजा ने आय-व्यय समान है ऐसा ऋषि को दिखा दिया।‡ इस प्रकार उससे भी ऋषि की आर्थिक सहायता न हो सकी। इसके उपरान्त वह तीनों त्रिदश्व नाम के राजा के पास गए और उससे अपनी आवश्यकता

---

*—ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्योभिक्षितुं वसु।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाभ्यधिकं नृपैः॥

श्लो० १ अ० ९८, वन पर्व।

†—तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत्॥

श्लो० ५ अ० ९८, वन पर्व।

‡—तत आय व्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः॥

श्लो० ११ अ० ९८, वन पर्व।

प्रकट की। उसने भी आय-व्यय समान है ऐसा दिखा कर अपनी विवशता प्रकट की।*

महाभारत में वर्णित इस कथा के पढ़ने के उपरान्त पाठक इस परिणाम पर पहुँचता है कि महाभारत-काल में आय-व्यय के लेखा की पद्धति प्रचलित थी और इसका पालन कठोरतापूर्वक होता था।

अब यह प्रश्न होता है कि इस आय-व्यय लखा को कौन तैयार करता था ? रामायण इस बात को बतलाती है कि उस युग में अर्थ-सचिव होता था।† परन्तु रामायण और महाभारत ग्रन्थों में इस बात का कहीं भी उल्लेख नहीं है कि आय-व्यय के लेखा को अर्थसचिव अथवा अर्थमन्त्री तैयार करता था। यह सम्भव है कि जब अर्थसचिव उस काल में था तो इस लेखा को तैयार करना अन्य किसी का काम नहीं हो सकता।

यह लेखा प्राचीन निर्धारित परम्परागत नियमों के अनुसार बनाया जाता था। प्रजा पर कर लगाने, उन्हें एकत्र करने और करों द्वारा एकत्र किए गए धन को व्यय करने आदि के मौलिक सिद्धान्त नियत थे। यह नियम न तो सभा ही द्वारा और न मन्त्रिपरिषद के द्वारा बनाए जा सकते थे। यह नियम मनु, शुक्र, व्यास, भरद्वाज, कौटिल्य जैसे ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित किए जाते थे।

महाभारत में इन नियमों का उल्लेख है। महाभारत में कर-सम्बन्धी निर्धारित नीति का वर्णन है। इसके अनुसार कर इस प्रकार लगाए और एकत्र किए जाने चाहिए जैसे गाय का दोहन-कार्य किया जाता है। उसे दुहने के पूर्व खूब खिलाना चाहिए। उसे इस प्रकार दुहना चाहिए कि वह लेशमात्र भी क्लेश का अनुभव न करने पाए।‡ जिस प्रकार मधुमक्खी फूलों पर बैठकर मधु एकत्र करती है

---

*—तत आय व्ययौ पोर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत् ॥

श्लो० १६ अ० ६८, वन प० ।

†—प्लवश्चैव प्रभावश्च मंत्रिणावर्थधर्मयोः ॥

श्लो० ४३ सर्ग ३१, किष्किन्धा का० ।

‡—यो हि दोग्धी मुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ।
एवं राष्ट्र मुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥

श्लो० १७ अ० ७१, शा० प० ।

परन्तु फूलों को इस बात का लेशमात्र भी पता नहीं चलता कि उनसे मधु लिया गया है। राजा को प्रजा से कर एकत्र करने में इसी नीति का पालन करना चाहिए। इतना ही नहीं वरन् महाभारत में विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं एवं भूमि, उपज आदि, पर कर लगाने की दर भी दी गई है।‡ इसलिए राज्य में कर नियत करना उनका लागू करना एवं उन्हें प्राप्त करना आदि कार्य परम्परागत निर्धारित नियमों के आधार पर थे जो आज भी ऋषि-मुनियों द्वारा निर्माण किए गए ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। मन्त्रिपरिषद् एवं सभा को इस बात का धर्मतः कोई भी अधिकार न था कि वह इन मौलिक सिद्धान्तों में लेशमात्र भी परिवर्तन कर सकती।

इसलिए राज्य के आय-व्यय-लेखा पर मन्त्रिपरिषद् का अधिकार सीमित था। पूर्वनिर्धारित नियमों के अनुसार कर लगाना, उनके अनुसार धन एकत्र करना और इस प्रकार एकत्र किए गए धन को व्यय करना मन्त्रिपरिषद् का एक प्रमुख कार्य था। इसलिए जब तक मन्त्रिपरिषद् इन नियमों का उल्लंघन नहीं करती थी सभा आय-व्यय के लेखा सम्बन्धी कार्य में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझती थी। आय-व्यय के लेखा सम्बन्धी योजना में सभा उस समय हस्तक्षेप करती थी जब उसे इस बात का विश्वास हो जाता था कि मन्त्रिपरिषद् परंपरागत नियमों का उल्लंघन कर रही है। रामायण और महाभारत में एक भी ऐसा उदाहरण प्राप्त नहीं हुआ है जो इस बात को सिद्ध करता हो कि यह लेखा प्रतिवर्ष बनाया जाता था, उस पर वाद-विवाद होता था और उसकी स्वीकृति होती थी जैसा कि आधुनिक धारा-

---

‡—दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथ विधि।
तथैतं कल्पये द्राराजा योगक्षेम-मतन्द्रितः॥
श्लो० ११ अ० ७१, शा० प०।

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये॥
श्लो० २५ अ० ६६, शा० प०।

दश धर्म गतेभ्यो यद्वसु वह्वल्पमेव च।
तदा ऽऽददती सहसा पौराणां रक्षणाय वै॥
श्लो० २६ अ० ६६, शा० प०।

सभाओं में प्रचलित है। परन्तु यह कहना उचित ही होगा कि सभा राष्ट्रीय कोष पर अपना अधिकार रखती थी और वह अपने इस अधिकार को उस समय बर्तती थी जब उसे यह विश्वास हो जाता था कि जनता पर अनियमित रूप से कर लगाए जा रहे हैं अथवा राष्ट्रीय कोष अनुचित कार्यों पर व्यय होने जा रहा है।

दायित्वपूर्ण राज्यों में आधुनिक युग में धारासभाओं का तीसरा कर्तव्य कार्यकारिणी समिति का निर्माण करना होता है। इन दोनों ग्रन्थों म एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है जो इस बात की पुष्टि करता हो कि इस प्रथा का अनुसरण रामायण तथा महाभारत-कालीन सभा में भी होता था। मन्त्रिपरिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति कुछ प्रतिबंधों के साथ राजा के द्वारा होती थी परन्तु यह प्रतिबंध सभा के बनाए हुए नहीं थे। यह सम्भव है कि सभा मन्त्रिपरिषद के सदस्यों पर अपना प्रभाव रखती हो और इस प्रकार मन्त्रिपरिषद पर सभा का किसी अंश तक अधिकार रहता हो परन्तु यह बात निश्चित है कि मन्त्रिपरिषद का निर्माण करना सभा का धर्मतः अधिकार न था। दूसरी ओर यह बात भी है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य सभा के अतिरिक्त सदस्य (ex-officio) होते थे और इस नाते से वह सभा पर गहरा प्रभाव डालते थे। सभा के समस्त कार्यों में वह प्रमुख भाग लेते हुए वर्णित हैं। सभा में वाद-विवाद का मुख्य श्रेय उन्हीं पर अवलम्बित है।

राजा दशरथ की सभा में मंत्रि-परिषद् के सदस्य उपस्थित दिखलाए गए हैं। राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त भावी राजा के वरण करने के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था उस पर जो वाद-विवाद हुआ है उसमें मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के वाद-विवाद का जो अंश है वह प्रमुख है। लंका राज्य की सभा में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। विभीषण, प्रहस्त, महापार्श्व कुम्भकर्ण आदि प्रमुख वक्तागण रावण की मन्त्रिपरिषद् के सदस्य थे। महाभारत में भी यही बात पाई जाती है। इस ग्रंथ में वर्णित विभिन्न राजाओं की सभाओं में अपने-अपने राज्य की मन्त्रिपरिषद् के सदस्य सभा की बैठक में सम्मिलित होकर उसके कार्यों में महत्वपूर्ण भाग लेते हुए वर्णित हैं।

राज्य की शासन सम्बन्धी समस्याओं पर वाद-विवाद करना और राज्य की नीति को निर्धारित करना आधुनिक धारासभाओं का चौथा प्रमुख कर्तव्य है। इन सभाओं के सदस्यगण इन विषयों में योग्यता-पूर्वक भाग लेते हैं। रामायण तथा महाभारत-कालीन सभा में भी ऐसा ही पाया जाता है। इस सभा के सदस्य भी इस ओर विशेष रुचि रखते थे और इन विषयों से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर विशेष वाद-विवाद करते हुए दिखलाए गए हैं। सभा के सभासदों की इस ओर जो रुचि दिखाई गई है, उसके अवलोकन करने से पता चलता है कि उस युग की सभा का यही मुख्य कर्तव्य था। शासन सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद करना और प्रस्तुत राज्य की नीति की समालोचना करना इस सभा का मुख्य कर्तव्य था। रामायण एवं महाभारत में वर्णित प्रत्येक सभा में सभासदों के मध्य इसी विषय पर वाद-विवाद होते हुए वर्णित है। इस दृष्टि से आधुनिक धारासभाओं और रामायण एवं महाभारत-कालीन सभाओं में पूर्ण समानता मिलती है।

रामायण और महाभारत-कालीन सभा राज्य की सर्वोच्च न्याय-सभा भी थी। न्याय सम्बन्धी महत्वपूर्ण अभियोग सभा के समक्ष अंतिम निर्णय के हेतु प्रस्तुत किए जाते थे। इस अवसर पर सभा के समस्त सभासदगण सभा में नहीं बुलाए जाते थे केवल वह सभासद सभा में बैठते थे जो न्याय-सम्बन्धी कार्य में निपुण थे। इस दृष्टि से यह सभा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की प्रिवी कौंसिल के समान कार्य करती थी। जब सभा न्यायालय की स्थिति में बैठती थी तो सभा के प्रधान पद को राजा अथवा सभा का सर्वश्रेष्ठ सदस्य जिसे महाभारत में श्रेष्ठ कहा गया है ग्रहण करता था।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह पता चलता है कि रामायण एवं महाभारत-कालीन सभा विधि (Law) निर्माण करने-वाली संस्था न थी। यह प्रस्तुत शासन-सम्बन्धी समस्याओं तथा राज्य के नीति-सम्बन्धी विषयों पर विशेष प्रभाव डालती थी और उन पर अपना अधिकार रखती थी। यह सभा सर्वोच्च न्यायालय के रूप में भी कार्य करती थी।

इसलिए आधुनिक धारासभाओं से रामायण एवं महाभारत-कालीन सभाओं की समानता करना एक बड़ी भूल होगी, क्योंकि दोनों में

कार्यों की दृष्टि से बड़ी असमानता है। परन्तु इस सभा की मंत्रिपरिषद् एवं राजा पर महान् प्रभाव पड़ता था जिसके कारण शासकवर्ग की मनमानी योजनाओं पर प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें रोका जाता था। इस दृष्टि से यह सभा प्रजातंत्रात्मक राज्य के विकास में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है। यदि राजा वा मंत्रिपरिषद् के द्वारा किए जाने-वाले किसी काम में भी परम्परागत नियमों के भंग होने की लेशमात्र भी आशंका होती थी तो सभा तुरन्त इस बात का विरोध करती थी और उन्हें इसके लिए विवश कर देती थी कि वह अपनी उन निरंकुश योजनाओं को सदा के लिए स्थगित कर दें। इस दृष्टि से सभा राज्य के विधि-विधान की रक्षक के रूप में सदैव कार्य करती थी और प्रजा को शासकवर्ग के स्वेच्छाचार से बचाती रहती थी।

पंचम अध्याय

विधि की प्रधानता

राज्य और समाजः—प्रचीन भारत म राज्य और समाज दो भिन्न संस्थाएँ थीं। उनमें से प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में अपने निर्धारित कर्तव्यों के पालन करने में स्वतंत्र थी। एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करते थे। आधुनिक युग में कुछ पश्चिमी देशों में ऐसा देखने में आता है कि राज्य और समाज दोनों घुल-मिल कर एक हो गए हैं। परन्तु रामायण और महाभारत-काल में समाज और राज्य दोनों एक ही नहीं हो गए थे। पश्चिम के इन देशों में दोनों के बीच अब किसी विशेष प्रकार का अन्तर नहीं रह गया है। समाज के लगभग सार मुख्य कर्तव्यों को बलपूर्वक इन देशों के राज्यों ने हड़प कर लिया है। इन राज्यों ने अपने अधिकारों की सीमा इतनी बढ़ा रखी है कि वह आज सामाजिक एवं शिष्टाचार सम्बन्धी जीवन के नियमों का भी स्वयं आदेश देने लगे हैं। इन राज्यों में कुछ ने अपने अधिकारों की सीमा यहाँ तक बढ़ा रखी है कि वह मनुष्य जीवन की प्रत्येक क्रिया पर अपना प्रभुत्व जमा बैठे हैं। वास्तव में ऐसे राज्यों में मनुष्य की सारी शक्तियों के स्वतंत्र विकास के अवसर नहीं के बराबर हो गए हैं।

रामायण एवं महाभारत में वर्णित राज्यों की ऐसी स्थिति न थी। इन राज्यों ने कभी भी इस प्रकार का साहस न किया था कि वह समाज के स्थिर संघटन में लेशमात्र भी परिवर्तन करते। क्योंकि यह कार्य राज्य के अधिकार से बाहर समझा जाता था। समाज ने अपन

कुछ अधिकार राज्य को सौंप दिए गए थे कि राज्य समाज के हितों की देख-रेख करेगा और समाज के नियमों का जनता से पालन कराएगा और नियम भंग करनेवालों को समुचित दण्ड देगा। उस युग में राज्य का स्थान केवल एक पुलिस के सिपाही का था जो कि चौराहे पर खड़ा होकर इस बात को सचेष्ट होकर देखता रहता था कि उन मार्गों पर चलनेवाली जनता मार्ग पर चलने के नियमों का पालन करती है। उस काल में राज्य अन्य संस्थाओं में केवल इस दृष्टि से सर्वोच्च था कि वह परम्परागत समाज के नियमों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए जनता को बाधित करता था।* इसके अतिरिक्त राज्य बहुत से नष्ट हुए धर्मों को पुनः प्रचलित करता था और ब्रह्मा द्वारा प्रचलित धर्म में लोगों को प्रवृत्त करता था।† इसीलिए लोक में इस क्षात्रधर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है। राज्य का मुख्य धर्म परम्परागत नियमों का प्रजा द्वारा पालन कराना, नियम भंग करनेवालों को समुचित दण्ड देना और इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म के संघटन को सुचारु रूप से स्थिर रखना था। राज्य को समाज के इन नियमों को सफलतापूर्वक कार्य में परिणत करने के लिए प्रत्येक प्रकार की सुविधा देनी पड़ती थी जिससे कि वर्णाश्रम-धर्म के नियमों का प्रजा भली भाँति पालन कर सफलतापूर्वक मोक्ष प्राप्त कर सकती।

इस प्रकार रामायण और महाभारत-काल के राज्यों के कार्यक्षेत्र को समाज ने अत्यन्त संकुचित और सीमाबद्ध कर दिया था। यदि समाज के प्रचलित नियमों में किसी प्रकार के परिवर्तन, परिवर्द्धन वा सम्वर्द्धन की आवश्यकता पड़ती थी तो यह किसी ऋषि-मुनि के द्वारा समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था और फिर समाज उसे स्वीकार करता था। इसलिए मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा अंग राज्य के अधिकार के बाहर था। मनुष्य के जीवन का बहुत थोड़ा अंग राज्य के अधिकार

---

*—सर्वधर्मपरम् क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम्।
शाश्वदक्षर पर्यन्तमक्षर सर्वतोमुखम॥
श्लो० ३० अ० ६४, शा० प०।

†—नष्टा धर्माः शतधा शाश्वतास्ते क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः।
युगे युगे ह्यादि धर्माः प्रवृत्ता लोकज्येष्ठं क्षात्र धर्म वदन्ति॥
श्लो० २६ अ० ६४, शा० प०।

के अन्तर्गत आता था। इसलिए राज्य के लिए मानव-जीवन के निमित्त यदि किसी प्रकार के नियमों के बनाने की सम्भावना हो सकती थी तो केवल यही संकुचित और सीमित जीवन का अंग उसके अन्तर्गत आ सकता था।

वर्णाश्रम धर्म का प्रभाव—हिन्दू समाज का संघटन वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। इस संघटन के अन्तस्तल में चार आश्रम और चार वर्ण थे। हिन्दू समाज का यह संघटन राज्य की देन न था। यह संघटन शाश्वत था और परम्परागत चलता आ रहा था।* ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, हिन्दुओं की धारणानुसार, ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुए थे। वेदों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है। वेद इस बात को बतलाते हैं कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र वर्ण की उत्पत्ति हुई है।† महाभारत-कार भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करता हुआ लिखता है कि चारों वर्ण ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुए।‡ महाभारत में इन वर्णों को शाश्वत कहा है। महाभारत के भीष्म पर्व में कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए इस बात को बतलाते हैं कि चारों वर्णों के कर्तव्य प्रकृति ने स्वयं नियत किये हैं।× आगे चल कर कृष्ण ने यह भी कहा है कि चारों वर्ण उन्हीं के द्वारा उत्पन्न किए गए हैं।+ दूसरे शब्दों में विष्णु ने इन

---

*—धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥

श्लो० ६ अ० ६०, शा० प०।

†—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ॥

मंत्र ११ अ० ३१, यजुर्वेद।

‡—एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने।

श्लो० २० अ० ८१, आदि प०।

×—ब्रह्म कर्म स्वभावजम् ·····क्षात्रं कर्म स्वभावजं······।
वैश्य कर्म स्वभावजं·········शूद्रस्याऽपि कर्म स्वभावजं ॥

श्लो० ४२-४३ अ० ४२, भीष्म प०।

+—चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्य कर्तारम व्ययम् ॥

श्लो० १३ अ० २८, भीष्म प०।

वर्णों को उत्पन्न किया था क्योंकि कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते हैं। प्रत्येक वर्ण के आचरण-संबंधी नियमों के धर्म अलग-अलग नियत थे और उन्हें अपनी-अपनी निर्धारित सीमा के अन्तर्गत ही कार्य करना पड़ता था। इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने वर्ण के अनुसार चलना और मर जाना दूसरे वर्ण के धर्म को अपनाने से कहीं हितकर होता है।* महाभारत के आदि पर्व में राजा ययाति भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—यद्यपि चारों वर्ण एक ही ईश्वर की देह से उत्पन्न हुए हैं तो भी उनके धर्म और आचार भिन्न हैं।† रामायण और महाभारत दोनों ने प्रत्येक वर्ण के कर्तव्य अलग-अलग निर्धारित किए हैं। महाभारत ने चारों वर्णों के लिए नौ समान कर्तव्य बतलाए हैं। भीष्म के शब्दों में क्रोधाभाव, सत्यवचन, दायभागदान, क्षमा अपनी स्त्री में संभोग, शौच, अद्रोह, सरलता, भृत्यों का भरण-पोषण ये नौ धर्म सारे वर्णों के समान धर्म माने गए हैं।‡ इनके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने विशेष धर्म बतलाए गए हैं। ब्राह्मण वर्ण के विशेष कर्तव्य भीष्म ने इस प्रकार बतलाए हैं। वे कहते हैं कि ब्राह्मणों का सर्वश्रेष्ठ धर्म मन और इन्द्रियों को वश में रखना (दम), वेद का स्वाध्याय उसका अहर्निश अभ्यास करते रहना है। इतने

---

* —श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।
श्लो० ३५ अ० २७, भीष्म प०।

†—एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने।
पृथग्धर्माः पृथक् शौचास्तेषाम्...... ॥
श्लो० २० अ० ८१, आदि प०।

‡—अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥
श्लो० ७ अ० ६०, शान्ति प०।

आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।
श्लो० ८ अ० ६०, शान्ति प०।

में ब्राह्मण के सारे कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं ।* इसी प्रकार भीष्म क्षत्रिय वर्ण के विशेष कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि क्षत्रिय वर्ण का एकमात्र कर्तव्य प्रजा का पालन करना है । वह नित्य उद्योग के साथ चोर-लुटेरों के नाश में लगा रहे और जब रण उपस्थित हो तो उसमें पराक्रम दिखाए ।† वैश्य वर्ण के विशेष धर्मों की विवेचना करते हुए भीष्म महोदय कहते हैं दान, अध्ययन, यज्ञ, पवित्रता के साथ धन का संचय करना, पिता के समान अपने सारे पशुओं का पालन करना वैश्य के सनातन धर्म हैं ।‡ शूद्र वर्ण के धर्म के संबंध में उन्होंने बतलाया है कि प्रजापति ने शूद्र को सारे वर्णों का सेवक बनाया है । इससे शूद्र को सारे वर्णों की परिचर्या करनी चाहिए ।+ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा से ही शूद्र को अनन्त सुख की प्राप्ति हो सकती है । शूद्र तो इन तीनों वर्णों की क्रमशः सेवा में तत्पर रहें ।

महाभारतकार ने इन चारों वर्णों के विभिन्न धर्मों वा कर्तव्यों के लिए शाश्वत शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ यह है कि ये धर्म सनातन माने जाते थे ।× इस प्रकार इन वर्णों के विभिन्न धर्म उस

---

*—दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम् ॥
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥
श्लो० ६ अ० ६०, शान्ति प० ।

†—प्रजाश्च परिपालयेत् ॥
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात्पराक्रमम् ।
श्लो० १४ अ० ६०, शान्ति प० ।

‡—दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ।
श्लो० २१ अ० ६०, शान्ति प० ।
पितृवत्पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वान्पशूनिह ॥
श्लो० २२ अ० ६०, शान्ति प० ।

+—प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥
श्लो० २८ अ० ६०, शान्ति प० ।

×—ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ।
श्लो० ६ अ० ६०, शान्ति प० ।

प्राचीनतम काल से निरन्तर चले आ रहे थे जिसकी स्मृति मनुष्य को नहीं है। इन धर्मों के बनने के बहुत पीछे राज्य की उत्पत्ति हुई थी। राज्य की उत्पत्ति की आवश्यकता मनुष्यों को उस समय हुई थी जब मानव उस दशा को प्राप्त हो गया था कि समाज में स्वार्थवश लोगों ने इन परम्परागत प्रचलित धर्म-नियमों को भंग करना प्रारंभ कर दिया था। इसलिए ऐसे लोगों को दंड देना वर्णाश्रम धर्म को सुरक्षित रखने की दृष्टि से यह उचित समझा गया था कि एक ऐसी संस्था का निर्माण किया जाय जो इन अधर्मियों को दण्ड देने में समर्थ हो और उस सनातन वर्णाश्रम धर्म को उसी शुद्ध और पवित्र रूप में स्थिर रख सके जिसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक वर्ण अपने-अपने वर्णधर्म को मानता हुआ अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को सुविधापूर्वक प्राप्त कर सकेगा।*

इसके उपरान्त आश्रमों के संघटन की व्यवस्था भी बड़े महत्व की थी। आश्रम चार थे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ये चार आश्रम कहलाते थे। हिन्दू विचारधारा के अनुसार मानव-जीवन सौ वर्ष का माना गया था। इसे चार बराबर भागों में बाँटा गया था। पहले पच्चीस वर्ष का समय ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत आता था जिसमें मनुष्य विद्यार्थी के रूप में अपने शारीरिक एवं मस्तिष्क सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के विकास के प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। पच्चीस और पचास वर्ष के बीच की अवस्था गृहस्थआश्रम के नाम से प्रसिद्ध थी। गृहस्थ जीवन के उपरान्त मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था जिसमें पचास वर्ष से पचहत्तर वर्ष की आयु का भोग होता था। अन्तिम आश्रम संन्यास आश्रम के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रकार मनुष्य के जीवन के छोटे-से-छोटे कार्य भी आश्रमधर्म के नियमों से पूर्णतया बद्ध थे। यहाँ तक कि जीवन-सम्बन्धी साधारण बातें जैसे चलना फिरना, बात करना, खाना पीना, सोना आदि विषयों के लिए भी प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम के अलग-अलग धर्म बने हुए थे, जिनके अनुसार मनुष्य को आचरण रखना पड़ता था। यह धर्म भी शाश्वत थे। इन नियमों में यदि कहीं पर भी बढ़ाने-घटाने की आवश्यकता मानव समाज को

---

*—स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥

श्लो० ४५ अ० ४२, भीष्म प०।

पड़ती थी तो उन्हें वीतराग ऋषि-मुनियों की शरण लेनी पड़ती थी और वे ही इन नियमों में कुछ हेर-फेर करने के अधिकारी थे। जब हम आश्रमों की व्यवस्था को ध्यान से देखते हैं तो ऐसा विदित होता है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का राज्य से कोई विशेष संबंध न था। इन चारों आश्रमों में यदि किसी भी आश्रम का राज्य से कुछ भी सीधा सम्बन्ध हो सकता था तो वह गृहस्थ आश्रम था। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि हिन्दू युग में मानव-जीवन का, साधारण रीति से केवल चतुर्थांश ऐसा था जो राज्य से कुछ सम्बन्ध रखता था। मानव-जीवन का शेष तीन चौथाई भाग राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त था और इस प्रकार राज्य द्वारा बनाए हुए नियमों के बन्धन से यह जीवन नितांत स्वच्छन्द था।

अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि मानव-जीवन के इस अंग के नियंत्रण एवम् संघटन के लिए राज्य की ओर से किस प्रकार नियम बनते थे और ये नियम किसके अधीन बनाए जाते थे।

रामायण और महाभारत काल में विधि-निर्माण के साधनः— रामायण और महाभारत दोनों में विधि-निर्माण के कई साधनों का उल्लेख है जिनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता हैः—

(क) दैवी साधनः—महाभारत के शान्ति पर्व में यह दिया गया है कि विधि-निर्माण का कार्य स्वयं ब्रह्मा के द्वारा हुआ था। आदि काल में मनुष्य सुखी और सन्तुष्ट था। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात मनुष्य में काम, क्रोध, लोभादि विकार जाग्रत हुए और उन्होंने मानव समाज में अशान्ति, विप्लव, दुख-दरिद्र आदि उत्पन्न कर दिए। मानव समाज विह्वल हो उठा। उसने ब्रह्मा की शरण ली। ब्रह्मा ने एक लाख अध्याययुक्त ग्रंथ की रचना की।* इस ग्रंथ में मानव जीवन के प्रत्येक कार्य को नियंत्रण करने एवं उसे सुचारु तथा सुविधापूर्वक होने के लिए नियम दिए हुए थे। ब्रह्मा ने इस विधि-संग्रह को मानव जाति के कल्याण के निमित्त उसे यह आदेश देकर सौंप दिया कि वह इस ग्रंथ में दिए हुए नियमों के अनुसार अपने जीवन को ढालें। इसके उपरान्त समस्त जन इस ग्रंथ को लेकर वापस लौट गए। उन्होंने

---

*—ततोऽध्याय सहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् ॥

श्लो० २९ अ० ५९, शा० प०।

इस बात का प्रयत्न किया कि वह अपने जीवन को इन नियमों के अनुरूप बनाएँ। परन्तु इसमें वह सफल न हो सके क्योंकि स्वार्थ में अन्धा मनुष्य इन नियमों का उल्लंघन करने लगा जिससे मानव समाज ने इस ग्रंथ के प्राप्त कर लेने पर भी किसी प्रकार की उन्नति न की। इसलिए एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता हुई जो बल-पूर्वक मानव समाज को ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधि-संग्रह पर चला सकता। इस प्रकार राजा व राज्य की उत्पत्ति हुई जिसका केवल यह कर्तव्य था कि वह ब्रह्मा द्वारा निर्मित इस विधि-संग्रह के अनुरूप मानव जीवन को चला सकता। इस प्रकार मानव समाज में विधि का स्थान सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ, शाश्वत एवं दिव्य मानना होगा।

महाभारत के वनपर्व में भी महाभारतकार ने इस ओर संकेत किया है। युधिष्ठिर और मार्कण्डेय मुनि के सम्वाद में मार्कण्डेय मुनि भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि मानव जाति के लिए विधि का निर्माण भगवान् ब्रह्मा ने स्वयं किया था। उनका कहना है कि सबसे पहले उत्पन्न हुए प्रजापति ने जीवात्माओं के लिए निर्मल और शुद्ध शरीर एवं उत्तम धर्मशास्त्र उत्पन्न किए।* मार्कण्डेय मुनि का यह कथन इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि मनुष्य और विधि की रचना साथ-साथ हुई थी और इन दोनों की रचना भगवान् ब्रह्मा ने स्वयं की थी। इसलिए मार्कण्डेय मुनि के मतानुसार विधि-निर्माण का साधन दैवी है और विधि का निर्माण उस समय हुआ था जब कि मनुष्य सर्वप्रथम पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुआ था।

इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए भीष्म महोदय अपने पौत्र युधि-ष्ठिर को समझाते हुए कहते हैं—सत्ययुग में राज्य, राजा, दण्ड वा दण्ड देनेवाला कुछ भी नहीं था। सारी प्रजा धर्म के अनुसार चलती थी। इससे लोग अपनी रक्षा आप ही परस्पर कर लेते थे।†

---

*—निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम् ॥

श्लो० ६२ अ० १८३, वन० प०।

ससर्ज धर्म तंत्राणि पूर्वोत्पन्न प्रजापतिः ॥

श्लो० ६३ अ० १८३, वन० प०।

†—न वैराज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

श्लो० १४ अ० ५९, शा० प०।

इस प्रकार आदि काल ही से धर्म अथवा विधि प्रचलित था और जिसके अनुसार लोग अपने आचरण रख कर सुखी और सम्पन्न रहते थे। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह धर्म वा विधि सनातन था जिसका निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं हुआ था। इसलिए इस धर्म वा विधि का निर्माण दैवी साधन के द्वारा हुआ मानना ही होगा।

रामायण में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि में प्रमाण प्राप्त हैं। रामायण के किष्किन्धा काण्ड में लक्ष्मण सुग्रीव को राम के प्रति उसके कर्तव्य का बोध कराते हुए कहते हैं—हे वानर राज, घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ घोड़े मारने का पाप होता है। गौ के संबंध में झूठ बोलने से हजार गौ मारने का पाप लगता है और पुरुष के सम्बन्ध में झूठ बोलने से मनुष्य अपना और स्वजनों का नाश करता है। हे वानर-राज, जो मित्र से पहले अपना मनोरथ सिद्ध करा ले और पुनः उसका बदला न चुकाए वह कृतघ्न है और सब प्राणियों से बाध्य है—यह श्लोक सर्वपूज्य ब्रह्मा ने स्वयं गाया है।*

यह कथन भी इसी सिद्धान्त को सिद्ध करता है कि आदि काल में विधि का निर्माण ब्रह्मा द्वारा हुआ था जिसका उद्देश्य लोककल्याण था। उसी सनातन धर्म अथवा विधि की ओर यहाँ पर लक्ष्मण सुग्रीव को संबोधित कर संकेत कर रहे हैं।

इस प्रकार उपरोक्त दृष्टान्तों के द्वारा यह पूर्णतयः सिद्ध हो जाता है कि लोक-कल्याण के निमित्त भगवान् ब्रह्मा ने स्वयं विधि का निर्माण किया था जो सनातन काल से मानव समाज में निरन्तर प्रवाहित रहे।

(ख) विधि-निर्माण का लोक सम्मति का साधनः—महाभारत के शान्ति पर्व में इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है कि लोकसम्मति के द्वारा कुछ विधियों का निर्माण हुआ था। इस प्रसंग में भीष्म महोदय अपने पौत्र राजा युधिष्ठिर को समझाते हुए कहते हैं—हमने यह सुना भी है कि पूर्वकाल में राष्ट्र का कोई राजा नहीं था। उस समय प्रजा नष्ट होती रहती थी। लोग परस्पर कृश मछलियों को बड़े मत्स्यों की भाँति

***—शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते।**
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते॥
श्लो० ६ सर्ग ३४, किष० का०।

खा जाते थे ।* हमने सुना है कि उन लोगों ने इकट्ठे होकर यह समय (विधि) बनाए हैं कि जो हमारे मध्य में कठोरभाषी, दण्डपरायण, परस्त्री अपहरणकर्ता होगा तथा जो अन्य की सम्पत्ति का अपहरण करेगा उसे हम अपने समूह में से निकाल देंगे । यह सब कुछ इसलिए किया गया है कि सारे वर्णों को सामान्य रीति से एक दूसरे का विश्वास हो जाए ।† परन्तु उन लोगों ने समय (विधि) तो बना लिए परन्तु उन पर चल नहीं सके ।‡ इसलिए उन्हें राजा की आवश्यकता प्रतीत हुई जो कि इस प्रकार बनाए गए विधि का प्रजा में पालन करा सके इसीलिए उन्होंने पितामह ब्रह्मा के पास जाकर प्रार्थना की कि वह उन्हें एक राजा बताने की कृपा करें ।+ इस राजा की वह प्रार्थना करते हैं कि वह उनका पालन करे ।

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः ।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर ॥
श्लो० १० सर्ग ३४, किष्० का० ।

गीतोऽयं ब्रह्मणा श्लोकः सर्वलोक नमस्कृतः ॥
श्लो० ११ सर्ग ३४, किष्० का० ।

*—अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥
श्लो० १७ अ० ६७, शा० प० ।

†—समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम् ।
वाक्शूरो दण्ड परुषो यश्च स्यात्पार जायिकः ॥
श्लो० १८ अ० ६७, शा० प० ।

यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति ।
विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः ॥
श्लो० १९ अ० ६७, शा० प० ।

‡—तास्तथा समयंकृत्वा समये नावतस्थिरे ॥
श्लो० १९ अ० ६७, शा० ।

अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरंदिश ॥
श्लो० २० अ० ६७, शा० प० ।

+—तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥
श्लो० ३५ सर्ग १८ किष० का० ।

इस स्थल पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि राजा की उत्पत्ति के पूर्व विधि का निर्माण हो चुका था। लोक सम्मत्ति द्वारा विधि का निर्माण हुआ था। विधि-निर्माण-कार्य में राजा का लेशमात्र भी हाथ न था। राजा की उत्पत्ति केवल इसलिए हुई कि वह इन विधियों का मानव-समाज में उनके वास्तविक रूप में प्रचार करे और अपने विशेषाधिकार से लोगों को उन विधियों के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत करने के लिए बाधित करे। राजा भी स्वयं इन विधियों के प्रतिबन्धों से बँधा हुआ था। उसे भी इसी के अनुसार अपना आचरण बनाना पड़ता था। वह विधि निर्माण कर्ता न था। वह केवल विधि का प्रचारक था। उसे विधि के उल्लंघन करने का तनिक भी अधिकार न था इसीलिए राम वालि द्वारा किए गए आक्षेपों का समाधान करते हुए उससे कहते हैं—तुम्हारा वध शास्त्र की आज्ञा से धर्मरक्षा के लिए हुआ है क्योंकि हम लोग (राजा) अपने अधीन नहीं होते।

(ग) ऋषि द्वारा-विधिनिर्माण:—ऋषि द्वारा-विधिनिर्माण की पुष्टि के सम्बन्ध में महाभारत में कई उदाहरण दिए गए हैं। मानव जीवन को समय-समय पर देश, काल परिस्थिति की दृष्टि से अनुशासित और नियंत्रित करने के लिए ऋषि ने समय-समय पर नियम बनाये थे जो विधि का रूप धारण कर लेते थे।

महाभारत के आदि पर्व में एक कथा वर्णित है। इसमें ऋषिदीर्घतमा और उसकी पत्नी प्रद्वेषी की कलह का वर्णन है। इस कथा में ऐसा उल्लेख है कि बृहस्पति के श्राप के कारण दीर्घतमा अन्धा हो गया था। उसकी पत्नी प्रद्वेषी उसका भरण-पोषण करते-करते थक गई थी और अब आगे इस कार्य के लिए अपने को असमर्थ समझती थी। अतः उसने अपने पति दीर्घतमा से स्पष्ट कह दिया कि वह भविष्य में उसका भरण-पोषण न कर सकेगी (नित्यकालं श्रमेणाऽऽर्ता न भरेयं महातपाः)। उसने कह दिया कि अब तेरी इच्छा में जो आए सो कर मुझसे तो तेरा पालन नहीं हो सकता।*

अपनी पत्नी प्रद्वेषी के यह वचन सुनकर ऋषि ने यह घोषित कर दिया—आज से मैंने यह मर्यादा जगत में स्थापित कर दी है कि स्त्री

---

*—यथेष्टं कुरु विप्रेन्द्र न भरेयं पुरा यथा।

श्लो० ३४ अ० १०४, आदि प०।

का जीवन पर्यन्त एक ही पति हो सकता है। चाहे वह मर जाए या जीवित हो, वह दूसरा पति कर न सकेगी। यदि स्त्री ने दूसरा पति कर भी लिया तो वह पतित समझी जाएगी। विधवा स्त्रियों को अन्य पतियों के साथ विवाह करने में आज से आगे पाप होगा।*

इस प्रकार हिन्दू-समाज में विवाह सम्बन्धी विधि का निर्माण हुआ स्त्री को एक ही पति करने का अधिकार है और इसके लिए विधवा-विवाह का निषेध कर दिया गया।

इसी सम्बन्ध में आदिपर्व में ही एक दूसरी कथा भी दी गई है यह कथा इस प्रकार है—अणी माण्डव्य नामक एक ऋषि धर्मराज की सभा में गए। वहाँ उन्होंने धर्मराज को आसन पर बैठे हुए देखा। उसे देखकर ऋषि ने उलाहना देते हुए कहा—बता मैंने अज्ञान से भी कौन सा ऐसा दुष्कर्म किया है जिसके कारण मेरे शरीर में सूली भदी गई। इसके उत्तर में धर्मराज ने कहा—तूने एक पतंगे की पूछ में एक सींक गड़ा दी थी। उसी कर्म का तुझको यह फल मिल रहा है। अणीमाण्डव्य के पुनः पूछने पर धर्मराज ने उन्हें बतलाया कि उन्होंने यह पाप कर्म बालकपन में किया था। इस अणीमाण्डव्य ने कहा कि बालक जन्म से लेकर बारह वर्ष तक जो कुछ कर्म करता है, इसमें कुछ अधर्म नहीं होता क्योंकि वह धर्म का मार्ग जानता ही नहीं है। तूने छोटे अपराध पर भी बड़ा दण्ड दे डाला है। इससे तू शूद्र योनि में मनुष्य बनेगा। आज से मैं संसार में कर्मफल की मर्यादा स्थापित करता हूँ †—चौदह वर्ष से पूर्व किये दुष्कर्म का अधिक पातक नहीं है। इससे आगे पूर्ण पातक लगेगा।‡

---

*—अद्यप्रभृति मर्यादा मयालोके प्रतिष्ठिता।

श्लो० ३४ अ० १०४ आदि प०।

एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्।

मृते जीवित वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम्॥

श्लो० ३५ अ० १०४, आदि प०।

†—मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्मफलोदयाम्।

श्लो० १६ अ० १०८, आदि प०।

‡—आचतुर्दशकाद्वर्षान्न भविष्यति पातकम्।

परतः कुर्वतामेव दोष एव भविष्यति॥

श्लो० १७ अ० १०८, आदि प०।

इस कथा के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ऋषि समय-समय पर विधि-निर्माण करते थे। इतना ही नहीं वरन न्यायालयों में प्रवेश करते थे और इस ओर ध्यान देते थे कि न्यायाधीश जिस विधि संग्रह को प्रयोग में ला रहा है वह दोषपूर्ण तो नहीं है। यदि इसमें कोई दोष उन्हें प्रतीत होता था तो वह उसे संशोधित कर नए विधि का निर्माण करते थे अथवा उसी बने हुए नियम में परिवर्द्धन अथवा परिवर्तन कर देते थे। ऋषि अणीमाण्डव्य का यह उपाख्यान इस सिद्धान्त का पोषक है।

महाभारत के इसी पर्व में एक और दृष्टान्त मिलता है जो इस सिद्धान्त की बलपूर्वक पुष्टि करता है। यह दृष्टान्त इस प्रकार दिया हुआ है—पाण्डु अपनी विवाहिता कुन्ती को पुत्रोत्पत्ति के लिए नियोग प्रथा का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करते हुए यह कथा सुनाते हैं।

पूर्वकाल में स्त्रियाँ सब बन्धनों से मुक्त थीं। वह अपनी इच्छानुसार विहार करनेवाली एवं स्वतंत्र थीं। यौवनावस्था के प्रारम्भ से ही वह कामभोग में लिप्त होकर अपने पतियों का अतिक्रमण करती रहती थीं। परन्तु यह अधर्म नहीं माना जाता था। क्योंकि पूर्वकाल में ऐसी ही व्यवस्था थी। एकबार उद्दालक नामक ऋषि पत्नी का हाथ एक ब्राह्मण ने कामवृत्ति से पकड़ लिया। ब्राह्मण की यह कुचेष्टा देखकर उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु को क्रोध आ गया। पिता ने पुत्र को यह कहकर कि यह तो सनातन धर्म है बहुत कुछ समझाया परन्तु श्वेतकेतु ने इस प्रथा को दोषपूर्ण ही समझा। उन्हें यह प्राचीन पशु तुल्य व्यवस्था रुचिकर प्रतीति नहीं हुई। इसलिए उन्होंने संसार में यह मर्यादा स्थापित करते हुए घोषित किया*—अबसे आगे जो स्त्री अपने पति का अतिक्रमण करेगी उसके लिए घोर भ्रूणहत्या के पाप के समान दुःखदायी पातक होगा। जो पुरुष भी कुमारावस्था से ब्रह्मचर्य में स्थित पतिव्रता स्त्री का अतिक्रमण करके व्यभिचार करता है, उसको भी भ्रूणहत्या का पाप लगेगा। पुत्र उत्पत्ति के लिए पति द्वारा मैथुन के लिए प्रेरित की हुई स्त्री यदि पति की आज्ञा नहीं मानेगी तो उसको भी वही भ्रूणहत्या का पाप

---

*—**ऋषिपुत्रोऽथ तं धर्मं श्वेतकेतुर्न चक्षमे।**
चकार चैव मर्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भुवि॥
श्लो० १६ अ० १२२, आदि प०।

लगेगा ।* उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने यह मर्यादा बलपूर्वक जगत में स्थापित कर दी है ।†

इस प्रकार श्वेतकेतु नामक ऋषि को पति-पत्नी के सम्बन्ध एवं उनके पवित्र आचरण से सम्बन्धित विधि-निर्माण का श्रेय प्राप्त है ।

महाभारत के आदि पर्व में इसी विषय से सम्बन्धित एक और कथा का उल्लेख प्राप्त है। शुक्राचार्य असुरों के पुरोहित थे। वह असुरों को सुरापान करते देख क्रोधित हुए। उन्होंने ब्राह्मणों की हितकामना से सुरापान करनेवालों पर कुपित हो यह व्यवस्था स्थापित करने को घोषणा की—जो मन्द बुद्धि ब्राह्मण आज से आगे अज्ञान से सुरापान करेगा वह धर्म से च्युत होकर ब्रह्महत्या का भागी होगा और इस लोक और परलोक दोनों में निन्दित होगा। हे गुरू की सेवा करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणों, देवो और सारे मनुष्यो, तुम सुन लो। मैंने यह सब जगत में ब्राह्मणों के धर्म की सीमा बनाकर मर्यादा स्थापित कर दी है ।‡

---

*—व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्यप्रभृति पातकम् ।
भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम् ॥

श्लो० १८ अ० १२२ आदि प० ।

भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमार ब्रह्मचारिणीम् ।
पतिव्रता मेतदेव भविता पातकं भुवि ।

श्लो० १९ अ० १२२, आदि प० ।

पत्यानियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च ।
न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि ॥

श्लो० २० अ० १२२, आदि प० ।

†—इति तेन पुरा भीरु मर्यादा स्थापिता बलात् ।
उद्दालकस्यपुत्रेण धर्म्या वै श्वेतकेतुना ॥

श्लो० २१ अ० १२२, आदि प० ।

‡—यो ब्राह्मणोऽद्य प्रभृतीह कश्चिन्मोहात्सुरां पास्यति मन्द बुद्धिः ।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिंल्लोके गर्हितः स्यात्परे च ॥

श्लो० ६७ अ० ७६, आदि प० ।

मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके ।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे ॥

श्लो० ६८ अ० ७६, आदि प० ।

इस प्रकार हिन्दू समाज में मादक द्रव्य निषेध संबंधी विधि का निर्माण हुआ जिसकी व्यवस्था शुक्राचार्य नाम के ऋषि द्वारा दी गई।

महाभारतकार ने शान्ति पर्व में पापों और उनके प्रायश्चित के साधनों के संबंध में एक लम्बी सूची दी है। शान्ति पर्व के पैंतीसवें अध्याय में इनका विस्तारपूर्वक वर्णन है। इस संबंध में जो विधि निर्धारित किए गए थे उनका निर्माण विद्वान ऋषि-मुनियों द्वारा किया गया था।

इसके अतिरिक्त महाभारत के अन्तर्गत यह भी बतलाया गया है कि धर्म के संशय उत्पन्न होने पर वेद-शास्त्र के जाननेवाले अथवा धर्मपाठक दस या तीन ब्राह्मण जो व्यवस्था दें वह माननीय होगी।* महाभारत के शान्ति पर्व में ऐसे ऋषि-मुनियों के नामों की एक सूची दी हुई है जो कि धर्मशास्त्र-प्रणेता थे। इनमें से विशालाक्ष, शुक्राचार्य, महेन्द्र, मनु, भरद्वाज तथा गौरशिरा मुख्य हैं।†

रामायणकार ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। रामायण इस बात की पुष्टि करती है कि पापों से मुक्त होने के लिये विद्वानों ने प्रायश्चित की व्यवस्था बनाई जिनके उचितविधि से अनुशीलन करने से मनुष्य पापों से मुक्त हो सकता था। लक्ष्मण सुग्रीव को सचेत करते हुए यह बतलाते हैं कि धर्मात्मा पुरुषों ने गोघाती, मद्यपेयी, चोर और भग्नव्रत इसका प्रायश्चित बतलाया है।‡ इस कथन से यह सिद्ध होता

---

*—दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्म पाठकाः ।
यद्‌ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्म संशये ॥
श्लो० २० अ० ३६, शा० प०।

†—विशालाक्षश्चैव भगवान्काव्यश्चैव महातपाः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥
श्लो० २ अ० ५८, शा० प०।

भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः ।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥
श्लो० ३ अ० ५८, शा० प०।

‡—गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः × × × ॥
श्लो० १२ सर्ग ३४, किष्कि० का०।

हैं कि रामायण काल में धर्मात्मा पुरुष भी विधि निर्माण का कार्य करते थे।

इस प्रकार रामायण और महाभारत के अन्तर्गत वर्णित घटनाओं एवं दृष्टान्तों में जो प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हुई है और जिसका ऊपर विवरण हेतुओं सहित दिया गया है उसके आधार पर यह कहना उचित ही है कि रामायण और महाभारत काल में विधि-निर्माण का कार्य किसी अंश तक ऋषिमुनियों के द्वारा होता था।

(ग) आप्त पुरुषों का अनुसरण:—आप्त पुरुषों का अनुकरण भी विधि निर्माण कार्य में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। रामायण और महाभारत दोनों इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि आप्त पुरुषों के आचरण का अनुकरण जनसाधारण करता था और जब आप्तजनों के इस आचरण के उन नियमों को जो कि जन साधारण स्वीकार कर लेता था राज्य अपना लेता था और उसे मान्यता दे देता था तो वही नियम विधि के रूप में परिणत हो जाते थे। इसी कारण से महाभारत के भीष्म पर्व में कृष्ण श्रेष्ठ पुरुषों को सचेत करते हुए कहते हैं कि उन्हें जन साधारण के सामने बहुत समझ-बूझकर चलना चाहिए। उनके दैनिक जीवन में कोई भी ऐसी बात न होने पाए जो जन साधारण के लिए बुरा उदाहरण रखे।* क्योंकि जिन-जिन बातों का श्रेष्ठ पुरुष आचरण करता है, उसी का साधारण पुरुष भी अनुकरण करता है। श्रेष्ठ पुरुष जिस बात को प्रमाण मानता है जनसाधारण भी उसी को स्वीकार करता है। इसी प्रकरण में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—जो मैं सावधानी के साथ कर्मों में प्रवृत्त न होऊँ तो हे पार्थ ! यह जनसाधारण भी सर्व प्रकार मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे।† इसलिए कृष्ण अपने दैनिक जीवन में बड़े सतर्क रहते थे जिससे कोई भी ऐसा उदाहरण उनके जीवन से लोगों को न मिल सके जो उन्हें पदभ्रष्ट करने में सहायक बन सकता।

---

*—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।
श्लो० २१ अ० २७, भीष्म० प०।

†—यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्माऽनुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
श्लो० २३ अ० २७, भीष्म० प०।

महाभारत के अन्तर्गत एक अन्य प्रसंग में भी इस सिद्धात की पुष्टि की गई है। यहाँ पर भी यही बतलाया गया है कि जिसे साधु पुरुष स्वीकार कर लें वही मर्यादा कहलाती है। यह बात उस समय की है जब कि भीष्म पाण्डु के विवाह के निमित्त मद्रदेश के राजा शल्य से विवाह सम्बन्धी वार्तालाप करते हैं। भीष्म ने वृद्ध मंत्री, महर्षि, ब्राह्मण तथा चतुरङ्गिणी सेना को साथ लेकर मद्रपति के पुर में प्रवेश किया। उन्होंने मद्रनरेश शल्य से उनकी भगिनी माद्री की अपने भतीजे पाण्डु के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करने की इच्छा से याचना की। शल्य ने स्पष्ट कह दिया कि यह सम्बन्ध अति उत्तम होगा। परन्तु हमारे पूर्वजों ने कन्या शुल्क लेने की जो परिपाटी डाल दी है उसका उल्लंघन मैं नहीं कर सकता। भीष्म ने यह कहकर कि जिसको साधु पुरुष स्वीकार कर लें वही मर्यादा कहलाती है।* शल्य की बात अंगीकार कर ली।

द्रौपदी के विवाह के अवसर पर महाभारतकार ने पुनः इसी सिद्धान्त को दोहराया है। राजा द्रुपद और उसके पुत्र धृष्टद्युम्न द्रौपदी का विवाह पाँचो पाण्डव भाइयों के साथ होना धर्म विरुद्ध समझते थे। इसलिए उन्होंने अपने इस संदेह को युधिष्ठिर के सामने रखा। युधिष्ठिर ने उनके सन्देह का निवारण इसी प्रकार के विवाहों के कई उदाहरणों को प्रस्तुत कर किया। उन्होंने अपने इस कार्य को धर्म की दृष्टि से इस सिद्धान्त पर न्याय संगत ठहराया कि प्राचीन काल में कई श्रेष्ठ पुरुषों ने ऐसे विवाह किये थे और जो विवाह धर्मविहित माने गए हैं। उन्होंने कहा कि पुराणों में सुना जाता है कि गौतम गोत्री जटिला नाम की कन्या ने सात ऋषियों के साथ विवाह किया था।† इसी प्रकार वार्क्षी नाम मुनि-कन्या ने तप से शुद्ध आत्मा एक नाम के दस भाई

---

*—विदितेयं च ते शल्य मर्यादा साधुसम्मता ॥
श्लो० १३ अ० ११३, आदि० प०।

†—श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा ॥
श्लो० १४ अ० १९८, आदि० प०।

प्रचेताओं से विवाह किया था।* पूज्यों के वचन सदा धर्मानुसार होते हैं।†

रामायण में भी इस सिद्धान्त पर समान महत्व दिया गया है। रामायण के अयोध्या काण्ड में जाबालि ऋषि ने राम के समक्ष हेतुओं सहित इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि यह संसार मिथ्या है। न कोई किसी का पिता है न पुत्र और इसीलिए इसमें अधिक लिप्सा न करनी चाहिए। ऐसे ही अनेकों दार्शनिक विचारों को रखकर वह राम को अयोध्या पुनः लाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। इसके उत्तर में राम ने उन्हें भली भाँति हेतुओं सहित समझाया था। इस प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा था कि आपकी आज्ञा के अनुसार चलने पर मैं स्वयं स्वेच्छाचारी हो जाऊँगा। तदनन्तर समस्त लोक स्वेच्छाचारी हो जाएगा क्योंकि राजा का जैसा व्यवहार होता है वैसा ही प्रजा का व्यवहार हो जाता है।‡ रामायणकार आगे चलकर उत्तरकाण्ड में भी इसी सिद्धान्त पर विशेष बल देता है। सीता के चरित्र के सम्बन्ध में अयोध्या की जनता में अपवाद फैल रहा था। लोगों को भय था कि उनकी स्त्रियाँ भी आचरण की पवित्रता की ओर विशेष ध्यान न देंगी। वह आपस में इस बात की चर्चा किया करते थे कि उन लोगों को भी अपनी स्त्रियों की ऐसी बातें (सीता के आचरण सम्बन्धी संदिग्ध बात) सहनी पड़ेंगी और वह बुरी नहीं समझी जाएँगी, क्योंकि राजा जो करता है प्रजा उसी का अनुसरण करती है।+

इस प्रकार रामायण और महाभारत दोनों इस सिद्धान्त के पोषक

---

*—तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः।
संगताऽभूद्दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः॥
श्लो० १४ अ० १९८, आदि० प०।

†—गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञ सत्तम॥
श्लो० ६ अ० १९८, आदि प०।

‡—यद् वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः॥
श्लो० ९ सर्ग १०९, अयो० का०।

+—अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते॥
श्लो० १९ सर्ग ४३, उत्त० का०।

हैं कि आप्त पुरुषों के आचरण उस युग में विधि निर्माण का एक महत्वपूर्ण साधन था।

कुलधर्म वा कुलविधिः—रामायण और महाभारत काल के हिन्दू जीवन की एक विशेषता यह थी कि हिन्दू जीवन में अनेकों संस्थाएँ विद्यमान थीं। प्रत्येक संस्था का जीवन समाज में अपना विशेष अस्तित्व रखता था, प्रत्येक संस्था के संचालन एवं अनुशासन के लिए विशेष नियम थे। राज्य जान-बूझकर कभी भी उन नियमों में तब तक हस्तक्षेप न करता था जब तक कि यह संस्थाएँ परम्परागत स्थिर समाज के नियमों को भंग न करती थीं। यह संस्थाएँ अपने सदस्यों के जीवन को संयमी बनाने एवं उसे नियंत्रण में लाने के लिए कुछ नियम बना लेती थीं जिन्हें राज्य अपना लेता था और मान्यता प्रदान कर देता था। यही नियम राज्य में विधि का स्थान ग्रहण कर लेते थे, और समस्त प्रजा के लिए विधि का काम करने लगते थे। रामायण और महाभारत में ऐसी अनेकों संस्थाओं का वर्णन प्राप्त है। इन समस्त संस्थाओं में से कुल सबसे छोटी संस्था थी। हिन्दू समाज में यह सबसे छोटी संस्था होने पर भी बड़े महत्व की थी। हिन्दू राज्य में कुल की स्वतंत्रता को राज्य ने सदैव स्वीकार किया है। प्रत्येक कुल को अपने क्षेत्र में अपने ही नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। कुल के कार्यों में केवल उस समय राज्य की ओर से हस्तक्षेप किया जाता था जबकि कुल समाज अथवा राज्य के नियमों को भंग करने का साहस करता था। प्रत्येक कुल के अपने निजी विधि बने हुए थे जिन्हें कुलाचार या कुलधर्म* के नाम से रामायण और महाभारत ने सम्बोधित किया है। कुल के विधि संग्रह की पुष्टि में रामायण और महाभारत दोनों यह कहते हैं कि यह विधि उस काल में प्रचलित अवस्था में थे।

---

*—कुलाचारं च लक्षये ॥

श्लो० ७ अ० १०३, आदि० प०।

कुलधर्मः सनोवीर प्रमाणं परमं च तत् ॥

श्लो० ११ अ० ११२, आदि० प०।

स राघवाणां कुलधर्मात्मनः सनातनं ॥

श्लो० ३७ सर्ग ११०, अयो० का०।

विचित्रवीर्य की मृत्यु के उपरान्त कुरु राज्य का राज सिंहासन रिक्त था। कुरुवंश में कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो विचित्र वीर्य के स्थान में राजा बन सकता। केवल भीष्म ही ऐसे व्यक्ति थे जो इस गद्दी के नियमानुसार अधिकारी थे। परन्तु वह वचनबद्ध थे कि वह कभी भी राजपद ग्रहण न करेंगे। ऐसा देखकर भीष्म की विमाता सत्यवती अत्यन्त चिन्तित हुईं। उन्हें इस बात की बड़ी चिन्ता हुई कि इस प्रकार तो शान्तनु का वंश ही नष्ट हो जाएगा। ऐसा विचार कर उन्होंने शान्तनुपुत्र भीष्म को बुलाकर इस बात के लिए उनसे प्रार्थना की कि वह नियोग द्वारा अपने भाई की पत्नियों में कुरुवंश को स्थिर रखने के निमित्त पुत्र उत्पन्न करें। ऐसी प्रार्थना करते समय सत्यवती भीष्म की प्रशंसा करती हुई कहती है—धर्म में दृढ़ता के साथ स्थिर होने का जो तेरा कुलाचार है मैं उसको भी तुम में भलीभाँति देखती हूँ और आपत्काल में शुक्र और बृहस्पति के समान धर्म के विवेचना की शक्ति भी तुम में अच्छी तरह विद्यमान है।*

इस प्रकार सत्यवती इस बात का प्रमाण देती है कि महाभारतकाल में कुल के सुचारु रूप से संचालन के निमित्त विधि बने हुए थे जिन्हें कुलाचार कहते थे और इन्हीं विधियों के अनुसार कुरु कुल का संचालन होता था। भीष्म इस विधि संग्रह के विशेषज्ञ बृहस्पति एवं शुक्र के समान थे।

मद्रराज शल्य के कुल में इस प्रकार के विधियों की व्यवस्था थी जिनको उसने कुलधर्म के नाम से सम्बोधित किया है। भीष्म शल्य की बहन माद्री की पाण्डु के लिए याचना करते हैं। इसके उत्तर में शल्य कहता है—मुझे मेरी बहन माद्री और पाण्डु का वैवाहिक सम्बन्ध हितकर प्रतीत होता है और इसीलिए उसके प्रदान करने में मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है परन्तु यह हमारा कुलधर्म है और वही हमारे लिए परम प्रमाण है। हे अरिहन्! इसलिए मैं आपसे निश्चय के साथ कोई बात नहीं कह

---

*—व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव॥
श्लो॰ ७ अ॰ १०३, आदि॰ प॰।

सकता हूँ ।* यहाँ पर शल्य के यह कहने से यह तात्पर्य हैं कि उनके कुल का यह एक धर्म था कि कन्या के विवाह के अवसर पर कन्या शुल्क वर से ली जाती थी । अतः शल्य यहाँ पर उसी कुल धर्म की ओर भीष्म के समक्ष संकेत कर रहे हैं । उनका कहना यह है यदि वह शल्य के इस कुलधर्म को मान्यता देते हैं तो उन्हें माद्री प्रदान हो सकेगी अन्यथा नहीं । भीष्म ने इसे कुलधर्म समझ कर स्वीकार किया और कन्या शुल्क देकर माद्री को पाण्डु के निमित ग्रहण किया ।

यह घटना भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है कि महाभारत काल में कुल को सुचारु रीति से संचालित करने के लिए कुछ विशेष विधि प्रचलित थे जिन्हें कुलधर्म अथवा कुलाचार के नाम से सम्बोधित किया जाता है ।

महाभारत के बनपर्व में द्रौपदी और सत्यभामा का सम्वाद दिया गया है । इस सम्वाद में इस प्रसंग में सत्यभामा द्रौपदी से प्रश्न करती है कि क्या कारण है कि उससे पाँचो पाण्डव प्रसन्न रहते हैं । इस सम्बन्ध में वह उत्तर देती हुई अनेकों कारण बतलाती हुई एक कारण यह भी बताती है कि वह अपने कुलधर्मों का दृढ़ता पूर्वक पालन करती थी । इस प्रसंग में उन्होंने कहा—मेरी सास ने जो कुटुम्ब कुल क्रमागक्त, भिक्षा बलि, श्राद्ध, पर्व पर स्थाली पाक, मान्यों की पूजा सत्कार आदि धर्म बताए तथा अन्य धर्म जिस किसी तरह मुझे ज्ञात हो गए मैं उनका रात-दिन सावधान रहकर पालन करती रहती हूँ ।†

द्रौपदी के यह वचन इस बात को बतलाते हैं कि पाण्डवों के कुल अथवा कुटुम्ब में कुछ विशेष विधि अथवा धर्म प्रचलित थे जिनका पालन करना कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य था । इसलिए यह

*—कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत् ।
तेन त्वां ब्रवीम्येतन संनिग्धंवचोऽरिहन ॥
श्लो० ११ अ० ११३, आदि० प० ।

†—ये च धर्मा कुटुम्बेषु श्वश्रू वा मे कथिताः पुरा ।
भिक्षा बलिः श्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ॥
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम ।
तान् सर्वाननुवर्त्तामि दिवारात्रमतन्द्रिता ॥
श्लो० ३३–३४–३५ अ० २३२, वन० प० ।

वर्णन भी पाठक को इसी ओर ले जाता है कि महाभारतकाल में कुलधर्म अथवा कुलाचार प्रचलित थे जो कुल के लिए प्रमाण थे।

इसी सम्बन्ध में इसी पर्व में एक और घटना का विवरण है जो इसी सिद्धान्त की पोषक है। वह इस प्रकार है––दुर्योधन ने अपने मंत्रियों के साथ घोषों के ग्राम देखने के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने गाँव तो देखे परन्तु इस अवसर पर दुर्योधन और गन्धर्वों में युद्ध छिड़ गया जिसका परिणाम यह हुआ कि गन्धर्वराज चित्रसेन ने मंत्रियों सहित उसे बन्दी बना लिया। दुर्योधन के कुछ बचे हुए जन युधिष्ठिर की शरण में गए। युधिष्ठिर ने आदेश दिया कि वह दुर्योधन को गन्धर्व राज के बन्धन से छुड़ाए। ऐसे अवसर पर भीम रुष्ट होकर बोले कि दुर्योधन को बन्धन से मुक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं। दुर्योधन तो हमारा शत्रु है उसके बन्धन से हमारा काम बन जाएगा। परन्तु ऐसा उत्तर पाकर युधिष्ठिर अपने भाई से बोले––हे भीमसेन भयभीत होकर हमारी शरण में आए हुए विपत्ति ग्रस्त कौरवों से तुम ऐसा कठोर कैसे बोल रहे हो ? हे वृकोदर बन्धुओं में फूट और कलह भी हो जाती है, वैर चल पड़ते हैं परन्तु इससे कुल धर्मों का नाश नहीं हो जाता।*

युधिष्ठिर का यह कथन इस बात को बतलाता है कि जाति वा कुल के सदस्यों में चाहे जितनी कलह वा बैर हो परन्तु कुल धर्म प्रत्येक को समान रूप से मानने होंगे। यह धर्म वा विधि कुल के प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य रूप से मानने पड़ते थे।

महाभारत के विराट पर्व में यह बतलाया गया है कि राज्य कुल धर्मों को प्रमाण मानता था। वह उनका उल्लंघन नहीं करता था। इस सम्बन्ध में इस पर्व में एक घटना का उल्लेख है। यह घटना इस प्रकार है:––

युधिष्ठिर जुआ खेल कर समस्त राज-पाट हार गए थे। उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा था कि वह बारह वर्ष बन में रहेंगे और इसके उपरान्त एक वर्ष का समय उनको गुप्त रहकर काटना पड़ेगा। बारह वर्ष की अवधि समाप्त होने के निकट उन्होंने गुप्त वास की आयोजना

---

*––भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर।
प्रसक्तानि च वैराणि कुल धर्मो न नश्यति॥
श्लो० २ अ० २८२, बन० प०।

की। ऐसी स्थिति में उन्होंने अपने वेश बदले। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र एक बड़े शमी वृक्ष की डालों पर पत्तों में छिपाकर रख दिए। उन्हें भय था कि कोई व्यक्ति उस वृक्ष के समीप जाकर अथवा उसपर चढ़कर उनके अस्त्र-शस्त्रों को जान जायगा जो उनके लिए हितकर सिद्ध न होगा। अतः उन्होंने एक मृत पुरुष के शव को उस वृक्ष की डाल में लटका दिया जिससे कि उस शव की दुर्गन्ध से कोई भी व्यक्ति उस वृक्ष के समीप जाने का साहस न करेगा। परन्तु उन्हें इस बात का भय भी था कि यदि यह बात वहाँ का राजा जान पाएगा कि इन्होंने शव को वृक्ष की डाल में लटकाया है तो वह यह समझेगा कि इन व्यक्तियों ने उस व्यक्ति का बध अवश्य किया होगा। अतः इन्हें राज्य की ओर से उचित दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। इसीलिए इन्हें रास्ते में जो कोई मिला उससे इन्होंने यह कहा कि यह हमारी सौ वर्ष की माता का शव है। यह हमारा कुलधर्म है। हमारे पूर्वज भी इसी तरह मृतक को वृक्ष में लटकाते आए हैं।*

इस प्रकार यह कथानक इस बात को सिद्ध करता है कि महाभारत-काल में कुलधर्म थे और इन कुलधर्मों का राज्य पूर्णतयः सम्मान करता था। राज्य की दृष्टि में कुलधर्म मान्य थे और उनमें राजा को हस्तक्षेप का अधिकार न था।

महाभारतकार ने भीष्मपर्व में भी इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति की है। महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने पर कुरुक्षेत्र में कौरव और पाण्डव-सेनाएँ सुसज्जित हो युद्ध के लिए खड़ी थीं। दोनों ओर के सिपाही मरने और मारने के लिए उत्साहित हो रहे थे। कृष्ण ने अर्जुन को समस्त वीरों का परिचय दिया। अर्जुन ने देखा कि उन्हीं के सम्बन्धी जन युद्ध करने के हेतु कटिबद्ध थे। ऐसा देखकर अर्जुन युद्ध के परिणामों को विचार कर कृष्ण से इस प्रकार बोले—हे जनार्दन! जिन लोगों के लिए राज्य भोग और सुखों की अभिलाषा की जाती है वह ही लोग

---

*—आबद्धं शवमत्रेति गन्धमाघ्राय पूतिकम।
अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः॥
कुल धर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोऽपि वा।
समासज्याथ वृक्षेऽस्मिन्निति वैव्याहरन्ति ते।
श्यो० ३३-३४ अ० ५, विराट० प०।

अपने प्राणों का मोह एवं धन का लोभ छोड़ कर युद्ध क्षेत्र में खड़े हुए हैं। यद्यपि यह दुष्ट कुल-क्षय के दोष और मित्रद्रोह के पातक को नहीं देख रहे हैं परन्तु हमें तो कुल-क्षय के दोष प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। कुल के क्षय होने पर सनातन कुल धर्मों का लोप हो जाता है और जब कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं तो फिर उन कुलों को अधर्म आ दबाता है।* हे कृष्ण! अधर्म के आक्रमण से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। जब स्त्रियाँ दुष्टा हो जाएँगी तो वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होगी जो कुल-धर्म नष्ट होने-वाले मनुष्यों के कुल को नरक में गिरानेवाली होगी। जब इस प्रकार पिण्डदान और जलदान की क्रिया लुप्त हो जाएगी तो उच्च लोकों के पितर पतित हो जाएँगे। कुलधर्म नष्ट करनेवाले पुरुषों के वर्णसंकर-कारक इन दोषों से जाति धर्म और सनातन कुलधर्म लुप्त हो जाते हैं।† हे जनार्दन! जिन मनुष्यों के कुलधर्म नष्ट हो गए उनका निवास नरक में निश्चयपूर्वक होता है ऐसा हम शास्त्रों में सुनते आए हैं। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि हम सब लोग इस महान पाप के करने के लिए उद्यत हो रहे हैं, जो राज्य और सुख के लोभ से अपने कुटुम्ब के लोगों को ही मारने को उत्साहित हो रहे हैं।

यह घटना इस बात को स्पष्ट करती है कि कुल-धर्म सनातन माने जाते थे। कुलधर्म को नष्ट करना वा लुप्त करना घोर पाप समझा जाता था। कुलधर्म महाभारत काल में इस अवस्था को पहुँच चुके थे कि उन के उल्लंघन करने का साहस कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं कर सकता था। सारे पारिवारिक जीवन का सुख और शान्ति इन्हीं कुल-धर्मों पर निर्भर था। यही कारण था कि अर्जुन जैसे वीर योद्धा ने जिसको कि युद्ध ही प्रिय था केवल इसलिए कि इस युद्ध में कुल-धर्म नष्ट हो जाएँगे अपने शस्त्रों को रणक्षेत्र में फेंक कर युद्ध से विमुख होना हितकर समझा था।

---

*—कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥
श्लो० ४० अ० २५, भीष्म प०।

†—दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माःकुलधर्माश्च शाश्वताः॥
श्लो० ४३ अ० २५, भीष्म प०।

महाभारत काल में कुलधर्मों की रक्षा करना राजा का परमधर्म समझा जाता था। इतना ही नहीं वरन राजा के लिए कुलधर्म का पालन करना महान पुण्य कर्म समझा जाता था। महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए इसी सिद्धान्त की ओर उनका ध्यान दिलाते हुए कहते हैं—हे पुरुष व्याघ्र कौन्तेय ! जो राजा देश-धर्म तथा कुल-धर्म की रक्षा करता है वह आश्रमों का पालनकर्ता हो जाता है।*

भीष्म के इस कथन से यह प्रकट होता है कि कुल-धर्म राज्य द्वारा प्रमाणित माने जाते थे। उनकी रक्षा करना राजा का महान कर्तव्य था। इतना ही नहीं वरन इन कुल-धर्मों की उचित रीति से रक्षा करने से राजा को बड़ा पुण्य होता था।

महाभारत में कुल-धर्मों का इतना महत्व बतलाया गया है कि इन्हें शाश्वत माना गया है, इन्हें ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किया हुआ कहा गया है। ब्रह्मा ने एक लक्ष अध्याय का जो दण्डनीति शास्त्र रचा था और जिसमें जीवन के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित विधियों का समावेश किया गया था उसी ग्रंथ में कुल-धर्मों को भी ऊँचा स्थान दिया गया है।† उन्हें देश-धर्म और जाति-धर्म की श्रेणी में बराबरी का स्थान दिया गया है।

रामायणकार ने भी इस सिद्धान्त पर इसी प्रकार के विचार प्रकाशित किए हैं। उन्होंने कुल-धर्म और कुलाचार शब्दों का प्रयोग रामायण के अन्तर्गत इसी अर्थ में किया है।

राम के वनगमन का समाचार सुनकर भरत ने अपनी माता कैकेयी को इसका दोषी ठहराया। वह उसकी इस अनिष्टकारी कार्य की निन्दा करते हुए कहते हैं—जिन इक्ष्वाकु वंशी राजाओं ने सदैव कुल-धर्म की रक्षा की है, जो कुलोचित आचार के पालने से प्रसिद्ध हुए हैं, उनका वह उन्नत चरित्र वाला कुल आज तेरे कारण नष्ट हो गया।‡

---

*—देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च।
पालयन्पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत्॥
श्लो० २९ अ० ६६, शा० प०।

†—देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः॥
श्लो० ७१ अ० ५९, शा० प०।

‡—तेषां धर्मैकरक्षाणां कुल चारित्रशाभिनां।
अद्य चारित्र शौटीर्यं त्वां प्राप्य विनिवर्तितम्॥
श्लो० २३ सर्ग ७३, अयो० का०।

रामायण-काल में भी इस प्रकार कुलधर्मों का इतना मान था कि उनका मान करने से मनुष्य अधिक से अधिक ख्याति पा सकता था। इक्ष्वाकु वंशीय राजाओं ने जो ख्याति पायी थी उसका एक बड़ा कारण यह भी था कि उन्होंने कुलधर्म का सदैव यथोचित पालन किया था। भरत ने अपनी माता कैकेयी को इसी बात का सबसे बड़ा दोष दिया है कि वह कुलधर्म के अनुसार चलनेवाली नहीं थी। उसने कुलधर्म का उल्लंघन कर राम के राज्याभिषेक में विघ्न डाला था जिसके कारण अयोध्या में इतनी बड़ी आपत्ति आयी थी।

रामायण के इसी काण्ड में वसिष्ठ राम को राज्य ग्रहण करने का अनुरोध करते हुए समझाते हैं कि वह अयोध्या राज्य ग्रहण न करने से कुलधर्म का नाश करेंगे। उनपर कुलधर्म भग करने का बड़ा पाप लगेगा। वह उन्हें कुलधर्म का ज्ञान कराते हुए कहते हैं—राम तुम अपना राज्य ग्रहण करो और जगत का पालन करो। समस्त इक्ष्वाकुओं में बड़ा ही पुत्र राजा होता है। बड़े के रहते छोटा राजा नहीं होता। बड़े का ही राज्याभिषेक किया जाता है। तुम अपने रघुवंशियों के सनातन कुलधर्म का विनाश न करो। पिता के समान यशस्वी होकर अनेक राज्यों और प्रचुर रत्नोंवाली इसी पृथ्वी का पालन करो।†

इस प्रकार वसिष्ठ भी कुलधर्म के प्रचलन एवं उनकी मान्यता की पुष्टि करते हैं। वह इन धर्मों को सनातन बतलाते हैं अर्थात यह कुल-धर्म क्रमागत चले आ रहे थे। इन्हें राज्य के अधिकारी गणों ने नहीं बनाया था और न इस कार्य में राज्य का अधिकार ही था। यह

---

†—तस्यज्येष्ठोऽसि दायादो राम इत्यभि विश्रुतः।
तद्गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जगन्नृप॥
श्लो० ३५ सर्ग ११०, अयो० का०।

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते॥
श्लो० ३६ सर्ग ११०, अयो० का०।

स राघवाणां कुल धर्ममात्मनः सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि।
प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं प्रभूत राष्ट्रां पितृवन्महा यशाः॥
श्लो० ३७ सर्ग ११०, अयो० का०।

सनातन धर्म होने के कारण लोप व नष्ट नहीं किए जा सकते थे। इन्हें भंग करनेवाला महान दोषी समझा जाता था।

हिन्दू शास्त्रकारों ने कुलधर्म के महत्व को भली भाँति समझा था। इसलिए उन्होंने अपने बनाए ग्रन्थों में इन कुलधर्मों का महत्व बतलाया है। मानव धर्मशास्त्र में मनु महोदय ने कुल-धर्म की चर्चा करते हुए लिखा है कि राजा का यह परम धर्म है कि वह इस ओर विशेष ध्यान दे कि उसके राज्य में प्रजा कुल-धर्मों का विधिवत पालन करती हैं।† इस प्रकार मनु महोदय भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि कुल-धर्म उनके समय में थे और उनकी मान्यता राज्य की दृष्टि में बहुत बड़ी थी। राज्य को इन कुल-धर्मों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। उसका इस सम्बन्ध में केवल यह कर्तव्य था कि वह इस ओर सचेष्ट रहे और बराबर इस बात को ध्यानपूर्वक देखता रहे कि प्रजा अपने कुल-धर्मों का उचित पालन करती है और यदि उसकी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति ऐसा देखने में आए जो कुल-धर्म का उल्लंघन करता है तो राजा उसे समुचित दण्ड दे और उसे कुल-धर्म पालन करने को बाधित करे।

आपस्तम्ब भी अपनी स्मृति के अन्तर्गत लगभग इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। वह भी अपने युग में कुल-धर्म प्रचलन की पुष्टि करते हुए यह व्यवस्था देते हैं कि राजा को भली भाँति देखना चाहिए कि उसके राज्य की प्रजा अपने-अपने कुल-धर्म के अनुरुप अपना आचरण बनाती है और कुल-धर्मों का उल्लंघन नहीं करती है और यदि कोई भी जन इसका विरोधी है तो राजा उसे तुरन्त दण्ड दे और उसे इन धर्मों के अनुसार अपने आचरण रखने पर बाधित करे।‡

प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ऋषि भी इस सम्बन्ध में यही व्यवस्था देते हैं। वह भी राजा का यह प्रधान कर्तव्य बतलाते हैं कि वह अपनी प्रजा में इन धर्मों का प्रचार करे और इन धर्मों के अनुसार प्रजा के आचरण बनवाने का भर सक प्रयत्न करे। इन धर्मों के भंग करने वाले लोगों को

---

†—**जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।**
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रति पादयेत॥
श्लो० ४१ अ० ८ मनु०।

‡—एते च देशकुलधर्मा व्याख्याताः॥
आपस्तम्ब स्मृति।

समुचित दण्ड दे और उन्हें इस प्रकार इस बात के लिए बाधित करें कि वह अपने-अपने कुल-धर्मों के अनुसार अपने आचरण बनाएँ।†

इस प्रकार रामायण और महाभारत ही नहीं वरन लगभग सारे हिन्दू धर्म शास्त्रों ने इस बात को स्वीकार किया है कि कुल-धर्म सनातन हैं। अपने-अपने कुलधर्म का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। राज्य को इन धर्मो में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इन धर्मों की रक्षा करना और प्रजा को इन धर्मों के अनुसार चलाना राज्य का प्रधान धर्म है। राजा को स्वयं अपने कुल-धर्म का उल्लंघन करने का अधिकार न था। कुल-धर्म के उल्लंघन से उसका सर्वनाश हो जाता था।

जाति-धर्मः—कुल-धर्म के अतिरिक्त जाति-धर्म भी थे। प्रत्येक राज्य में विभिन्न जातियाँ होती थीं। प्रत्येक जाति का संगठन भिन्न होता था। प्रत्येक जाति का जीवन अपनी परिस्थितियों के अनुसार कुछ न कुछ विशेषता रखता था। इसलिए प्रत्येक जाति इस बात की ओर प्रयत्नशील रहती थी कि उसका जीवन उसकी परिस्थितियों के अनुकूल स्थिर रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह जाति जीवन सम्बन्धी कुछ नियम बना लेती थी। यह नियम विधि का रूप ले लेते थे। यही विधि जाति-धर्म कहलाते थे। जाति-धर्म भी सनातन कहे गए हैं।‡ इनके निर्माण कार्य में राज्य का कुछ भी अधिकार न था। राज्य का यह एक प्रधान कर्तव्य अवश्य था कि वह इन धर्मों की रक्षा करे। जाति-धर्म भी कुल-धर्म की भाँति परम्परागत थे। ब्रह्मा द्वारा जो दण्ड-नीति लोक-कल्याण के लिए निर्माण की गई थी, जिसका उल्लेख महाभारत के शान्ति पर्व में है उसमें जाति-धर्म की भी व्यवस्था की गई है।+ महाभारत में इस ओर विशेष महत्व दिया गया है।

मनु, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदि हिन्दू-विधि प्रणेताओं ने जाति सम्बन्धी

---

†—कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जनपदांस्तथा।
स्वधर्मं चलितान् राजा विनीय स्थापयेत पथि॥
याज्ञवल्क्य स्मृति॥

‡—जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
श्लो० ४३ अ० २९, भीष्म० प०।

+—देश जातिकुलानाम् च धर्माः समनुवर्णिताः॥
श्लो० ७१ अ० ५९, शा० प०।

विधियों का विधान किया है जिन्हें उन्होंने जाति धर्म के नाम से सम्बोधित किया है। लगभग समस्त हिन्दू विधि प्रणेताओं ने इन्हें प्रमाणित मानकर मान्यता दी है। इन समस्त शास्त्रकारों ने राज्य को उन्हें मान्यता देने और उनकी विधिवत रक्षा करने का परम कर्तव्य निर्धारित किया है। उनका कथन है कि राजा को यह भली भाँति देखना चाहिए कि उसके राज्य में प्रत्येक जाति अपने अपने जातिधर्मों के अनुसार आचरण धारण करती है साथ ही उसकी सरकार इन धर्मों को प्रमाणित मानकर मान्यता देती है और लोगों को हर प्रकार की सुविधा देती है जिससे कि वह अपने अपने जाति-धर्मों के अनुसार अपने जीवन ढालने में सफल हो सकें।*

देशधर्मः—प्रत्येक स्थान का जलवायु वहाँ के निवासियों के जीवन पर गहन प्रभाव डालता है। इसी कारण भिन्न-भिन्न भू-भागों के निवासियों के आचार-विचार में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य पायी जाती है। मनुष्य अपनी रीतियों, स्वभावों, आचार-विचारों, एवं विधियों को स्थान विशेष के अनुरूप बना लेता है और इसी नियम के अनुसार वह उनके विकास में निरन्तर सहायक होता रहता है। इसलिए संसार के विभिन्न भू-भागों में लोगों के जीवन में भिन्नता होनी स्वाभाविक है। मानव समाज के संगठन के मौलिक सिद्धान्तों में संसार के प्रत्येक भू-भाग में निःसंदेह समानता अवश्य मिलेगी। परन्तु इन भू-भागों के जल-वायु एवं वहाँ की भूमि ने इसे अछूता कहीं नहीं छोड़ा है। इन्होंने वहाँ के जन-समूह के जीवन संगठन पर गहरा प्रभाव डाला है। इसी कारण इन भू-भागों के निवासियों के जीवन में पर्याप्त मात्रा में अन्तर पाया जाता है। जीवन का यह अन्तर मनुष्य के लिए स्थानीय रीतियों तथा विधियों के जन्म का अवसर देता है जिसको पाकर संसार के विभिन्न भू-भागों में देश-धर्मों (territorial laws) का निर्माण होता है। आज भी यह देखने में आता है कि पंजाब और बंगाल के हिन्दुओं के सामाजिक संगठन के मौलिक सिद्धान्तों में एकता होने पर भी उनके स्थानीय आचार-विचार एवं रहन-सहन के नियमों में अन्तर है। सिंध और पंजाब के हिन्दुओं के खान-पान के नियम इतने कठोर नहीं हैं जितने कि युक्तप्रान्त एवं बंगाल के हिन्दुओं में इन नियमों में कठोरता पायी जाती है।

*—देश जाति कुलधर्माश्च यैरविरुद्धाः प्रमाणम् ॥

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचते हैं कि इस विशेष जीवन के जो कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप होता है, पथ प्रदर्शन करने, उसके नियंत्रण करने और उसकी रक्षा करने की परम आवश्यकता होती है और यह आवश्यकता उस समय विशेष प्रकार से अनुभव की जाती है जब कि संसार के विभिन्न भू-भागों में बसनेवाले लोगों में आवागमन के साधनों का अभाव हो वा प्राकृतिक असुविधाओं के कारण पारस्परिक सम्पर्क के बहुत कम अवसर प्राप्त होते हों। लोगों की इस आवश्यकता की पूर्ति उन विभिन्न भू-भागों की विशेष परिस्थितियों के अनुकूल जीवन सम्बन्धी स्थानीय विधियों के निर्माण हो जाने से हो जाती है। इतिहास इस बात में प्रमाण देता है कि प्राचीन भारत में इस प्रकार के स्थानीय विधि विभिन्न युगों में प्रचलित थे। रामायण और महाभारत युग में इन विधियों के प्रचलन को विशेष महत्व दिया गया है। यह दोनों ग्रन्थ इस सम्बन्ध में ज्वलंत प्रमाण देते हैं कि यह विधि उस युग में कार्य रूप में परिणत किए जाते थे।

यह दोनो ग्रंथ इस बात की सत्यता का प्रमाण देते हैं कि उस युग में भारतवर्ष के प्रत्येक भू-भाग में अपने-अपने देश-धर्म प्रचलित थे। इन भू-भागों के निवासियों का जीवन इन विधियों के द्वारा नियंत्रित किया जाता था। यह विधि भी भगवान् ब्रह्मा द्वारा निर्माण किए गए थे। भगवान् ब्रह्मा के द्वारा जो दण्ड-नीति निर्माण की गई थी उसमें इन धर्मों वा विधियों का भी समावेश है।† इनके लिए भी इतना ही आदर-भाव दिखाया गया है जितना कि कुल-धर्मों वा जाति-धर्मों के प्रति दिखाया गया है। राज्य को इन धर्मों को भी कुल-धर्म तथा जाति-धर्म की भाँति प्रमाण मानकर मान्यता देनी पड़ती थी, भीष्म शान्ति पर्व में इस सम्बन्ध में कहते हैं कि जो राजा देश-धर्म तथा कुल-धर्म का ठीक-ठीक पालन करता है वह चारों आश्रमों का पालनकर्त्ता हो जाता है।‡

महाभारत के आदि पर्व में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई

---

†—देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥

श्लो० ७१ अ० ५९, शा० प०।

‡—देश धर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च।
पालयन्पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥

श्लो० २९ अ० ६६, शा० प०।

है और यहाँ यह बतलाया गया है कि महाभारत-काल में देश-धर्म प्रचलित थे। उत्तर कुरु-प्रदेश में वहाँ के निवासियों के लिए कुछ विशेष धर्म अथवा विधि थे। भारत के अन्य भागों में यह विधि प्रचलित न थे। उत्तर कुरु-प्रदेश को छोड़कर भारत के अन्य भागों की जनता उत्तर कुरु-प्रदेश के इन देश-धर्मों को घृणा की दृष्टि से देखती थी। परन्तु उत्तर कुरु-प्रदेश में इन धर्मों अथवा विधियों को लोग स्वतन्त्रतापूर्वक मानते थे और ऐसा करने में वह इस ओर लेशमात्र भी ध्यान न देते थे कि उनके प्रदेश के बाहर की जनता इन धर्मों वा विधियों को घृणा की दृष्टि से देखती है। पाण्डु ने अपनी पत्नी कुन्ती को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने के हेतु सम्मति दी। परन्तु कुन्ती इस कार्य को उचित न समझती थी। अतः कुन्ती को समझाते हुए पाण्डु कहते हैं—हे वरानने पूर्व काल में स्त्रियाँ सब बन्धनों से बिल्कुल मुक्त थीं। हे चारुहासिनि ! वह अपनी इच्छा के अनुसार विहार करने वाली तथा स्वतन्त्र थीं। हे सुभगे ! हे सुन्दरि ! यौवनावस्था के प्रारम्भ से ही वह काम-भोग में लिप्त होकर अपने पतियों का अतिक्रमण करती रहती थीं। परन्तु यह अधर्म नहीं माना जाता था क्योंकि पूर्वकाल में ऐसी ही व्यवस्था थी। हे केले के समान जंघावाली कुन्ती ! यह धर्मशास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध है। इसको महर्षि जनों ने बड़े आदर की दृष्टि से देखा है (धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः)। उत्तर कुरु-प्रदेश में तो इस धर्म का आज भी प्रचार है। यह धर्म तो स्त्रियों पर अनुग्रह कर प्रचलित किया गया है।*

पाण्डु के उपरोक्त वचनों से यह पता चलता है कि महाभारत-काल में उत्तर कुरु-प्रदेश में, स्त्री के सतीत्व-सम्बन्धी नियम शिथिल थे। इस प्रदेश के राजा को स्थानीय विधियों वा धर्मों को प्रमाण मानकर मान्यता देनी पड़ती थी। वह केवल इसलिए कि इन रूढ़ियों ने विधि का स्थान ले लिया था।

---

*—प्रमाणदृष्टो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः।
उत्तरेषु च रम्भोरु ! कुरुष्वद्यापि पूज्यते ॥

श्लो० ७ अ० १२२, आदि० प०।

स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः ॥

श्लो० ८ अ० १२२, आदि० प०।

कर्ण ने भी ऐसे धर्मों की ओर संकेत किया है। उनका कथन है कि मद्रदेश और वाह्लीक देश के लोगों के आचार निन्दनीय हैं। वहाँ के निवासियों के जीवन-सम्बन्धी कुछ ऐसे विशेष नियम हैं जो भारत के अन्य प्रदेशों में नहीं पाए जाते। कर्ण ने मद्रदेश के राजा शल्य के समक्ष वाह्लीक देश में प्रचलित कुछ ऐसी विशेष प्रथाओं वा रीतियों का वर्णन (जो उन्होंने एक ब्राह्मण के मुख से सुनी थीं और जो अन्य देशों में नहीं पाई जाती थीं) किया है—यह वर्णन महाभारत के कर्ण-पर्व के चवालीसवें तथा पैंतालीसवें अध्याय में दिया गया है। यद्यपि इस प्रसंग में कर्ण ने मद्रदेश के राजा शल्य को लज्जित करने के हेतु वाह्लीक देश के आचार की घोर निन्दा करते हुए यह सब कहा है परन्तु यह बात निश्चित है कि इन प्रदेशों में कुछ ऐसे स्थानीय धर्म थे जो अन्य प्रदेशों में नहीं पाए जाते थे। वहाँ के राजा को इन स्थानीय धर्मो वा देश-धर्मों को प्रमाण मानकर मान्यता देनी पड़ती थी।

रामायण में भी इस विषय पर जहाँ-तहाँ कुछ प्रमाण प्राप्त हैं। रामायण के अरण्य काण्ड में यह दिखलाया गया है कि राम धनुष-बाण से सुसज्जित हो वन की ओर प्रस्थान कर रहे थे। ऐसे अवसर पर सीता उन्हें समझाती हुई कहती हैं—क्षत्रिय इसलिए धनुष धारण करते हैं कि कोई दुखी पुकार न करे। आपको शिक्षा नहीं देती हूँ, धनुष लेकर अनपराधी प्राणियों की हिंसा आप न कीजिएगा। बिना अपराध के दण्ड-कारण्य में रहनेवाले राक्षसों को मारने की आप इच्छा न कीजिएगा क्योंकि वीर, बिना अपराध के जो लोग मारते हैं उनकी प्रशंसा नहीं होती। शास्त्र और वन, क्षत्रिय धर्म और तपस्या यह परस्पर विरुद्ध हैं। अतएव हम लोगों को इनका आदर नहीं करना चाहिए, किन्तु देश-धर्म का आदर करना चाहिए।† अयोध्या पहुँचकर आप क्षत्रिय धर्म का अनुष्ठान कीजिएगा।‡

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रामायण और महाभारत-

---

†—क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्॥
श्लो० २७ सर्ग ६, अरण्य का०।

‡—पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षात्रधर्मं चरिष्यसि॥
श्लो० २८ सर्ग ६, अरण्य का०।

काल में विभिन्न भू-भागों में देश-धर्म प्रचलित थे जिनको राज्य प्रमाणित मान-मान्यता देता था और जिनका उल्लंघन करना महान् पाप समझा जाता था। राज्य का यह एक प्रधान कर्तव्य था कि वह देश-धर्मों के अनुरूप अपने राज्य की प्रजा को चलाए और उन व्यक्तियों को दण्ड दे जो इन देश-धर्मों को भंग करने का प्रयत्न करें अथवा इस बात का प्रचार करें।

श्रेणि वा गणधर्मः—प्राचीन भारत में मनुष्य का जीवन अनेकों स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत विभक्त रहता था। ऐसे बहुत से जन-समुदाय थे जो मनुष्य जीवन के विभिन्न अंगों से सम्बन्ध रखते थ जैसे गण, श्रेणी, संघ, नैगमादि । इन संस्थाओं के प्रति राज्य हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण करता था। इसी कारण रामायण और महाभारत-काल में इस प्रकार के अनेकों ऐसे जनसमुदाय एवं संस्थाएँ बन गई थीं जिनके आन्तरिक प्रबन्ध में राज्य उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दिए हुए था। इस नीति का फल यह हुआ कि इन जन-समूहों एवं स्थानीय संस्थाओं को अपने आन्तरिक शासन-प्रबन्ध एवं स्वयं अपनी स्थिरता के लिए कुछ नियम बना लेना और उनके अनुसार अपने संगठित समुदाय के सदस्यों का जीवन ढालना आवश्यक प्रतीत हुआ । इस प्रकार इन जनसमूहों वा संस्थाओं ने जो नियम बनाए उन्हीं को उनके राज्य ने प्रमाणित समझकर मान्यता दी जिसके अनुसार यह नियम धर्म अथवा विधि के रूप में परिणत हो गए। इन्हीं विधियों को रामायण और महाभाररत ने श्रेणिधर्म वा गणधर्म के नाम से सम्बोधित किया है।†

इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि कुलधर्म, जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणि वा गणधर्म राज्य के धर्मों वा विधियों के मुख्य अंग थे। राजा वा राज्य को इन विधियों की रक्षा करने के लिए हर समय कटिबद्ध रहना पड़ता था। उसे इन धर्मों को प्रमाणिक मानकर मान्यता देनी होती थी। राजा को यह वैधानिक अधिकार था कि वह उन व्यक्तियों को दण्डित करे जो इन धर्मों के भंग करने का प्रयत्न करते हों।

आपद्धर्मः—ऊपर वर्णित विधियों के अतिरिक्त, रामायण और महाभारत-काल में कुछ ऐसे अन्य विधि भी थे, जो विशेष परिस्थिति

---

† — श्रेण्य धर्माश्च ॥

श्लो० १६ अ० ३६, शा० प० ।

के उपस्थित होने पर जब कि साधारण विधि से काम नहीं चल सकता था लागू किए जाते थे । इस प्रकार के विधियों को आपद्धर्म कहते थे ।

इस सम्बन्ध में महाभारत में कई दृष्टान्त मिलते हैं । उनमें से एक इस प्रकार महाभारत में दिया गया है—शान्तनु पुत्र विचित्रवीर्य के निःसन्तान मृत्यु के उपरान्त कुरुवंश को संसार में जीवित रखने के हेतु सत्यवती ने आपद्धर्म के अनुसार भीष्म से विचित्रवीर्य की विधवा पत्नी में पुत्र उत्पन्न करने के लिए प्रस्ताव रखते हुए कहा—हे भीष्म ! कुरुवंश में श्रेष्ठ धर्मात्मा यशस्वी शान्तनु की श्राद्धादि क्रिया, कीर्ति और वंश की स्थिति अब तेरे ऊपर ही अवलम्बित है । जिस प्रकार शुभ कर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति अवश्य होती है एवं सत्य के आश्रय से दीर्घायु होती है, उसी तरह तुममें धर्म ने दृढ़ता के साथ स्थिति कर रखी है । मेरे विवाह के समय जो तूने प्रतिज्ञा की थी उसका मुझे भली भाँति स्मरण है; परन्तु आपद्धर्म को देखकर अपने वंश-परम्परा की रक्षा कर ।* हे तात ! काशिराज की यह दोनों पुत्री सुन्दरी तेरे भाई की पत्नी हैं । यह बड़ी रूपवती और युवती हैं और पुत्र की कामना रखती हैं । हमारे कुल के चलाने के लिए तू इनमें पुत्र उत्पन्न कर । हे महाबाहु ! मेरी आज्ञा से इस धार्मिक विधि को तुझे करना पड़ेगा ।

भीष्म ने माता के इन वचनों को इस कारण अस्वीकार किया क्योंकि वह पुत्र उत्पन्न न करने के लिए पहले से ही वचनबद्ध थे । परन्तु उन्होंने अपनी माता को आपद्धर्म का सहारा लेने के लिए इस प्रकार कहा—हे राज्ञि पृथ्वी पर शान्तनु की सन्तान अक्षय हो जाए इसके लिए मैं तुझे सनातन क्षात्रधर्म का उपदेश करता हूँ । आपद्धर्म के जाननेवाले विद्वान पुरोहितों के साथ सुनकर और संसार की रीति को देखकर तू उसका अनुसरण कर ।†

---

* —जानामि चैव सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम् ।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ॥
श्लो० २२ अ० १०३, आदि० प० ।

†— शान्तनोरपि संतानं यथा स्यादक्षयंभुवि ।
तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम् ॥
श्लो० २६ अ० १०३, आदि प० ।

इस प्रकार यह कथानक आपद्धर्म के महत्व और उसके प्रचलन के सम्बन्ध में प्रमाण का काम करता है और यह बतलाता है कि जब अन्य धर्म से काम नहीं चलता था तो आपद्धर्म से काम लिया जाता था। इसी धर्म के अनुसार व्यास मुनि ने विचित्रवीर्य की विधवा पत्नियों में धृतराष्ट्र और पाण्डु को उत्पन्न किया। पाण्डु कुरुवंश का धार्मिक एवं लोकप्रसिद्ध राजा हुआ।

पाण्डु के पाँच पुत्र भी इसी विधि के अनुसार उत्पन्न किए गए थे। धर्म, इन्द्र और वायु न कुन्ती में क्रमशः युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम को और अश्वनीकुमारों ने नकुल और सहदेव को माद्री में इसी धर्म के अनुसार उत्पन्न किया था। राज्य के सामान्य विधि के अनुसार इन पाण्डु-पुत्रों को अपने-अपने पिता की सम्पति का उत्तराधिकारी होना चाहिए था। उन्हें पाण्डु के राज प्राप्ति का कोई अधिकार न था। परन्तु आपद्धर्म के अनुसार वह पाण्डु के औरस पुत्र माने गए और उनमें से ज्येष्ठ युधिष्ठिर इस नाते से कि वह पाण्डु का पुत्र है अपने पिता पाण्डु के राज्य का अधिकारी बना।

परन्तु इस विधि का भी निर्माण राजा द्वारा नहीं होता था। वह या तो ऋषि-मुनियों द्वारा बने थे अथवा वह सनातन से चले आ रहे थे। राज्य को इन विधियों को प्रमाणित मानकर मान्यता देनी होती थी।

राज्य द्वारा विधि-निर्माण:—मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन उन विधियों के अन्तर्गत आ जाता है जिनका कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इन विधियों के होते हुए मनुष्य जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं अवशेष रह जाता जिसके नियमबद्ध करने के लिए नए विधि-निर्माण की आवश्यकता पड़ती। इसलिए राज्य द्वारा विधि-निर्माण के लिए हिन्दू युग में कोई अवसर ही न था। रामायण और महाभारत दोनो ग्रंथों में एक भी ऐसा स्थल नहीं मिला है जहाँ राज्य ने इस ओर पदार्पण किया हो। दोनों में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं प्राप्त हुआ है जो इस ओर संकेत ही कर सके कि उस युग में एक भी विधि राज्य द्वारा बनाया गया हो अथवा उसने इस ओर प्रयत्न ही किया हो।

श्रुत्वा तं प्रति पश्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतंत्रमवेक्ष्य च॥

श्लो० २७ अ० १०३, आदि प०।

इसलिए राज्य में विधि निर्माण, विधि संशोधन अथवा विधि विलुप्त कार्य करने में राज्य को नहीं के बराबर अधिकार था। प्राचीन भारत में राजा विधि-निर्माता न था। वह तो केवल विधिरक्षक था। राजा का यह परम धर्म था कि वह इन विधियों की रक्षा करे। महाभारत-कार ने इसी सिद्धान्त को स्थिर करने के लिए यह बतलाया है कि राजा की सर्वप्रथम उत्पत्ति के समय ऋषियों ने राजा को शपथ लेने के लिए इस प्रकार आदेश दिया था—हे परन्तप तुम मन, वचन, और कर्म से ऐसी शपथ लो कि दण्ड-नीति के अनुकूल जो नित्य धर्म महर्षियों ने बताए हैं तुम उनका सर्वदा निःशंक होकर पालन करोगे और कभी स्वेच्छाचारी न होगे।* इसके अतिरिक्त महाभारतकार ने राजा का यह भी परम कर्तव्य बतलाया है कि वह उन लोगों को, धर्म की ओर दृष्टि रखकर, अपनी भुजाओं के बल से दण्डित करे जो मानव जगत में धर्म (विधि) के पालन करने से विचलित होते हैं।†

हिन्दू राज्य में राजा को विधि निर्माण के अधिकार से वंचित रखने की प्रणाली ने राज्य में राजा को द्वितीय स्थान दिया और उसे विधि के अधीन कर दिया। विधि का सर्वोच्च स्थान हो जाने से रामायण और महाभारत काल में प्रजातंत्र राज्य के सिद्धान्तों के पोषण-कार्य में बड़ी सहायता मिली है। इस प्रकार की शासन प्रणाली के निर्माताओं का मुख्य उद्देश्य राज्य में विधि को सर्वोच्च पद देना था। इस प्रणाली से हिन्दू राज्य को प्रजातंत्र राज्य के रूप में परिवर्तित करने में बड़ी सहायता मिली है। इस राज्य में प्रत्येक वर्ग का उत्तरदायित्व विधि पर निर्भर हो गया।

---

*—प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥

श्लो० १०६ अ० ५९, शा० प०।

यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥

श्लो० १०७ अ० ५ शा० प०।

†—यश्च धर्मात्विचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षता॥

श्लो० १०५ अ० ५९, शा० प०।

इस प्रकार राज्य का समस्त उत्तरदायित्व उस विधि-समूह पर (जिसका कि राज्य द्वारा निर्माण न हुआ था) निर्भर हो जाने से रामायण एवं महाभारतकाल का हिन्दू राज्य प्रजातंत्रात्मक राज्य में परिणत हो गया। यह राज्य पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर संगठित किए गए आधुनिक प्रजातंत्रात्मक राज्य से भिन्न था। रामायण और महाभारत-काल के राजा के कर्तव्यों का क्षेत्र पूर्णतयः विधि के द्वारा सीमित और निर्धारित था। वह इस विधि-निर्धारित सीमा के बाहर किसी भी छोटे-से-छोटे कार्य को भी नहीं कर सकता था। वह विधि के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता था। यदि वह निर्धारित विधि के विरोध में लेशमात्र भी आचरण रखने का प्रयत्न करता तो वह भी दण्ड का भागी बन जाता था और उसे भी दण्ड भोगना पड़ता था। यह प्रणाली राजा के स्वेच्छाचार एवं उसकी निरंकुशता के रोकने के लिए एक सुगम योजना थी। इसलिए शासन के इस सिद्धान्त ने प्रजातंत्रात्मक राज्य के कुशलता-पूर्वक संचालन में बड़ा सहयोग दिया है।

षष्टम अध्याय

जन-मत

यह एक अटल सिद्धान्त है कि प्रत्येक राज्य में वहाँ की जनता का उस राज्य की सरकार पर गहन प्रभाव पड़ता है। वह अपने समय के राजा के स्वेच्छाचार को रोकने में बहुत कुछ सहायक सिद्ध होता है। जन-मत की शक्ति का यह प्रभाव पड़ता है कि देश में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं को स्वच्छन्दतापूर्वक काम करने का अवसर मिलता है। इस लिए राज्य में उचित एवं शक्तिशाली जन-मत का होना जनतन्त्रात्मक राज्य-निर्माण में एक महत्वपूर्ण अभाव की पूर्ति करता है। यदि यह बात सत्य है कि किसी देश में जनतन्त्रात्मक शासन की स्थापना के लिए उस देश की जनता में उचित एवं शक्तिशाली जन-मत का होना अनिवार्य है, तो रामायण और महाभारतान्तर्गत वर्णित राज्यों की जनता में इस ओर उपेक्षा नहीं की गई है। इन दोनों ग्रन्थों में इधर-उधर बिखरी हुई ऐसी प्रामाणिक सामग्री प्राप्त है जिसके आधार पर पाठक इस बात से भली भाँति अवगत हो जाता है कि उस युग के कई राजाओं ने ऐसे काम ठाने जिनके विरोध में उस समय का जन-मत था। अतः वह राजागण उन कार्यों के करने में सर्वथा असफल रहे। इन राजाओं में इतना साहस न हुआ कि वह जनता की उपेक्षा कर अपनी अभिलाषाओं को पूरा कर सकते।

इस सम्बंध में रामायण में एक कथा का उल्लेख है—प्राचीन काल में अयोध्या का एक प्रसिद्ध एवं प्रतापी राजा सगर हुआ है वह अपने

प्रभाव एवं बल,पौरुष के हेतु जगत्प्रसिद्ध था। उसका ज्येष्ठ पुत्र असमंज नाम का था। वह अयोध्या नगरी के बालक और बालिकाओं को पकड़ कर सरयू नदी के जल में फेंक देता और उन्हें जलमग्न होते देख आनन्द का अनुभव करता था और प्रसन्न होता था।† इससे नगरवासी बहुत क्रुद्ध हु और वह जाकर राजा से बोले—महाराज, या तो आप एक असमंज को लेकर रहिए या हम लोगों को। राजा के द्वारा पूछे जाने पर प्रजा इस प्रकार बोली—हम लोगों के छोटे-छोटे अज्ञान बालकों को वह पकड़ कर सरयू में फेंकता है और मूर्खतावश इसी से प्रसन्न होता है। प्रजा की यह बात सुनकर उस राजा ने प्रजा के कल्याण के लिए अपने अहितकारी पुत्र का त्याग किया। स्त्री तथा नौकर-चाकरों के साथ असमंज को रथ पर चढ़ा कर यावज्जीवन के लिए पिता ने निर्वासन की आज्ञा दी। कुदारी और खाँची लेकर सब दिशाओं में घूमते हुए पापी असमंज ने पर्वतों को देखा।‡

---

†—स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठः सगरस्यात्मसम्भवः।
बालान्गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन॥
श्लो० २०, सर्ग ३८, बाल का०।

असमंजो गृहीत्वा तु क्रीडितः पथिदारकान्।
सरय्वां प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः॥
श्लो० १६ सर्ग ३६, अयो० का०।

‡—तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन्।
असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान्वा राष्ट्रवर्धन॥
श्लो० २ सर्ग ३६, अयो० का०।

तानुवाच ततो राजा किं निमित्तमिदं भयम्।
ताश्चापि राज्ञा संपृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन्॥
श्लो० २१ सर्ग ३६, अयो० का०।

क्रीडतस्त्वेषनः पुत्रान्बालानुद्भ्रान्तचेतसः।
सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते॥
श्लो० २२ सर्ग ३६, अयो० का०।

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः।
तं तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया॥
श्लो० २३ सर्ग ३६, अयो० का०।

रामायण में इसी विषय का पोषक एक और उदाहरण मिलता है यह उदाहरण इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि रामायण-काल में जन-मत का प्रभाव इतना गहन था कि इसके विरोध करने पर उत्तम शासक को भी अपने पद को स्थिर रखना असम्भव था। पिता की आज्ञानुसार राम ने दण्डकारण्य के निमित्त प्रस्थान किया। सुमंत्र उन्हें रथ पर बिठाकर कुछ दूर पहुँचाने जाते हैं। गंगा जी के किनारे पहुँचकर राम ने उन्हें रथ सहित विदा कर दिया। पवित्र गंगा घाट पर सुमंत्र अयोध्या की ओर प्रस्थान करने के लिए खड़े हो गए। ऐसे समय में लक्ष्मण अपने मनोवेगों को रोक न सके वह इस अवसर पर यह अनुभव कर रहे थे कि राजा दशरथ ने प्रजा के परम प्रिय और परम हितैषी राम को प्रजा की भावनाओं को कुचल कर देश निकाला दिया है, ऐसी दशा में दशरथ प्रजा का विरोध कर अयोध्या के राजा किस प्रकार रह सकते हे? वे इस अवसर पर इस ओर संकेत करते हुए कहते हैं—रामचन्द्र सबके प्रिय हैं, राजा ने उनका निर्वासन किया है। भले ही राजा औरों का हित करें पर उनका यही एक काम ऐसा है जिससे कोई भी उन पर अनुराग नहीं कर सकता। समस्त प्रजा के प्रिय धार्मिक रामचन्द्र को वन में भेज कर राजा न सबका विरोध किया है फिर, भला वह राजा कैसे रह सकते हैं ?*

दूसरे स्थल पर राजा दशरथ स्वयं अपने राज्य में विरोधी जन-मत

तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम्।
यावज्जीवं विवास्योऽयमिति तानन्वशात्पिता ॥
श्लो० २४ सर्ग ३६, अयो० का०।

स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोकयत्।
दिशः सर्वास्त्वनुचरन्स यथा पापकर्मकृत् ॥
श्लो० २५ सर्ग ३६ अयो० का०।

*—सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रते।
सर्व लोकोऽनुरंज्येत कथं चानेन कर्मणा ॥
श्लो० ३२ सर्ग ५८, अयो० का०।

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम्।
सर्वलोकविरोधेन कथं राजा भविष्यति ॥
श्लो० ३३ सर्ग ५८, अयो० का०।

से भयभीत होते हुए दिखलाए गए हैं। वह इस भय की ओर संकेत करते हुए अपनी रानी कैकेयी को उलाहना देते हुए कहते हैं—बहुत विचार के पश्चात् मैंने यह निश्चय किया है और मित्रों से भी सम्मति लेली है अब यदि मैं हटूँ तो रण-क्षेत्र से भागी सेना के समान देश-देशान्तरों से आए हुए राजा मेरी बुद्धि को क्या कहेंगे। वह तो यही कहेंगे न कि स्त्री के वश में होकर इसकी बुद्धि भी नष्ट हो गई है। बालक रामचन्द्र कैसा राज्य पालन करते हैं। गुणवान और बहुश्रुत अनेक विद्वान् आकर मुझसे रामचन्द्र के सम्बन्ध में पूछेंगे तो मैं उनसे क्या कहूँगा ?†

इसके आगे एक और उदाहरण इसी सिद्धान्त का पोषण करने-वाला रामायण में उपलब्ध है वह इस प्रकार है—राजा दशरथ का अचानक निधन हो जाता है। उनके स्थान में किसको राजा बनाया जाय यह एक जटिल समस्या लोगों के समक्ष प्रस्तुत हो जाती है। बहुत वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चय होता है कि भरत को उनके ननिहाल से बुलाया जाय। इस निर्णय के अनुसार भरत अयोध्या बुलाए जाते हैं। अयोध्या नगरी में उनका प्रवेश होता है परन्तु अयोध्यावासी भरत के स्वागत के लिए अपने घरों से बाहर नहीं निकलते। कोई भी उन्हें दण्ड प्रणाम करता हुआ दिखाई नहीं पड़ता है। समस्त जन उदासीन दिखाई पड़ते हैं। नगर की सड़कें एवं अन्य मार्ग मैले और बिना बुहारे पड़े हुए हैं। अयोध्या नगरी भूत-प्रेतों की नगरी सी दिखाई पड़ती है। इस परिस्थिति को देखकर भरत आश्चर्य में पड़ जाते हैं; परन्तु आगे चल कर उन्हें इस आश्चर्यजनक परिवर्तन के कारणों का

---

† —कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम्।
किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः॥
श्लो० ६४ सर्ग १२, अयो० का०।

बालो वनायमंद्धवा कश्चिरं राज्यमकारयत्।
यदाहि वहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
श्लो० ६५ सर्ग १२, अयो० का०।

परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामीह कथं तदा।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया॥
श्लो० ६६ सर्ग १२, अयो० का०।

भली भाँति बोध होता है। तब उन्हें इस बात का पता चलता है कि यह सारा परिवर्तन प्रजा के विचारों में परिवर्तन आ जाने से हुआ है। निदान भरत इस गंभीर रहस्य को समझ लेते हैं और प्रजा के मुखमंडल के अवलोकन करने पर इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि प्रजा ने उनके संबंध में भ्रमात्मक धारणा बना ली है। वह यह समझने लगी है कि अयोध्या का राज्य पाने के लिए यह षडयंत्र रचा गया है जिससे राम वन भेजे गए और मुझे राज्य मिलेगा। इस षडयंत्र के अंतस्तल में मैं हूँ। इस प्रकार भरत ने यह भली भाँति समझ लिया कि अयोध्या राज्य में जन-मत उनके विरुद्ध बन गया है। प्रजा का यह विरोध भरत और राज्य दोनों का घातक सिद्ध होगा। इसी कारण भरत अयोध्या की प्रजा के समक्ष अपने हृदय की पवित्रता और अपने को निर्दोषी सिद्ध करने के लिये बड़े उत्सुक हो जाते हैं। उनकी सबसे प्रबल उत्कंठा एवं व्याकुलता इस बात की थी कि वह अयोध्या राज्य के प्रत्येक नागरिक के समक्ष यह सिद्ध कर सकते कि राम के वन-गमन में वह नितान्त निर्दोष हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अयोध्या की राजगद्दी पाने के लिये भरत का हृदय लेशमात्र भी विचलित न हुआ था। वह इस बात को कभी भी सहन न कर सकते थे कि वह राम को अयोध्या के राज्याधिकार से वंचित कर स्वयं राजा बन जाते। भरत के हृदय में राम के लिये प्रेम और आदर का बहुत ऊँचा स्थान था। भरत का आचरण इतना अनुकरणीय था कि उन पर कभी भी यह आक्षेप करने की शंका नहीं की जा सकती कि राम के वन-गमन में भरत की सम्मति थी किन्तु यह भी कहना किसी अंश तक उचित ही होगा कि जनमत का भी प्रभाव भरत पर पड़ा होगा। यही कारण है कि जैसे ही भरत के राज्याभिषेक सम्बन्धी प्रस्ताव को उनके सामने प्रस्तुत किया, गया भरत ने तुरन्त उसे अस्वीकार किया। सभा, राजगुरु; मन्त्रिपरिषद् के सदस्य और राजकर्ता सभी इस बात पर सहमत थे कि भरत को राम की अनुपस्थिति में राजा बनाया जाय।‡ परन्तु भरत ने दृढ़तापूर्वक इस प्रस्ताव का विरोध

‡—पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहित कंटकम्।
तद्भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय॥
श्लो० ७ सर्ग ८२, अयो० का०।

किया।* भरत के सामने सबसे गहन प्रश्न यह था कि अयोध्या राज्य की प्रजा में जनमत कैसे बदला जाय, और उसे भरत के पक्ष में कैसे लाया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भरत सभा के सदस्यों की बड़ी बैठक में यह निश्चय करते हैं कि वह राम को मनाने और उन्हें अयोध्या का राज्य पुनः सौंपने के लिये वन जाएँगे। भरत के इस निश्चय का यह परिणाम हुआ कि प्रजा के हृदय में भरत के प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हो गई,† जिसका फल यह हुआ कि भरत राम के अनुपस्थिति-काल में चौदह वर्ष तक अयोध्या राज्य के शासन की बागडोर सफलता-पूर्वक धारण किए रहे।

इस प्रकार रामायण-काल में राजा तभी तक निर्भय होकर अपने पद पर रह सकता था जब तक प्रजा उस राजा को योग्य शासक समझती थी। उसे उसी समय अपना राज-पद त्याग देना पड़ता था जैसे उसे यह बात विदित हो जाती थी कि उसके राज्य में जनमत उसका विरोधी है। इस संकट से बचने का केवल एक ही मार्ग था और वह यह था कि वह अपने आचरण एवं व्यवहार को इस प्रकार सुधार ले कि जिससे जनमत उसके अनुकूल बन जाए। ऐसा करने से वह पुनः अपनी पूर्व प्रतिष्ठा एवं पद को प्राप्त करने में सफल हो सकेगा।

रामायण के किष्किन्धा काण्ड में किष्किन्धा का राजा वालि मृत्यु-शैया पर पड़ा हुआ है। वह राम पर युद्ध के नियमों के उल्लंघन करने का दोषारोपण करता हुआ कहता है—काकुत्स्थ अनपराधी मुझको वाण से मार कर सज्जनों के बीच में क्या कहोगे ? इस निन्दित कर्म का समर्थन कैसे करोगे ?‡ वालि के इस कथन से इस बात का पता चलता

---

*—कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि॥
श्लो० १२ सर्ग ८२, अयो० का०।

†—ताः प्रहृष्टाः प्रकृतया बलाध्यक्षा बलस्य च।
श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने॥
श्लो० २४, सर्ग ८२, अयो० का०।

‡—हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्।
किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्॥
श्लो० ३५ सर्ग १७, किष्कि० का०।

हैं कि किष्किन्धा-राज्य में जनमत का विशेष ध्यान रखा जाता था। इस जनमत के होते हुए राजा को स्वेच्छाचारी होने में बड़ा प्रतिबन्ध था।

रामायण के अरण्य-काण्ड में यह वर्णन किया गया है कि राम जन-मत से कितना भयभीत हो रहे थे। सीता-हरण के कारण राम बड़े दुखी थे। उनके लिए अपनी पवित्र धर्म-पत्नी सीता का उनसे अचानक छल से अलग कर लेना वास्तव में बड़े असह्य दुःख का कारण था। परन्तु इससे भी अधिक वेदना उन्हें इस बात को स्मरण कर होती थी कि अयोध्या की जनता में उनके प्रति कैसा अपवाद उठेगा। इस अपवाद से वह इतना भयभीत हो गये थे कि वह सीता के बिना अयोध्या जाने का साहस नहीं करते थे। वह इस अवसर पर अधीर होकर इस प्रकार विलाप करते हैं—सीता के बिना मैं अपने महलों में कैसे जाऊँगा, लोग मुझे बलहीन और निर्दय कहेंगे।† सीता के नष्ट हो जाने में मेरी अधीरता प्रकाशित हो जायगी।‡ भरत के द्वारा पालित उस नगरी में मैं जाऊँगा ही नहीं।+ इस प्रकार जन-मत के भय से राम जैसा वीर, धीर और साहसी योद्धा किंकर्तव्य हो कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय करने में व्यामोह में फँस जाता है। वह ऐसे कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं जो उनके लिये अनुचित हैं। इस घटना के पूर्व सम्भवतः राम ने अपनी विमाता कैकेयी के लिए अपमानसूचक शब्दों का कभी भी प्रयोग न किया था। उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपनी विमाता के आदेश को सहर्ष स्वीकार कर चौदह वर्ष के लिए वनवास अंगीकार कर लिया था। परन्तु वह इस स्थल पर अनायास अपनी उसी माता के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करते हुए दिखाये गये हैं। राम विलाप करते हुए कहते हैं—हाय ! आज मेरी माता कैकेयी का मनोरथ पूरा होगा, जब

†—कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तःपुरं मम।
निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥
श्लो० ११ सर्ग ६२, अरण्य का०।

‡—कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे।
श्लो० १२ सर्ग ६२, अरण्य का०।

+—अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥
श्लो० १४ सर्ग ६२, अरण्य का०।

सीता के साथ अयोध्या से निकला हुआ मैं सीता के बिना अयोध्या में प्रवेश करूँगा ।*

रावण-वध के उपरान्त सीता बंधन से मुक्त हो जाती हैं और विभीषण के आदेशानुसार आदरपूर्वक अपने पति श्री रामचन्द्र के सामने लाई जाती हैं। हृदय-प्रिया सीता रामचन्द्र के समीप खड़ी हैं उनको देखकर तथा जनापवाद का ध्यान करके उनके हृदय के दो टुकड़े हो जाते हैं।† परन्तु अपने हृदय के वेगों को रोक कर वह सीता के प्रति उपेक्षा प्रकट करते हैं और नितान्त उपेक्षा की दृष्टि से देखकर कहते हैं—अपने चरित्र की रक्षा करते हुए तथा अपने प्रसिद्ध कुल का कलंक हटाते हुए यह युद्ध मैंने अपने मित्रों के पराक्रम से जीता है।‡ तुम्हारे चरित्र में सन्देह का अवसर उपस्थित हुआ है और तुम हमारे सामने खड़ी हो। आँखों के रोगी को जिस प्रकार दीपक बुरा लगता है, उसी प्रकार तुम भी बुरी लगती हो।+ ऐ जनक-पुत्री ! तुम जहाँ चाहो जाओ, मैं तुम्हें अनुमति देता हूँ। यह दसों दिशायें खुली पड़ी हैं। अब मुझे तुम्हारा काम नहीं है।× उस समय प्रलय काल के यम-राज के समान भयंकर रामचन्द्र से कोई उनका मित्र कुछ कह नहीं

---

*—हा सकामाद्य कैकेयी देवि मेऽद्य भविष्यति ।
सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥
श्लो० १० सर्ग ६२, अरण्य का० ।

†—पश्यतस्तां तु रामस्य समीपे हृदयप्रियाम् ।
जनवादभयाद्राज्ञो बभूव हृदयं द्विधा ॥
श्लो० ११ सर्ग ११५, युद्ध का० ।

‡—रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः ।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जता ॥
श्लो० १६ सर्ग ११५, युद्ध का० ।

+—प्राप्तचारित्रसंदेहा मम प्रतिमुखेस्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा ॥
श्लो० १७ सर्ग ११५, युद्ध का० ।

×—तद्गच्छत्वानुजानेऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे ।
एतादशदिशो भद्रे कार्यमस्ति न मेत्वया ॥
श्लो० १८ सर्ग ११५, युद्ध का० ।

सकता था, न उनकी ओर देख सकता था और न उनसे कोई प्रार्थना ही कर सकता था ।*

जो राम सीता के वियोग में समय-समय पर पागल हो जाते थे, जिन्हें सीता के बिना क्षण भर भी जीवित रहना असहनीय था, उन्हीं राम का अपनी परम-प्रिया के प्रति इस प्रकार का व्यवहार लोगों को आश्चर्य में डालता है। परन्तु यह सारा आडम्बर जनमत के भय से किया गया था। सीता की अग्नि-परीक्षा होती है जिसमें वह पवित्र सिद्ध होती है। मनुष्य ही नहीं वरन् देवगण तक राम से अनुरोध करते हुये कहते हैं कि सीता निर्दोष है। उसका चरित्र दहकती हुई अग्नि के समान उज्जवल है, राम को सीता को अपना लेना चाहिये। जब राम इस बात से पूर्णतय: सन्तुष्ट हो जाते हैं कि जनमत सीता की पवित्रता के पक्ष में हैं राम सीता को स्वीकार कर लेते हैं और तब अपने रहस्य-पूर्ण विचारों को लोगों के सामने प्रस्तुत करते हैं।

वह कहते हैं—सीता की पवित्रता की परीक्षा लोगों के लिए आवश्यक थी, क्योंकि वह बहुत दिनों तक रावण के घर में रही हैं। सीता की पवित्रता की परीक्षा यदि मैं न लेता तो लोग मेरे लिए यही कहते कि यह दशरथ-पुत्र कामी है! मूर्ख है!† विशालाक्षी सीता स्वयं अपने तेज से रक्षित थीं।‡ परन्तु उन्होंने सीता की अग्नि-परीक्षा केवल इसीलिए लोगों के समक्ष ली कि जनता यह समझ ले कि राम ने सीता को उसकी पवित्रता देखकर अंगीकार किया है।

---

*—नहि रामं तदा कश्चित्कालान्तकयमोपमम् ।
अनुनेतुमथो वक्तुं द्रष्टुं वाप्यशकत्सुहृत् ॥
श्लो० २२ सर्ग ११६, युद्ध का० ।

†—अवश्यं चापि लोकेषु सीता पावनमर्हति ।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा ॥
श्लो० १३ सर्ग ११८, युद्ध का० ।

बालिशोबत कामात्मा रामो दशरथात्मजः ।
इति वक्ष्यतिमां लोको जानकीमविशोध्यहि ॥
श्लो० १४ सर्ग ११८, युद्ध का० ।

‡—इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेनतेज सा ॥
श्लो० १६ सर्ग ११८, युद्ध का० ।

रामायण में एक और ज्वलंत उदाहरण इसी सम्बन्ध में दिया हुआ है। यह उदाहरण भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि रामायण-काल में जनमत राजा पर गहरा प्रभाव डालता था। रामायण के अन्तर्गत राम के मुख से अनेक बार सीता के सम्बन्ध में उनके हृदय के भाव प्रकट किए गए हैं, उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि सीता उन्हें प्राण से भी प्यारी थीं। सीता के बिना उनका जीवन नीरस और अरुचिकर था। सीता के निमित्त वह बड़े-से-बड़ वैभव को त्याग सकते थे। उनके चरित्र की पवित्रता में उन्हें तनिक भी सन्देह न था। वह अयोध्या के प्रसिद्ध राजा राम की अर्द्धांगिनी थीं। प्रजा ने उन्हें अपनी रानी माना था। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर राम के अभिषक के साथ-साथ उनका भी अभिषेचन विधिपूर्वक हुआ था। ऐसी प्यारी पवित्र सीता का केवल इसलिए कि उनके आचरण के सम्बन्ध में कुछ लोगों में भ्रम होने लगा था, राम को परित्याग करना पड़ा। यद्यपि उनका हृदय इस बात से कदापि सहमत न था कि सीता का आचरण सन्देहजनक है। सीता का परित्याग करते समय उन्हें बड़ी वेदना हुई जिसे उन्होंने अपने हृदयस्थल में छिपा रखा था। यह सब होते हुए भी राम जैसे लोकप्रिय राजा में इतनी सामर्थ्य न थी कि वह जनता का विरोध कर अपनी परम पवित्र, साध्वी सती सीता को राजमहलों में शरण दे सके। उन्हें सीता को ऐसे समय पर त्यागना पड़ा जबकि वह गर्भिणी थीं। इस उद्धरण का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है।

रामायण में दिया गया है—एक बार राम ने भद्र नामक व्यक्ति से पूछा—मेरे विषय में, सीता के विषय में तथा भरत और लक्ष्मण के विषय में नगर और राष्ट्रवासी जन क्या कहते हैं? हम लोगों के विषय में उनका कैसा मत है?* शत्रुघ्न तथा माता कैकेयी के विषय में उनका क्या मत है? क्योंकि वनवासी तथा राज्यवासी राजाओं की निन्दा होती है।†

---

*—ममाश्रितानि कान्याहुः पौरजानपदाजनाः।
किं च सीतां समाश्रित्य भरतं किं च लक्ष्मणम्॥
श्लो० ५ सर्ग ४३, उ० का०।

†—किं नु शत्रुघ्नमुद्दिश्य कैकेयीं किं नु मातरम्।
वक्तव्यतां च राजानो वने राज्ये व्रजन्तिच॥
श्लो० ६ सर्ग ४३, उ० का०।

रामचन्द्र के पूछने पर भद्र हाथ जोड़ कर बोला—राजन् पुरवासियों की बातें शुभ है, कोई आपकी निन्दा नहीं करता।* पुरुष-श्रेष्ठ, दशानन के वध से प्राप्त यह विजय नगरवासियों के द्वारा अधिकता से गाई जाती है।† भद्र के ऐसा कहने पर राम पुनः बोले—जो कुछ बातें हों सब ठीक-ठीक कह दो।‡ अच्छी वा बुरी जो बात नगरवासी कहते हों वह कहो। मैं अच्छी बातें करूँगा और बुरी छोड़ दूँगा।+

रामचन्द्र के ऐसा कहने पर सावधान होकर हाथ जोड़कर भद्र मधुर स्वर में बोला—राजन् सुनिये, नगरवासी चौपाल में, बाजार में गलियों में, वन में, उपवन में जो अच्छी-बुरी बातें कहते हैं वह सुनिये।× युद्ध में रावण को मार कर रामचन्द्र सीता को ले आये और क्रोध न करके उन्होंने उसे घर में रख लिया।÷ रामचन्द्र के हृदय में सीता के सम्भोग का सुख बद्धमूल हुआ है। जिसे गोद में

---

*—एवमुक्ते तु रामेण भद्रः प्रांजलिरब्रवीत्।
स्थिताः शुभाः कथा राजन्वर्तन्ते पुरवासिनाम्॥
श्लो० ७ सर्ग ४३, उ० का०।

†—अयं तु विजयं सौम्य दशग्रीववधार्जितम्।
भूयिष्ठं स्वपुरे पौरैः कथ्यन्ते पुरुषर्षभ॥
श्लो० ८ सर्ग ४३, उ० का०।

‡—एवमुक्तस्तु भद्रेण राघवो वाक्यमब्रवीत्।
कथयस्व यथातत्वं सर्वं निरवशेषतः॥
श्लो० ६ सर्ग ४३, उ० का०।

+—शुभाशुभानि वाक्यानि कान्याहुः पुरवासिनः।
श्रुत्वेदानीं शुभं कुर्यां न कुर्यामशुभानि च॥
श्लो० १० सर्ग ४३, उ० का०।

×—श्रृणु राजन्यथा पौराः कथयन्ति शुभाशुभम्।
चत्वारापणरथ्यासु वनेषूपवनेषु च॥
श्लो० १३ सर्ग ४३, उ० का०।

÷—हत्वा च रावणं संख्ये सीतामाहृत्य राघवः।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्ववेश्म पुनरायत्॥
श्लो० १६ सर्ग ४३, उ० का०।

उठाकर रावण बलपूर्वक ले गया,* जो लंका में गयी और अशोकवाटिका में राक्षसों के अधीन होकर रही उसको रामचन्द्र ने निन्दित नहीं समझा। उसका त्याग नहीं किया।† अब हम लोगों को स्त्रियों के सम्बन्ध की भी ऐसी बातें सह्य होंगी, वह बुरी नहीं समझी जाएँगी क्योंकि राजा जो करता है प्रजा उसी का अनुकरण करती है। राजन् समस्त नगर में तथा राज्य में इसी प्रकार की अनेक बातें लोग कहते हैं।‡

मित्रों को विदा करके विचार करके राम ने कर्तव्य निश्चित किया। उन्होंने भाइयों को बुलवाया। उन लोगों ने शीघ्रतापूर्वक आकर रामचन्द्र के चरणों में प्रणाम किया और वह सावधानी से खड़े हो गए। रामचन्द्र केवल आँसू बरसाते रहे।+

भाइयों क यथास्थान बैठ जाने के उपरान्त रामचन्द्र उनसे बोले। इस समय रामचन्द्र का मुख म्लान हो गया था (मुखेनपरिशुष्यता) सीता के सम्बन्ध में पुरवासियों में जो बात फैली हुई है वह आप लोग मुझसे सुनें। पुरवासियों और राष्ट्रवासियों में मेरा अपवाद फैला हुआ है। मेरी बड़ी निन्दा हो रही है जिससे मेरा हृदय फटा जा रहा है।× वत्स तुम जानते हो सीता को निर्जन दण्डक वन से रावण हर

---

*—कीदृशं हृदये तस्य सीता संभोगजं सुखम।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम्॥
श्लो० १७ सर्ग ४३, उ० का०।

†—लंकामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम्।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्स्यति॥
श्लो० १८ सर्ग ४३, उ० का०।

‡—अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते॥
श्लो० १९ सर्ग ४३, उ० का०।

+—रामस्त्वश्रूण्यवर्तयत्।
श्लो० १७ सर्ग ४४, उ० क०।

×—पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च।
वर्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति॥
श्लो० ३ सर्ग ४५, उ० का०।

ले गया था। इसीसे मैंने रावण का नाश किया। उस समय अपनी शुद्धि का विश्वास दिलाने के लिए सीता ने अग्नि में प्रवेश किया। लक्ष्मण, तुम्हारे और देवताओं के सामने अग्नि ने सीता को निष्पाप कहा है। आकाशचारी वायु ने भी इसे निष्पाप कहा है। देवता और ऋषियों के सामने चन्द्रमा और सूर्य ने इसे निष्पाप कहा।* इस प्रकार शुद्ध आचरणवाली सीता को इन्द्र ने देवता और गन्धर्वों के सामने लंका द्वीप में मुझे सौंपा। मेरी अन्तरात्मा भी यशस्विनी सीता को शुद्ध समझती है।† पर यह निन्दा बहुत बड़ी है; इससे मुझे दुख भी है। पुरवासियों तथा राष्ट्रवासियों में फैली यह निन्दा बड़ी भयंकर है। अब इस प्रकार मैं शोक समुद्र में पड़ा हूँ, आप लोग मुझे देखें, मेरी रक्षा करें।‡ इससे अधिक कोई अन्य दुःख मुझे हुआ था यह मैं नहीं जानता।+ अतएव लक्ष्मण कल सुमंत्र के रथ पर सवार होकर तथा सीता को उस में बिठा कर अपने राज्य के बाहर जाकर छोड़ आओ।×

---

*—प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा।
प्रत्यक्षं तव सौ मित्रे देवानां हव्यवाहनः॥
श्लो० ७ सर्ग ४५, उ० का०।

अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां संनिधौपुरा॥
श्लो० ८ सर्ग ४५, उ० का०।

†—लङ्का द्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेदिता।
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम्॥
श्लो० १० सर्ग ४५, उ० का०।

‡—अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्।
तस्माद्भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे॥
श्लो० १५ सर्ग ४५, उ० का०।

+—न हि पश्याम्यहं भूतं किंचिद्दुःखमतोऽधिकम्।
श्लो० १६ सर्ग ४५, उ० का०।

×—श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमंत्राधिष्ठितं रथम्॥
श्लो० १६, सर्ग ४५, उ० का०।

आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज॥
श्लो० १७, सर्ग ४५, उ० का०।

रामचन्द्र ने ऐसा कहा, उनकी आँखें आँसू से भर गयीं (वाष्पेण विहितेक्षण:)। महात्मा रामचन्द्र अपने भाइयों के साथ अपने महल में गए और शोक से व्यथित हृदय होकर हाथी के समान लम्बी साँस लेने लगे (शोक संविग्न हृदयो निशश्वास यथा द्विप:)।

इस प्रकार दुखित हृदय होते हुए भी उन्होंने सीता का परित्याग केवल इस कारण किया कि उन्हें जनमत के विरोध करने का साहस न था। उस समय सीतादेवी गर्भिणी थीं। इस दशा में भी राम ने इतना भी साहस न किया कि वह गर्भावस्था के लिए ही सीता को अयोध्या नगरी में रहने देते। वह जनमत से अत्यन्त भयभीत हो गए थे। अत: उन्होंने सीता को तुरन्त राज्य से बाहर निकाल देना ही उचित समझा।

राम के इस व्यवहार को यदि मानव धर्म की दृष्टि से देखा जाय तो उसे निर्दयतापूर्ण कार्य के अन्तर्गत अवश्य ही सम्मिलित किया जायगा। गर्भिणी स्त्री को गहन बन में अकेले छोड़ देना मनुष्य के लिए कितना निर्दयतापूर्ण व्यवहार है। इस प्रकार का व्यवहार सभ्यसमाज में सदैव निन्दनीय समझा जायगा। परन्तु राम के लिए अन्य मार्ग था ही नहीं। उनके राज्य की जनता में सीता के सतीत्व के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो चुका था। राम इस संदेह को प्रारम्भ से ही उन्मूल करना चाहते थे। यद्यपि सीता का परित्याग राम के लिए भयंकर दुख का कारण था परन्तु राम के इस त्याग ने उनकी प्रजा में पुन: सद्-भावना उत्पन्न कर दी जिसके कारण उनके राज्य में जनमत पुन: राम के अनुकूल हो गया। राम ने प्रजा के हेतु अपनी परम प्रिया का परित्याग कर भविष्य के लिए एक ज्वलन्त उदाहरण दिया कि राजा को अपनी प्रजा की प्रसन्नता के लिए अपने सर्वस्व त्याग के लिए सदैव कटिवद्ध रहना चाहिए।

महाभारत में भी इस सम्बन्ध की पर्याप्त मात्रा में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है जो इस बात को सिद्ध करती है कि महाभारत-काल में भी जनमत का राजा पर गहन प्रभाव पड़ता था। महाभारत के आदि पर्व में इस बात की ओर कई स्थलों पर उल्लेख प्राप्त हैं जो इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं—

युधिष्ठिर को हस्तिनापुर राज्य के राजा बनाने की इच्छा से युधिष्ठिर के अनुकूल जनमत बनाने की दृष्टि से पुरवासी लोग पाण्डवों

की अनेकों गुणों से युक्त देखकर सभा में उनके गुणों का कीर्तन करने लगे ।* चौराहों पर और सभाओं में एकत्र हो पुरवासी पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज्य दिलाने का विचार किया करते थे ।† राजा धृतराष्ट्र तो अन्धा होने के कारण प्रथम ही राजा न बन सका था, इसलिए अब वह राजा कैसे हो सकता है !‡ इसी प्रकार शान्तनु-पुत्र भीष्म भी बड़ा सत्यप्रतिज्ञ और महाव्रती है । जब उसने पूर्व में ही राज्य का परित्याग कर दिया तो वह अब राज्य कैसे ग्रहण कर सकता है ।+ अब हम पाण्डवों में ज्येष्ठ, तरुण, युद्धशाली, सत्य और करुणा के पक्षपाती युधिष्ठिर को राज्य पर अभिषिक्त करेंगे ।×

युधिष्ठिर की लोकप्रियता का समाचार सुन दुर्योधन ने बहुत व्याकुल हो÷ एकान्त में अपने पिता के समीप बैठकर पाण्डवों को चुपके से राजधानी से हटा देने के हेतु षड़यंत्र रचा । इस षड़यंत्र का मुख्य उद्देश्य पाण्डु पुत्रों को राजधानी से इस हेतु दूर रखने का था जिससे उनकी चिर-कालीन अनुपस्थिति उन्हें शासन-प्रबन्ध के कार्यों से दूर रखेगी और

---

*—गुणैः समुदितान्दृष्ट्वा पौराःपाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयाञ्चक्रिरे तेषां गुणान्संसत्सु भारत ॥
श्लो० २३, अ० १४३, आदि० प० ।

†—राज्यप्राप्तिं च संप्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्ति स्म संभूय चत्वरेषु सभासु च ॥
श्लो० २४, १४३, आदि० प० ।

‡—प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यं न प्राप्तवान्पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥
श्लो० २५, अ० १४३, आदि० प० ।

+—तथा शान्तनवो भीष्मः सत्यसन्धो महाव्रतः ।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ॥
श्लो० २६, अ० १४३, आदि० प० ।

×—ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं युद्धशीलिनम् ।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥
श्लो० २७, अ० १४३, आदि० प० ।

÷—तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम् ॥
श्लो० २९ अ० १४३, आदि० प० ।

उसके साथ ही वहाँ की जनता के सम्पर्क से भी दूर रखेगी। इसका फल यह होगा कि युधिष्ठिर को ऐसा अवसर ही न मिल सकेगा कि वह वहाँ की जनता के सम्पर्क में आकर उनके हृदय पर अपने गुणों के द्वारा विजय प्राप्त कर सके। इसी बीच में वह धन और सत्कार से प्रजा को प्रसन्न कर लेगा। निदान प्रजा युधिष्ठिर को भूल जायगी दुर्योधन को राजा बनाने की चेष्टा करेगी। कोष और मंत्रिगण उसके वश में हो ही चुके थे इसलिए सरल उपाय से पाण्डवों के लिए वारणावत नगर भेज देना ही चाहिए।* ऐसा कर देन से लोकमत उसके पक्ष में हो जायगा। परन्तु दुर्योधन ने इस बात से धृतराष्ट्र को सचेत कर दिया कि यह कार्य गुप्त रूप से होना चाहिए। किसी अन्य के कानों कान यह रहस्य न पहुँचना चाहिए और जब उसके राज्य की जड़ स्थिरता-पूर्वक जम जाएगी तो यदि वह लौट भी आते हैं तो लेशमात्र भी चिन्ता का कारण न होगा।

धृतराष्ट्र ने दुर्योधन के इन विचारों से अपनी सम्मति तो प्रकट की परन्तु वह यह सोचकर कि कहीं इस षडयंत्र का भंडाफोड़ न हो जाय चिन्तित था।† यदि यह रहस्य प्रजा के कानों तक पहुँच गया तो वह उसका बड़ा अहित कर डालेगी। इसके अतिरिक्त प्रजा के लिए

---

*—एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः॥
श्लो० १२ अ० १४४, आदि० प०।

ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते॥
श्लो० १३ अ० १४४, आदि० प०।

स भवान्पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति।
मृदुनैवाऽभ्युपायेनाशु नगरं वारणावतम्॥
श्लो० १४ अ० १४४, आदि० प०।

†—दुर्योधन ममाऽप्येतद्धृदि संपरिवर्तते।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम्॥
श्लो० १६ अ० १४४, आदि० प०।

कुरुवंशी दोनों दल (कौरव एवं पाण्डव) समान थे।* भीष्म, द्रोण, विदुर और कृपाचार्य कोई भी पाण्डवों के निकालने का अनुमोदन कदापि न करेंगे।† हे पुत्र! फिर हम इन महात्मा कौरवों के तथा समस्त जगत के वध करने के योग्य क्यों न हो जाएँगे।‡ परन्तु दुर्योधन ने धृतराष्ट्र को इस बात का पूरा विश्वास दिला दिया कि कुरुवंश के मुख्य-मुख्य लोग उसका कभी विरोध न करेंगे क्योंकि उसने पूर्व ही से ऐसा प्रबन्ध कर लिया है। भीष्म तो मध्यस्थ हैं ही, द्रोण-पुत्र उसके पक्ष में है। जिधर पुत्र होगा उधर ही द्रोण रहेगा इसमें सन्देह नहीं।+ कृप भी उधर ही होगा जिधर यह दोनों होंगे। वह अपने बहनोई द्रोण तथा भांजे द्रोणपुत्र को कभी नहीं छोड़ेंगे। विदुर धन से तो उसके

---

*—समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनिस्वनः॥
श्लो० १८ अ० १४४, आदि० प०।

†—न च भीष्मो न च द्रोणो न च क्षत्ता न गौतमः।
विवास्यमानान्कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित्॥
श्लो० १७ अ० १४४, आदि० प०।

‡—ते वयं कौरवेयाणामेतेषां च महात्मनाम्।
कथं न वध्यतां तात गच्छेम जगतस्तथा॥
श्लो० १९ अ० १४४, आदि० प०।

+—मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नाऽत्र संशयः॥
श्लो० २० अ० १४४, आदि० प०।

कृपः शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत्।
द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित्॥
श्लो० २१ अ० १४४, आदि० प०।

क्षत्ताऽर्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं यतः परः।
न चैकः स समर्थोऽस्मान्पाण्डवार्थेऽधिबाधितुं॥
श्लो० २२ अ० १४४, आदि० प०।

सुविश्रब्धः पाण्डुपुत्रान्सह मात्रा प्रवासय।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु॥
श्लो० २३ अ० १४४, आदि० प०।

साथ बँधा है हो परन्तु गुप्त रूप से पाण्डवों के साथ है। वह अकेला पाण्डवों के लिए इनको (दुर्योधन एवं धृतराष्ट्र) को दबाने में समर्थ न हो सकेगा। अब आप निःशंक हो कर पाण्डवों को आज ही वारणावत नगर को भेज दीजिए। वह जिस तरह चले जाएँ ऐसी कोई युक्ति कीजिए।

इस प्रकार पाँचों पाण्डव बड़ी सावधानी तथा गुप्त रीति से वारणावत नगर भेज दिए गए। इस घटना के अन्तस्तल में जो षडयंत्र छिपा हुआ था वह किसी को ज्ञात न था। इस घटना से यह स्पष्ट है कि दुर्योधन जैसे निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी व्यक्ति को भी जनमत को अपनी ओर करने की बड़ी उत्कण्ठा थी। वह उसके बल कुरुओं का राजा बनना चाहता था। उसने इस बात को भली प्रकार समझ लिया था कि जब तक कुरुराज्य में जनमत उसके पक्ष में नहीं होता वह राजा नहीं बन सकता था। उसने इस आवश्यकता के महत्व को भली भाँति समझ लिया था, इसीलिए उसने अपने पक्ष में जनमत करने के लिए प्रत्येक प्रकार के उपायों से काम लिया था।

परन्तु युधिष्ठिर भी बड़े राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने उन समस्त परिस्थितियों को समझ लिया था जो कि भविष्य में उनके समक्ष प्रस्तुत की जा रही थीं। अतः उन्होंने भी इसका काट सोच लिया था। उन्होंने सर्वप्रथम कार्य जो कि वारणावत नगरी में जाकर करने का संकल्प किया था वह था वहाँ की प्रजा के हृदय पर अपने उत्तम आचरण की छाप लगाकर वहाँ के जनमत को अपने पक्ष में कर लेना। इस नगर में पहुँचते ही उन्होंने वहाँ की प्रजा से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह वीर पाण्डव उस नगरी में पहुँच कर सबसे प्रथम अपने धर्म-कर्म में लगे हुए ब्राह्मणों के घरों पर पहुँचे। वह नरश्रेष्ठ नगर के अधिकारी महारथी, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के घर पर भी इसी प्रकार गए।†

---

†—ते प्रविश्य पुरीं वीरास्तूर्णं जग्मुरथोगृहान्।
ब्राह्मणानां महीपाल रतानां स्वेषु कर्मसु॥
श्लो० ६ अ० १४८, आदि० प०।

नगराधिकृतानां च गृहाणि रथिनां तदा।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठा वैश्यशूद्रगृहाण्यपि॥
श्लो० ७ अ० १४८, आदि० प०।

यह सारा कार्य उन्होंने केवल इस दृष्टि से किया था कि उस नगरी की प्रजा उनकी भक्त बन जाय और आगामी काल में आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायक सिद्ध हो सके। वहाँ का जनमत उनके पक्ष में इतना सबल बन जाय कि बाहर से आनेवाला कोई संकट उनके हितों को लेशमात्र भी हानि न पहुँचा सके।

राजा विराट की सभा में युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राज्य दिलाने के लिए प्रस्ताव रखा गया। बड़े वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चय हुआ कि दुर्योधन को समझाने और धृतराष्ट्र से इस बात की अनुनय करने के लिए कि वह कम-से-कम आधा राज्य युधिष्ठिर को अवश्य दे एक योग्य दूत भेजा जाय। राजा द्रुपद के पुरोहित को इस कार्य का भार दिया गया। जब उनका पुरोहित हस्तिनापुर प्रस्थान कर रहा था तब राजा द्रुपद ने उसे भलीभाँति समझाया कि उसे किस प्रकार वहाँ जाकर कार्य करना चाहिए। उन्होंने उसे बतलाया कि धृतराष्ट्र को यह संदेश देने के अतिरिक्त उसे पुरवासियों से मिलना चाहिए और उनके समक्ष उन समस्त क्लेशों एवं आपत्तियों का चित्र खींचना चाहिए जिन्हें पाण्डवों ने वनवास की दशा में सहन किया है। विशेषकर उन लोगों के सामने जो दयालु एवं उदार व्यक्ति हैं। उसे वृद्धजनों में बैठकर कुरुवंश की उन प्रथाओं एवं परम्पराओं की ओर उनका ध्यान दिलाना होगा जो उनके पूर्वजों ने स्थिर की थीं। राजा द्रुपद अपने पुरोहित को इसका रहस्य बतलाते हुए कहते हैं कि ऐसा करने से उनमें से बहुतों के विचार बदल जाएँगे। ‡ जिसका फल यह होगा कि कुरुराज्य में जनमत युधिष्ठिर के पक्ष में हो जाएगा और दुर्योधन और उनके सहकारियों की राज्य-प्राप्ति विषयक अभिलाषा विफल हो जाएगी।

लोक-विख्यात दुष्यन्त और शकुन्तला की कहानी महाभारत में भी दी गई है। इस कथा में वर्णन है कि अपने पिता कण्व ऋषि की आज्ञानुसार शकुन्तला अपने तीन वर्ष के पुत्र के साथ अपने पति राजा दुष्यन्त की राजसभा में पहुँची। वहाँ पहुँच कर शकुन्तला ने राजा दुष्यन्त से नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि वह उनकी धर्मपत्नी है और उसके पास खड़ा हुआ बालक उनका पुत्र है। उन्हें राजा की ओर से आदेश दिया

---

‡—विभेत्स्यति मनांस्येषामिति मे नात्रसंशयः ॥

श्लो० १६ अ० ६, उद्योग प० ।

जाय कि वह कहाँ निवास करे ? राजा ने उत्तर दिया—मेरा कभी किसी भी शकुन्तला नाम की कन्या से पूर्व सम्बन्ध नहीं हुआ । तू ठगिनी है ! और व्यर्थ झूठ बोलती है। तेरा यह पुत्र बड़ा विशालकाय है और अत्यन्त बलवान है। इस थोड़े से काल में यह शाल वृक्ष के समान कैसे बढ़ गया ? मैं तुझे जानता भी नहीं। तू यहाँ से शीघ्र अपने अभीष्ट स्थान को चली जा।* परन्तु शकुन्तला ने अपने पक्ष का समर्थन जिन हेतुओं से किया उन्हें सुनकर सभा में जो सज्जन उपस्थित थे उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि शकुन्तला सत्य कहती है। उसी समय देववाणी भी शकुन्तला के पक्ष में हुई। अन्त में राजा ने यह कहते हुए शकुन्तला और अपने पुत्र भरत को स्वीकार किया—मैं भी यही जानता हूँ कि यह मेरा ही पुत्र है। यदि मैंने शकुन्तला के वचन मात्र से ही अपने पुत्र को ग्रहण कर लिया होता तो संसार को सन्देह रहता और पुत्र लोकापवाद के कारण शुद्ध भी नहीं कहलाता।† राजा ने फिर शकुन्तला को सम्बोधित कर कहा—हे देवि, मैंने यह सम्बन्ध संसार के परोक्ष में किया था, इससे मैंने तेरी शुद्धि के लिए ही यह सारा वितण्डावाद छेड़ा था।‡ वह जगत मुझमें भी स्त्री के वश होने की कल्पना कर लेता। मैंने तेरे पुत्र को राजा बनाने के लिए सोचा था। इसके लिए ही यह सब सोचा गया है।+

उपरोक्त घटना से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि राजा पर जनमत का कितना गहरा प्रभाव पड़ा था राजा जानता था कि मेरी

*—नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ॥

श्लो० ८२ अ० ७४, आदि प० ।

†—यद्यहं वचनादेव गृह्णीयामि स्वमात्मजं ।
भवेद्धि शंकयो लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम् ॥

श्लो० ११९ अ० ७४, आदि प० ।

‡—कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धोऽयं त्वया सह ।
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥

श्लो० २५ अ० १७४, आदि प० ।

+ —मन्यते चैव लोकस्ते स्त्रीभावान्मयि संगतम् ।
पुत्रश्चाऽयं वृतो राज्ये मया तस्माद्विचारितम् ॥

श्लो० १२६ अ० ७४, आदि प० ।

स्त्री और पुत्र सामने खड़े हैं परन्तु जनापवाद के भय से बिना उनकी शुद्धि किए हुए उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ था।

विश्व के इतिहास में शायद ही ऐसा कोई उदाहरण मिलेगा जिसमें पिता अपने ही पुत्र के प्राण लेने के हेतु षडयंत्र रचता है। महाभारत के सभापर्व में विदुर के मुख से यह कहलवाया गया है कि मथुरा के निरंकुश राजा कंस के वध के लिए उसी के पिता उग्रसेन ने षडयंत्र रचा। अंधक, यादव और भोजवंशीय जनता ने कंस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था। इन्हीं लोगों की सम्मति से अथवा भगवान की प्रेरणा से कृष्ण ने प्रजा की प्रसन्नता के लिए कंस का वध किया।*

इस प्रकार रामायण और महाभारत के पढ़ने से इस बात का स्पष्ट पता चल जाता है कि रामायण और महाभारत-काल में जनमत एक बड़ी शक्ति थी जो राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोकने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई। रामायण और महाभारत ऐसे उदाहरणों से परिपूर्ण हैं।

रामायण और महाभारत-काल में जनमत के प्रभाव पर हर प्रकार से विचार कर लेने के उपरान्त पाठक के सामने दो एक ऐसे भी उदाहरण आ जाते हैं जो स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त के विरोधी प्रतीत होते हैं। ऐसी अवस्था में एक प्रश्न यह उठता है कि यदि रामायण और महाभारत-काल में जनमत का विशेष प्रभाव था तो जनमत ने रावण जैसे स्वेच्छाचारी राजा को गद्दी से उतारने का प्रयत्न क्यों नहीं किया? उसी प्रकार प्रजा ने राम को वन भेजने के सम्बन्ध में दशरथ के निर्णय एवं दुर्योधन की घातक योजनाओं का विरोध क्यों नहीं किया?

जनमत के सम्बन्ध में उपरोक्त आक्षेप न्यायसंगत प्रतीत होते हैं। परन्तु जब विवेचनात्मक दृष्टि से इन आक्षेपों की ओर विचार किया जाता है तब यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इन आक्षेपों में कोई वास्तविकता नहीं है। सर्वप्रथम रावण के ही सम्बन्ध में विचार कर

---

*—विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवाऽसमंजसम्।
पुत्रं संत्यक्तवान्पूर्वं पौराणां हितकाम्यया॥
श्लो० ७ अ० ६२, सभा० प०।

अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन्।
नियोगात्तु हते तस्मिन्कृष्णेन ऽमित्रघातिना॥
श्लो० ८ अ० ६२, सभा० प०।

लिया जाए रावण के सम्बन्ध में ऐसा एक भी उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता है जो इस बात की पुष्टि करता हो कि रावण ने अपने राज्य की जनता के मत की कभी अवहेलना की हो। कुछ इने-गिने व्यक्तियों को छोड़ कर शेष जनता में रावण के प्रति कभी भी असन्तोष नहीं पाया जाता। रावण के शासन-काल में थोड़ी सी जनता को छोड़कर अन्य समस्त जनता सुखी थी। रावण सदैव अपनी प्रजा की रुचि देख-कर कार्य करता था। वह अपनी चतुराई एवं बुद्धिमत्ता के द्वारा अपने राज्य की प्रजा को मुट्ठी में किए रहता था। इस बात की सत्यता उस समय प्रकट होती है जब कि राम लंका पर आक्रमण करते हैं और रावण भयभीत होकर अपनी सभा को बुलाता है और सभासदों को सम्बोधित कर कहता है—धर्म, अर्थ और काम विषयक कठिनाई उपस्थित होने पर प्रिय अप्रिय, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख हित-अहित के निर्माण करने की शक्ति आप लोग रखते हैं।* परामर्श के द्वारा कर्तव्य निर्णय करके आप लोगों ने मेरे जितने काम प्रारम्भ किए हैं वह कभी विफल नहीं हुए हैं।† जिस प्रकार चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और देवताओं के साथ इन्द्र राज-लक्ष्मी का उपभोग करते हैं उसी प्रकार आप लोगों के सहयोग से मैं भी राज-लक्ष्मी का उपभोग करता हूँ।‡

रामायण में कहीं एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला है जिसमे इस बात की ओर संकेत हो कि रावण की प्रजा का बहुमत रावण का विरोधी हो। रावण के राज्य में उसका विरोधी जनमत बनने का कोई कारण ही न था। वह अन्य राज्यों की दृष्टि में चाहे जैसा दुष्ट क्यों न रहा हो परन्तु उसकी सारी योजनाएँ लंका की प्रजा की दृष्टि में न्याय-

---

*—प्रियाप्रिये सुखेदुःखे लाभालाभे हिताहिते
धर्मकामार्थकृच्छ्रेषु यूयमर्हथ वेदितुम् ॥
श्लो० ७ सर्ग १२, युद्ध० का० ।

†—सर्वकृत्यानि युष्माभिः समारब्धानि सर्वदा ।
मंत्रकर्मनियुक्तानि न जातु विफलानि मे ॥
श्लो० ८ सर्ग १२, युद्ध० का० ।

‡—ससोमग्रहनक्षत्रैर्मरुद्भिरिव वासवः ।
भवद्भिरहमत्यर्थं वृतः श्रियमवाप्नुयाम् ॥
श्लो० ९ सर्ग १२, युद्ध० का० ।

संगत रही हैं। इसी कारण उसे अपनी प्रजा का सदैव सहयोग मिलता रहा था।

परन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि लंका के राज्य के बाहर संसार में रावण के विरोध में बड़ा विषैला वातावरण बन गया था। इसी कारण लंका राज्य के अतिरिक्त अनेक राज्यों में रावण के विरोध में जनमत बन गया था। इन राज्यों की जनता रावण के निर्दयतापूर्ण एवं अमानुषीय कृत्यों की आलोचना बड़े-कटु शब्दों में कर रही थी। रावण का अपने भाई विभीषण के प्रति जो व्यवहार रहा है इन राज्यों में उसकी घोर निन्दा हो रही थी। इस विषैले वातावरण ने सीता और राम को उसके सर्वनाश का हेतु बना दिया। निदान रावण तथा उसका परिवार इसी विरोधी जनमत की भेंट हो गया।

लंका की जनता का रावण को पद-पद पर सहयोग देना और बाहरी जनता का उसके विरोधी होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि उस काल में भारत की जनता में दो प्रकार की सभ्यताएँ प्रचलित थीं। इनमें से एक का नेता रावण और दूसरी के राम थे। लंका की जनता मुख्यतय: रावण के विचारों से सहमत थी। रावण भौतिकवादी था। इसी कारण वह सांसारिक भोग-विलास का पोषक था। दूसरी ओर राम आत्मिक विकास के पोषक होने के नाते मोक्षप्राप्ति जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते थे। उनके विचार से संयम और सदाचार के द्वारा उसकी प्राप्ति संभव थी। सांसारिक भोग-विलासों में फँस जाने से मोक्ष प्राप्ति असम्भव है। लंका की अधिक जनता सांसारिक भोग-विलासों में विश्वास रखती थी इसीलिए उसके और रावण के विचारों में सामंजस्य था। इसी कारण रावण को अपनी प्रजा से सदैव सहयोग मिलता रहा और उसके राज्य में जनमत रावण के अनुकूल रहा।

इसके उपरान्त राजा दशरथ की स्थिति पर भी विचार करना है। राजा दशरथ ने प्रजा द्वारा नियुक्त किए हुए युवराज को जनमत को कुचल कर चौदह वर्ष के लिए दण्डकारण्य में भेज दिया था। इसका परिणाम राजद्रोह होना आवश्यक था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसका पहला कारण तो रामायण में ढूँढने पर निकलता है कि राजा दशरथ ने प्रजा को विप्लव करने का अवसर ही नहीं दिया। राजा दशरथ

स्वयं लोकापवाद से इतना डरते थे कि उन्हें प्रजा के समक्ष अपना मुँह दिखाने का साहस ही नहीं हुआ। और उन्होंने अपने इस कार्य की स्वयं निन्दा की और अत्यन्त ग्लानि के कारण राजमहल में ही अपने प्राण त्याग दिए। उन्होंने जनमत का विरोध करने की अपेक्षा मृत्यु को वरण करना अच्छा समझा।

राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त प्रजा की दृष्टि में इस संकट का सारा उत्तरदायित्व कैकेयी और उसके पुत्र भरत पर था। परन्तु भरत ने इस अवसर पर बड़ी चतुराई और सावधानी से काम लिया। उन्होंने प्रजा के सामने इस प्रस्ताव को प्रस्तुत किया कि वह बन को जाएँगे और वहाँ जाकर अपने बड़े भाई राम को मना लाएँगे और उन्हें अयोध्या का राजा बनाएँगे। भरत के इस निश्चय ने अयोध्या का जनमत भरत के अनुकूल बना दिया।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी थी। वनगमन के समय राम ने अयोध्या की जनता को हृदय से यह आदेश दिया था कि वह भरत की राजभक्त बनी रहे। उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि अयोध्या की प्रजा का इस प्रकार का आचरण ही एक मात्र ऐसा होगा जो उन्हें (राम को) प्रसन्न कर सकेगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने भरत के शुद्धाचरण होने के सम्बन्ध में प्रजा को पूरा विश्वास कराने का भरसक प्रयत्न किया था। उन्होंने उनसे कहा कि भरत का चरित्र बड़ा ही सुन्दर है। वह आप लोगों का प्रिय एवं हित करेंगे।* वह यद्यपि बालक हैं पर बड़े ज्ञानी हैं, उनका चित्त कोमल है, पराक्रम के सभी गुण उनमें वर्तमान हैं। वह ही तुम लोगों के राजा हैं वह तुम लोगों की रक्षा करें।† राम ने उनसे यह समझाकर कहा कि अयोध्यावासियों का जो प्रेम और आदर बुद्धि मुझमें है वह मेरी प्रसन्नता के लिए तुम लोग भरत

---

*—स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः।
करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च॥
श्लो० ७ सर्ग ४५, अयो० का०।

†—ज्ञानवृद्धो वयाबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः।
अनुरूपः सवो भर्ता भविष्यति भयापहः॥
श्लो० ८ सर्ग ४५, अयो० का०।

में करो ।† इसी कारण भरत के प्रति अयोध्या की प्रजा में विरोधी भाव उत्पन्न न हो सके ।

परन्तु कैकेयी का विरोध प्रत्येक वर्ग ने किया जिसके उदाहरण रामायण के अयोध्याकाण्ड में अनेकों स्थलों पर दिए गए हैं। परन्तु भरत ने प्रजा का ध्यान तो राम को फिर मनाकर वापस लाने की ओर बदल दिया था। अतः सारी प्रजा का ध्यान एकमात्र इसी ओर लग गया था।

अभी धृतराष्ट्र और उसके पुत्र दुर्योधन के सम्बन्ध में विचार करना है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह कह देना उचित ही होगा कि महाभारत इस बात का उल्लेख करती है कि युधिष्ठिर ने कभी भी इस बात को नहीं चाहा कि हस्तिनापुर राज्य की प्रजा किसी प्रकार भी युधिष्ठिर के लिए धृतराष्ट्र का विरोध करे। युधिष्ठिर धृतराष्ट्र को अपने पिता पाण्डु से भी अधिक आदर की दृष्टि से देखते थे। जब कभी और जहाँ कहीं युधिष्ठिर का सम्पर्क उनकी प्रजा से हुआ है उन्होंने सदैव प्रजा को धृतराष्ट्र के प्रति शान्त रहने का आदेश दिया है। उन्होंने प्रजा को इस बात का विश्वास दिलाया है कि उनके राज्य-प्राप्ति का प्रश्न आपस में समझौते से सुलझ जाएगा। और यदि शान्त उपायों से उनके अनुकूल निर्णय न हो सका तो वह तलवार के बल से अपने स्वत्व की प्राप्ति करने में पिछड़े न रहेंगे। इसलिए प्रजा को इस विषय में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता न थी जबकि उन्हें उसकी सहायता की आवश्यकता न पड़ेगी।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि प्रजा की दृष्टि में युधिष्ठिर भी दोषी थे। प्रजा के बहुत से लोग उनके जुआ खेलने और उसमें सर्वस्व दाँव पर लगाने के कार्य को निन्दनीय समझते थे, वास्तव में जुआ खेलकर युधिष्ठिर ने प्रजा की सहानुभूति खो दी थी और अपने राज्याधिकार को निर्बल बना दिया था। यदि यह घटना न हुई होती तो प्रजा का निर्णय दूसरा ही होता। महाभारत इस बात को बतलाती है कि इस घटना के पूर्व लोग युधिष्ठिर को राजा

†—या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥
श्लो० ६ सर्ग ४५, अयो० का० ।

बनाने की अभिलाषा से चौराहों पर, सभाओं में और सार्वजनिक स्थानों पर युधिष्ठिर के गुणों की सराहना करते हुए दिखलाए गए हैं। इसलिए जुआ खेलने की घटना ने युधिष्ठिर के प्रति किसी अंश तक अश्रद्धा अवश्य उत्पन्न कर दी होगी।

इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात थी। वह युधिष्ठिर के राज्याधिकार के सम्बन्ध की थी। जनता के एक वर्ग के मतानुसार युधिष्ठिर का हस्तिनापुर के राज्य का अधिकार अत्यन्त निर्बल था। पाँचों पाण्डव नियोग की प्रथा से उत्पन्न हुए थे। वह पाण्डु से उत्पन्न न हुए थे। इसलिए हस्तिनापुर के राज्याधिकार के विषय पर प्रजा में भिन्न मत होना स्वाभाविक था। कृष्ण के परिवार में ही इस सम्बन्ध में दो मत थे। हस्तिनापुर की गद्दी के लिए बलराम दुर्योधन को अधिकारी बतलाते थे। परन्तु दूसरी ओर कृष्ण युधिष्ठिर के अधिकार के पोषक थे। बलदेव ने कई बार कृष्ण से अनुरोध किया था कि वह दुर्योधन की भी सहायता करें। परन्तु कृष्ण इस बात से सहमत न थे। जब बलराम ने यह देख लिया कि कृष्ण युधिष्ठिर की ओर पूरी तरह मचे हुए हैं तो वह निराश होकर तीर्थयात्रा को चले गए।

इसके अतिरिक्त दुर्योधन ने सदैव इस बात का प्रयत्न किया कि वह अपने अच्छे शासन के द्वारा प्रजा का प्यारा बन जाए। उसने इस बात का भी प्रयत्न किया था कि वह अपनी प्रजा का पुत्रवत पालन करे। धृतराष्ट्र के वृद्धावस्था के कारण घर छोड़ कर वन जाने के समय उसकी प्रजा ने इस बात की सराहना करते हुए कहा है कि दुर्योधन ने उन्हें पुत्रवत पाला था। सबने एक स्वर से कहा है कि दुर्योधन ने उनके ऊपर बड़ी सफलतापूर्वक शासन किया है। यदि दुर्योधन के प्रति प्रजा में कुछ भी अश्रद्धा उत्पन्न होने का अवसर था तो वह था उसका पाण्डवों के प्रति दुर्व्यवहार जिसने उसे प्रजा की दृष्टि में अप्रिय बना दिया था।

हस्तिनापुर की गद्दी के अधिकार-सम्बन्धी इस प्रकार के अनिश्चित विचारों के होते हुए लोगों में इस विषय पर एकमत होना किस प्रकार सम्भव था। प्रजा में एक वर्ग युधिष्ठिर के और दूसरा दुर्योधन के अधिकार का पक्षपाती था। इसी कारण दुर्योधन की स्वेच्छाचारी योजनाओं को रोकने के लिए जनमत न बन सका और इसी कारण

महाभारत-युद्ध न टल सका। साथ ही यह भी बात थी कि जिस युग में युधिष्ठिर और दुर्योधन रहते थे वह वीरता का युग था। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे सन्देह के समय यह उचित समझेगा कि तलवार के बल से ही इसका निर्णय हो जाय और जो राजकुमार इस युद्ध में विजयी होगा उसे ही प्रजा राज्याधिकार की मान्यता देगी।

ऋषि-मुनियों का प्रभाव:—प्राचीन भारत की सभ्यता नगरों की सभ्यता नहीं है। रामायण और महाभारत इस सभ्यता का आरम्भ आश्रमों से करते हैं। इस युग में सभ्यता के केन्द्र ऐहिक सुखों की सामग्री से सम्पन्न विशाल नगर न थे। रामायण और महाभारत दोनों इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं कि इस सभ्यता के मुख्य केन्द्र गहन वनों अथवा पर्वतों की कन्दराओं में स्थित अनेकों आश्रम थे। जीवन-सम्बन्धी गहन समस्याएँ इन आश्रमों में ऋषि-मुनियों द्वारा सोची जाती थीं और प्रारम्भ में उन्हीं के द्वारा प्रयोग में लाई जाती थीं। जब उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाता था कि अमुक जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त उनके प्रयोग द्वारा सत्य और जनहित के लिए उत्तम सिद्ध हो चुका है तो वह तुरन्त उस प्रयोग को सर्व साधारण तक पहुँचा देते थे। यह प्रयोग चाहे पुस्तक के रूप में, व्याख्यान के रूप में अथवा उपदेश के रूप म हो वह जनता तक पहुँचा देते थे, तब लोगों से इस बात की आशा की जाती थी कि वह जीवन के उस अटल सिद्धान्त के अनुसार आचरण बनाएँ।

इस बात की सत्यता रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थ सिद्ध करते हैं। अयोध्या से वन-गमन करते समय राम मार्ग में अनेकों ऋषि-मुनियों से भेंट करते हैं जो कि गहन वनों में आश्रम बनाकर जीवन बिता रहे थे। वह गंगा पार करने के उपरान्त प्रयाग में भरद्वाज आश्रम में पहुँचते हैं। वहाँ रात बिता कर पुनः आगे बढ़ते हैं। इसके उपरान्त रामायण में अनेकों ऋषि-मुनियों का वर्णन दिया हुआ है जो गहन वनों में आश्रम बना कर रह रहे थे। राम ने लगभग इन सभी ऋषि-मुनियों से साक्षात्कार किया था और उनसे कई महत्वपूर्ण उपदेश प्राप्त किए थे।

इस प्रकार रामायणकालीन सभ्यता की आत्मा गहन वनों में स्थित आश्रमों में वास करती थी। महाभारत अपने युग की सभ्यता

का केन्द्र हिमालय पर्वत को बताती है। श्रीकृष्ण जैसे योगिराज भी किसी घरेलू समस्या के सुलझाने के निमित्त हिमालय पर्वत (उत्तराखण्ड) की ओर प्रस्थान करते हैं। अर्जुन युद्धकला-सम्बन्धी विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए हिमालय में स्थित आश्रमों की ओर जाते हैं और युद्धकला प्राप्त कर हस्तिनापुर लौट आते हैं। कर्ण भी प्रसिद्ध ब्रह्मास्त्र की दीक्षा लेने के हेतु उधर ही जाते हैं और उक्त दीक्षा प्राप्त कर घर लौट आते हैं। व्यास मुनि दक्षिण में आश्रम बनाकर रहते थे। नैमिषारण्य जो उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में स्थित आधुनिक नीमषार के नाम से प्रसिद्ध है असंख्य ऋषि-मुनियों के आश्रमों से सुशोभित था। यह स्थान रामायण में भी दिया गया है। उसी स्थान पर राम ने अश्वमेध यज्ञ किया था।

इन्हीं आश्रमों में जीवन-सम्बन्धी गहन प्रश्न सोचे जाते थे, उन पर विचार किया जाता था और उनके परिणाम आचरण में लाये जाते थे। तत्पश्चात् लोककल्याण के निमित्त जन साधारण को उनके अनुसार आचरण बनाने के निमित्त प्रस्तुत कर दिया जाता था।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि रामायण और महाभारत-काल में जनता के मस्तिष्क एवं उसके कार्यों पर राजा का उतना प्रभाव नहीं पड़ता था जितना कि इन ऋषि-मुनियों का था। वास्तव में उस काल की जनता के जीवन के प्रत्येक अंग पर इन्हीं ऋषि-मुनियों का अधिकार था। वह ही जनमत के उत्पन्न करनेवाले और उस पर अधिकार करनेवाले थे। जिस जनमत को टी० एच० ग्रीन महोदय ने राज्य की आधारशिला बतलाया है वह इन्हीं ऋषि-मुनियों के हाथ की वस्तु थी। इस प्रकार रामायण और महाभारत-काल का राजा केवल एक सम्मानित सेवक के रूप में इन ऋषि-मुनियों के अधीन इसी प्रणाली को सुचारु रूप से चलाने के हेतु बना हुआ था। उसे समुचित धन और उन साधनों से सुसज्जित किया जाता था जो ऋषि-मुनियों द्वारा किए हुए जीवन-सम्बन्धी सब प्रयोगों (Expriments) को जनता में रचनात्मक रूप देने में सफल होते। इससे अधिक राजा का कर्तव्य न था। राजा का कर्तव्य इतना ही था कि वह इस प्रणाली को सफलतापूर्वक चलाता रहता।

इसके अतिरिक्त यह ऋषि-मुनि राजा तक पहुँचने के पूर्ण अधिकारी

थे । वह राजा को स्वतंत्रतापूर्वक उपदेश दे सकते थे और उन्हें ठीक रास्ते पर लगा सकते थे । महाभारत में इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दिए हुए हैं जहाँ ऋषिगण राजा के समीप जाकर उसे उपदेश देते हैं और उसके अन्यायपूर्ण कार्यों की उसी के सामने कठोर शब्दों में निन्दा करते हैं जिससे राजा अपना सुधार कर सके । उत्तंक ऋषि मन्त्रियों के मध्य में बैठे हुए जनमेजय राजा के पास जाते हैं । वह राजा जनमेजय को उसके कर्तव्य की ओर ध्यान दिलाकर उसे सचेत करते हुए डाटकर कहते हैं—राजन् ! तू तो बच्चों के से काम करने में संलग्न है । तुझे अपने कर्तव्य-पथ की ओर सर्वप्रथम देखना चाहिए । जनमेजय ऋषि द्वारा बताए हुए कर्तव्य पर आरूढ़ हो नागयज्ञ का आयोजन करता है। हस्तिनापुर की जनता में पाण्डवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सन्देह था । लोग उन्हें पांडु के पुत्र होने में संदेह करते थे । परन्तु केवल एक ऋषि के कहने से कि कुन्ती और माद्री द्वारा उत्पन्न पाँचो पुत्र पाण्डु के ही पुत्र हैं जनता ने उन्हें पाण्डु के पुत्र स्वीकार कर लिया । मैत्रेय मुनि धृतराष्ट्र की सभा में जाकर दुर्योधन को समझाते हैं कि वह अपने भाई पाण्डवों के प्रति सद्भावना रखे और उनसे वैर त्याग दे । दुर्योधन इस उपदेश को नहीं मानता । मुनि रुष्ट होकर उसे श्राप देते हैं । यह बात सुनकर सारी कौरव-सभा भयभीत होकर काँपने लगती है । धृतराष्ट्र बड़ी नम्रतापूर्वक अनुनय कर मुनि को शान्त करता है ।

महाभारत के उद्योग पर्व में इस बात का उल्लेख है कि कृष्ण दुर्योधन को अन्तिम बार समझाने के हेतु रथ में बैठ कर हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान करते हैं । मार्ग में उन्हें अनेकों ऋषि-मुनियों का साक्षात्कार होता है । इन ऋषि-मुनियों को देख कर उनके सम्मान के हेतु वह रथ से नीचे उतर कर उन्हें प्रणाम करते हैं । वह कृष्ण से कहते हैं कि वह भी कौरव-सभा को जा रहे हैं और वहाँ पुनः उनसे भेंट होगी ।

कुछ ऋषि-मुनि राजाओं की सभा में स्थायी रूप से रहते थे और इस दृष्टि से वह राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग बन गए थे । वह राजा के दैनिक कार्यों को देखा करते थे । वह अपने उपदेश एवं प्रभाव द्वारा राजा को सन्मार्ग पर लगाते थे । मिथिला के राजा जनक की सभा में ऋषि-मुनियों का एक बड़ा वर्ग रहता था । यह ऋषि-मुनि राजा से निकटतम सम्पर्क रखते थे और शासन-कार्य में विशेष रुचि रखते

थे। वसिष्ठ अयोध्या में रहते थे। अयोध्या राज्य में कोई भी नवीन कार्य राजा की ओर से तब तक प्रचलित न होता था जब तक कि उसके प्रचलन की पुष्टि वसिष्ठ द्वारा न हो जाती थी। वसिष्ठ के अतिरिक्त और भी ऋषि थे जो राजा दशरथ के समीप रहते थे। वाल्मीकीय रामायण में मार्कण्डेय, वामदेव, मौदगम्य, कश्यप, कात्यायन, गौतम और जाबालि आदि ऋषि-मुनियों के नाम इस सम्बन्ध में विशेष रूप से दिए हुए हैं।

महाभारत में भी इस बात का उल्लेख है कि महाभारत कालीन राजाओं की राजधानियों में ऋषि-मुनि स्थायी रूप से रहते थे और राजाओं को अपनी सम्मति देकर उनकी सहायता करते थे। राजा ययाति की सभा में शुक्राचार्य स्थायी रूप से रहते थे। वह राजा पर अपना गहन प्रभाव रखते थे। राजा ययाति बड़े पुत्रों के होते हुए छोटे पुत्र-पुरु को राजा बनाना चाहते थे। राजाके इस कार्य से प्रजा सहमत न थी। अतः उसने राजा का विरोध किया। परन्तु शुक्राचार्य के केवल एक वाक्य ने प्रजा के समस्त विरोधी भावों को शान्त कर दिया था। जिसके फलस्वरूप पुरु को राजपद मिल गया। पाण्डवों के वनवास काल में भी धौम्य नामक ऋषि युधिष्ठिर के साथ रहते थे। इतना ही नहीं वरन् किसी जटिल समस्या के प्रस्तुत होने पर राजा स्वयं ऋषियों के आश्रमों पर उस विषय पर सम्मति लेने के लिए जाया करते थे अथवा उन्हें अपने पास आने के लिए आदरपूर्वक आमंत्रित करते थे। हस्तिनापुर के राजाओं के सामने संकट उपस्थित होने पर व्यास याद किए जाते थे और वह तुरन्त वहाँ पहुँचकर राजा को उस संकट से मुक्त करने के हेतु उन्हें उचित उपदेश देते थे। युधिष्ठिर के मार्ग में जब कभी किसी प्रकार का संकट आ जाता था और वह उसे हटाने में अपने को असमर्थ पाते थे तो वह तुरन्त व्यास मुनि का स्मरण करते थे जो तुरन्त वहाँ पहुँच कर उसका मार्ग साफ करने का उपाय बना देते थे। कृष्ण जैसे राजनीति-विशारद के सामने भी ऐसे अवसर उपस्थित हुए हैं जब उन्हें ऋषि-मुनियों की शरण में जाना पड़ा था। अन्धक-वृष्णि-कुकुर-यादव-भोज संघ में विभिन्न दलों के उग्र विचारों के कारण कृष्ण अत्यन्त चिन्तातुर हो जाते हैं। वह नारद की शरण में जाते हैं और उनसे इस सम्बन्ध में उपदेश ग्रहण करते हैं। इस अवसर पर नारद ने जो उपदेश कृष्ण को दिया है वह आज भी राजनीतिक संसार में बड़े

महत्व का समझा जाता है। महाभारत में एक स्थान पर यह दिखलाया गया है कि एक बार नारद अचानक राजा युधिष्ठिर की सभा में प्रवेश करते हैं। वहाँ पहुँचकर नारद शासन सम्बन्धी अनेकों प्रश्न राजा युधिष्ठिर से करते हैं। शासन सम्बन्धी नारद का यह सम्वाद महाभारत के सभापर्व में दिया गया है। महाभारत के अन्तर्गत राजनीतिक-विषयों पर जहाँ-जहाँ प्रकाश डाला गया है उनमें यह स्थल बड़े महत्व का है।

इस प्रकार ऋषि-मुनियों का प्रभाव अपने समय की शासन-प्रणाली पर बहुत गहरा पड़ता था। शासन सम्बन्धी विषयों पर राजा को उपदेश देने, उन्हें सन्मार्ग पर लगाने और उन पर नियंत्रण रखने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं ऋषि-मुनियों पर अव-लम्बित था। ऋषि-मुनियों के इस प्रभाव और जनता के विचारों के बल के संयोग से रामायण और महाभारत-काल में शक्तिशाली जनमत का उदय हुआ था जिसने उस काल के राजाओं को स्वेच्छाचारी बनने में बहुत कुछ रोक-थाम करने में सफलता प्राप्त की है। इस-लिए यह कहना उचित ही होगा कि रामायण और महाभारत काल में जनमत ने प्रजातंत्रात्मक सरकार के पोषण-कार्य में बड़ा सहयोग दिया है। इसलिए उस युग का जनमत प्रजातंत्रात्मक राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्व बनकर उसकी बुद्धि एवं विकास में भरसक सहायक होता रहा है।

सप्तम अध्याय

स्थानीय संस्थाएँ

प्राचीन भारत में संस्थामय जीवनः – प्राचीन भारत में मानव-जीवन का विकास विभिन्न स्थानीय सस्थाओं के आधार पर हुआ था। ज्यों-ज्यों मानव-जीवन उन्नतिशील होता गया और उससे सम्बन्धित सस्थाएँ जटिल होती गई वैसे ही इन संस्थाओं की संख्या एवं उनके आकार-प्रकार में भी वृद्धि तथा परिवर्तन होते गए। वैदिक युग में मानव-जीवन अत्यन्त सरल था। उस समय जीवन सम्बन्धी जटिल समस्याओं का बहुत कम प्रादुर्भाव हुआ था। चार वर्ण और चार आश्रम ही उस समय की मुख्य संस्थाएँ थीं। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा मानव-जीवन विकसित हुआ था।

मानव-समाज में वर्णाश्रम धर्म का संघटन कार्य-विभाजन की दृष्टि से किया गया था। मनुष्यों को उनके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वर्गीकरण करना उचित समझा गया था। समाज में चारों वर्णों की व्यवस्था स्थिर रखने के निमित्त वैश्य वर्ण सर्वोपरि समझा जाता था। इसी प्रकार चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम सबसे महत्वपूर्ण आश्रम माना गया था। कृषि, पशुपालन और धन का लेन-देन यह वैश्य वर्ण के तीन मुख्य व्यवसाय थे। शनैः-शनैः इन व्यवसायों में विकास हुआ और इस विकास के साथ-साथ इन व्यवसायों से सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाओं की संख्या एवं उनके आकार-प्रकार में भी वृद्धि एवं परिवर्तन हुए। कृषि अकेला ही एक बड़ा धन्धा है। इस धन्धा के संचालन के

लिए अनेकों संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है। कृषि-कार्य के लिए बहुत से मनुष्य, पशु एवं अनेक प्रकार की सामग्री वांञ्छनीय है। पशु पालन भी कृषि का ही एक बड़ा अंग है। इस विभाग के आश्रित भी अनेकों स्थानीय संस्थाएँ जन्म लेती हैं। इसी प्रकार धन के लेन-देन सम्बन्धी कार्य संचालन के निमित्त भी बहुत सी संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है।

मानव-जीवन की यह प्रगति निरन्तर रही। इसके साथ-साथ जीवन सम्बन्धी संस्थाएँ भी जन्म लेती गई और विकास को प्राप्त होती रहीं।

कुटुम्ब:—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन अकेले सुख-मय व्यतीत नहीं हो सकता। अपने जीवन को स्थिर रखने एवं उसे सुखमय बनाने के लिए किसी न किसी जनसमूह का सहारा लेना अनि-वार्य हो जाता है। उसके लिए सब से प्रथम सुसंगठित जनसमूह कुटुम्ब होता है। कुटुम्ब सामाजिक जीवन की इकाई है। प्राचीन भारत में कुटुम्ब बड़ी महत्वशालिनी संस्था रही है। भारतीय राजनीति-विचारकों ने कौटुम्बिक जीवन पर विशेष महत्व दिया है। सामाजिक जीवन की उत्तमता के लिए कौटुम्बिक जीवन की बड़ी आवश्यकता बतलाई गई हैं। उन्होंने कुटुम्ब की स्वतंत्रता को सदैव मान्यता दी है। उन्होंने ऐसे राज्य को सदैव निन्दा की दृष्टि से देखा है जहाँ कुटुम्ब की स्वतंत्रता राज्य द्वारा अपहृत की जाती हो और जहाँ कुटुम्ब और राज्य के बीच विभाजक रेखा सर्वदा के लिए लुप्त रहती है। हिन्दू युग में भारतीय नरेशों ने कुटुम्ब की स्वतंत्रता की ओर विशेष ध्यान दिया है और इस सिद्धान्त को सदैव मान्यता दी है। कुटुम्ब के सदस्यों को अपने अनुरूप व्यवसाय वरण करने, शिक्षा प्राप्त करने तथा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के करने में राज्य की ओर से पूर्ण स्वतंत्रता थी। ऐसे विषयों में राज्य हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन करता था। इस बात का उल्लेख पूर्व किया जा चुका है कि प्राचीन भारत में कौटुम्बिक जीवन का नियंत्रण उन प्रथाओं, पद्धतियों एवं रूढ़ियों के द्वारा होता था जिनका उद्गम स्थान यही कुटुम्ब थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कुटुम्ब के अपने-अपने विशेष नियम थे जो उस कुटुम्ब के विशेष जीवन को स्थिर रखते थे। राज्य इन नियमों को प्रमाण मानकर मान्यता देता था। इस प्रकार यह नियम विधि का स्थान ग्रहण कर लेते थे। परन्तु इन विभिन्न कुटुम्बों के सामान्य जीवन का नियंत्रण करने के लिए ऋषियों के

द्वारा विधि बनाए गए थे जिनका पालन करना इन कुटुम्बों के सदस्यों का परमधर्म था। यह विधि आज भी गृह्-सूत्रों के रूप में प्राप्त हैं।

इस प्रकार प्रत्येक कुटुम्ब एक छोटा स्वतंत्र राज्य था, जिसका जीवन-संचालन गृह्-सूत्रों में प्रतिपादित नियमों के आधार पर होता था। इन नियमों के अतिरिक्त कुछ प्रथाएँ, पद्धतियाँ एवं रूढ़ियाँ प्रचलित थीं। राजा को इन नियमों एवं प्रथाओं, पद्धतियों तथा रूढ़ियों में हस्त-क्षेप करने का धर्मतः अधिकार न था। राजा के कर्तव्यों में से एक यह भी प्रधान कर्तव्य था कि वह अपने राज्य के प्रत्येक भाग में कौटुम्बिक जीवन के इस संगठन को स्थिर रखता और उन व्यक्तियों को समुचित दण्ड देता जो कि इस संगठन के नियमों का उल्लंघन करते हुए पाए जाते थे।

रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में इस सिद्धान्त की सत्यता को पुष्ट करने के लिए अनेकों प्रमाण प्राप्त हैं। इसलिए कौटुम्बिक जीवन के नियंत्रण में ऋषि-मुनियों का हाथ था। इस क्षेत्र में राज्य का अधिकार नहीं के बराबर था।

ग्रामः—भारत के ग्रामों की उत्पत्ति और उनके विकास के कुछ विशेष कारण हैं। भारतीय भूमि, जलवायु, और ऐसे ही अन्य प्राकृतिक साधनों ने ग्रामों के विकास में भरसक सहयोग दिया है। जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है, भारतीय सभ्यता का विशेष सम्बन्ध ग्रामों से है। इस सभ्यता का उद्गमस्थान विभिन्न आश्रम थे। यह आश्रम गहन वनों में अथवा पर्वत की कन्दराओं म स्थित थे जहाँ सर्वप्रथम इस सभ्यता का पादुर्भाव हुआ था। इसी कारण इस सभ्यता में मानव जीवन की सरलता एवं पवित्रता को विशेष महत्व दिया गया है। वैदिक युग में जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन कृषि-कार्य था जिसका सुचारु रूप से संचालन करने के लिए ग्रामों की व्यवस्था अनिवार्य थी। इस कारण वैदिक काल में ही बहुत ग्रामों की उत्पत्ति हो गई थी। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया कृषि-कार्य में भी विकास होता रहा। कृषि-कार्य के विकास के साथ-साथ ग्रामों की संख्या एवं उनके आकार-प्रकार में भी विकास एवं वृद्धि होती गई। यह ग्राम इस सिद्धांत के आधार पर संगठित किए गए थे कि उन्हें अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों के आश्रित

रहना न पड़े। यह ग्राम अपने आन्तरिक प्रबन्ध के लिए पूर्ण स्वतंत्र थे। इन पर वाह्य हस्तक्षेप बहुत कम होते थे। प्रत्येक ग्राम अपने आन्तरिक शासन के लिए संस्थाएँ स्वयं बनाता था जो अपने शासन-कार्य के क्षेत्र में स्वतंत्र थीं।

रामायण और महाभारत-काल में ग्राम-व्यवस्था थी। रामायण में ग्रामों का उल्लेख है परन्तु उनके विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं हैं। इन ग्रामों की शासन-व्यवस्था का वर्णन भी रामायण में उपलब्ध नहीं है। परन्तु यह बात निश्चित है कि रामायण-काल में अयोध्या राज्य में बहुत से ग्राम थे। राम को युवराज-पद के लिए वरण करते समय अयोध्यावासियों ने उनके गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि जब कभी लक्ष्मण सहित राम विजय की कामना से प्रस्थान करते थे तो वह नगरों और ग्रामों को बिना विजय किए हुए वापस नहीं आते थे।*

राम के वनगमन के अवसर पर लक्ष्मण ने उनके साथ वन जाने के लिए आग्रह किया था। राम ने उन्हें बहुत समझाया कि वह वन न जाकर राजधानी में ही वास करें क्योंकि उनकी अनुपस्थिति में वह कौशल्या माता का भरण-पोषण कर सकेंगे। इस पर लक्ष्मण ने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया था कि माता कौशल्या अपने भरण-पोषण के लिए किसी दूसरे के आश्रित नहीं हैं। मेरे समान सहस्रों व्यक्तियों का भरण-पोषण करने में वह स्वयं समर्थ हैं क्योंकि उनके भरण-पोषण के हेतु उन्हें सहस्रों ग्राम मिले हैं।† इसलिए इस विषय में किसी प्रकार की भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

रामायण में ग्राम के मुखियों की ओर भी संकेत किया गया है। रामायणकार ने इन्हें महत्तर के नाम से सम्बोधित किया है।‡

***—यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थं नगरस्य वा।**

श्लो० ३६ सर्ग २, अयोध्या० का०।

†—यस्याः सहस्रं ग्रामाणां संप्राप्तमुपजीविनाम्।

श्लो० २२ सर्ग ३१, अयोध्या० का०।

‡—ग्रामघोषमहत्तराः।

श्लो० १५ सर्ग ८३, अयोध्या० का०।

रामायण के युद्धकाण्ड में ग्रामणों का भी उल्लेख है। वैदिक युग में ग्रामणी राजकर्ताओं में से एक राजकर्ता होता था जिसे रत्निन् भी कहते थे। रामायण-काल में ग्रामणी का क्या स्वरूप था इसका कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रामायण-काल में भी ग्रामणी का पद बहुत ऊँचा माना जाता था। रावण के वध के उपरान्त देवगण आनन्दित हुए। उन्होंने राम के गुणगान करते हुए उन्हें सेनानी और ग्रामणी की समानता दी है।* इससे यह विदित होता है कि ग्रामणी ग्राम का बहुत बड़ा अधिकारी होता होगा जो राजा की दृष्टि में अत्यन्त सम्मानित एवं प्रतिष्ठित पदाधिकारी होता होगा।

महाभारत में भी ग्रामों का उल्लेख है। नारद ने युधिष्ठिर की सभा में पहुँचकर उनसे शासन सम्बन्धी अनेकों प्रश्न किए थे। इन प्रश्नों में से एक प्रश्न यह भी था कि क्या वह अपने राज्य के ग्रामों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान देते थे।† महाभारत में छोटे और बड़े दोनों प्रकार के ग्रामों का वर्णन है। कुछ इस प्रकार के भी ग्राम थे जिनमें घोषजन रहते थे और जो दुग्ध का व्यवसाय करते थे। महाभारत में ग्राम-वृद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम-वृद्ध ग्राम के विशेष अधिकारी थे जिनके द्वारा ग्राम का प्रबन्ध किया जाता था।

इस प्रकार यह विदित होता है कि रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में अनेकों ग्राम थे। रामायण में ऐसा लिखा हुआ है कि कुछ ग्राम कौशल्या के अधिकार में थे। ऐसा ज्ञात होता है कि कौशल्या को यह ग्राम या तो अपने पिता की ओर से दहेज में मिले होंगे अथवा उन्होंने अपनी वृत्ति में से धन बचाकर इन ग्रामों को मोल लिया होगा। महाभारत में भी ऐसा वर्णन है कि दुर्योधन ने घोषों के ग्रामों की ओर इस हेतु गमन किया था कि इन ग्रामों में जाकर वहाँ के

---

*—सेनानीर्ग्रामणीः सर्वत्वम्।

श्लो० १६ सर्ग, ११७, युद्ध का०।

†—कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत्कृताः।

श्लो० ८४ अध्याय ५, सभा प०।

बछड़ों को राजकीय चिह्नों से अंकित कर दिया जाए।* जिससे वह बछड़े राजकीय समझे जायँ। नारद ने भी युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया था कि वह अपने राज्य के ग्रामों को नगरों की भाँति बना देने का प्रयत्न करें।

इन घटनाओं से ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत-काल में राज्य के ग्रामों पर राजा का कुछ न कुछ अधिकार अवश्य रहता था। परन्तु ग्राम के दैनिक जीवन में राजा का यह अधिकार केवल नाम-मात्र का था। इन ग्रामों पर राजा का अधिकार साधारणतयः दो विषयों तक सीमित था। युद्ध के समय में राजा को धन और जन से सहायता करना और समय पर निर्धारित कर राजकोष के निमित्त भेज देना इन दो अधिकारों के अतिरिक्त राजा अपने राज्य के ग्रामों में हस्तक्षेप न करता था। राज्य में बाह्य एवं आन्तरिक बवण्डर अनेकों उठते रहें परन्तु ग्राम के संगठन एवं जीवन पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता था।

ग्राम के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए वहीं के निवासी नियुक्त थे। ग्राम-वृद्ध और ग्राम-महत्तर शब्द यह स्पष्ट करते हैं कि यह ग्राम-वासियों के प्रतिनिधि थे और जिनके द्वारा ग्राम का प्रबन्ध होता था। इसलिए रामायण एवं महाभारत कालीन यह ग्राम अपने दैनिक शासन की दृष्टि से स्वतंत्र संस्थाएँ थीं जो अपने आन्तरिक प्रबन्ध के लिए राज्य के आश्रित न थे।

नैगम—रामायण में नैगम शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग बालकाण्ड के अन्तिम सर्ग में हुआ है। रामायण के इस सर्ग में इस प्रकार वर्णन है—भरत और शत्रुघ्न के ननिहाल चले जाने के उपरान्त राम और लक्ष्मण देव तुल्य पिता की सेवा करने लगे और उनकी आज्ञा से राम पौर कार्यों की देख-रेख करने लगे।† वह समय-समय पर गुरुओं के बड़े-बड़े कामों पर ध्यान दिया

---

*—**रमणीयेषु देशेषु घोषाः संप्रति कौरव।**
स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चाङ्कनम्॥
श्लो० ४ अ० २३८, वन प०।

†—**पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः॥**
श्लो० २१ सर्ग ७७, बाल का०॥

करते थे। राजा दशरथ, ब्राह्मण और नैगम राम पर विशेष स्नेह करने लगे।*

उपरोक्त वर्णन पर भली भाँति मनन करने के उपरान्त यह प्रश्न किया जा सकता है कि राजा दशरथ ब्राह्मणों और नैगमों के राम पर विशेष स्नेह रखने का क्या कारण हो सकता है? इसका उत्तर यही होगा कि राजा दशरथ तो इसलिए राम पर स्नेह करने लगे थे कि वह उनके योग्य पुत्र थे, ब्राह्मणों के स्नेह करने का कारण यह हो सकता है कि राम समय-समय पर उनके काम कर देते थे और नैगमों का राम के प्रति विशेष स्नेह करने का कारण यही हो सकता है कि वह पौर कार्यों के सम्पादन करने में विशेष सहयोग देते थे।

इस वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नैगम और पौर में विशेष सम्बन्ध था। पौर कार्यों का कुछ अंश नैगम के अधीन भी होगा। राजधानी के स्थानीय विषयों के शासन-प्रबन्ध का भार पौर पर निर्भर था। अतः नगर के स्थानीय विषयों में से कुछ ऐसे विषय होंगे जिनका शासन-प्रबन्ध नैगम के द्वारा होता होगा।

महाभारत में भी नैगम का कुछ वर्णन मिलता है। महाभारत के सभापर्व में यह लिखा हुआ है कि नैगम युधिष्ठिर की सभा में बैठते थे। यह लोग राजा का हित चिन्तन करने, आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने और सन्धि-विग्रह आदि पर विचार करने के निमित्त सामन्त राजाओं के साथ सभा में बैठा करते थे। इसी स्थल पर महाभारतकार ने यह भी लिखा है कि यह नैगम भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न हुए थे (पृथग्जात्यैश्च नैगमैः)।† इससे पता चलता है कि नैगम विभिन्न नगरों में थे। यह केवल राजधानी ही में न थे। इन नैगमों को अपने प्रति-निधि केन्द्रीय सभा में भेजने का अधिकार प्राप्त था।

नैगम शब्द का प्रयोग उद्योग पर्व के आरम्भ में भी हुआ है। यहाँ पर यह बतलाया गया है कि बलदेव ने विराट सभा में युद्ध का

---

*—एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा॥

श्लो० २३ सर्ग ७७, बाल का०।

†—प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम्।
अभिहर्तुंनृपाःषट्सु पृथग्जात्यैश्च नैगमैः।

श्लो० १६ अ० १३, सभा० प०।

विरोध करते हुए एक दूत को कुरुसभा में भेजने में अपनी सम्मति दी थी और दूत को समझाया था कि वह जाकर कुरुसभा में ऐसे समय में प्रवेश करे जब कुरुसभा की बैठक हो रही हो। ऐसे अवसर पर कुरुसभा के सदस्यों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था कि भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामादि वीर योद्धा पौर जानपद के सदस्य तथा नैगम के प्रधान उस सभा में उपस्थित हों।*

रामायण और महाभारत में वर्णित उपरोक्त घटनाओं पर विवेचन करने के उपरान्त यह ज्ञात होता है कि नैगम नगर की एक संस्था थी। यह नगर के स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करती थी। विशेषकर नगर की आर्थिक योजनाओं का कार्यभार इसी के कन्धों पर रहता था। इस संस्था में अधिकतर बड़े-बड़े वणिक लोग सदस्य थे और नगर के व्यापार सम्बन्धी कार्यों को संचालित करना इसी संस्था का कार्य था। नैगम के प्रतिनिधियों को केन्द्रीय सभा में सदस्यता का अधिकार था और वहाँ पर आर्थिक योजना सम्बन्धी कार्यों में उनका विशेष हाथ रहता था। इस प्रकार की नैगम संस्थाएँ राज्य के प्रत्येक नगर में थीं।

रामायण काल में नैगम राज्य की बड़ी महत्वपूर्ण संस्था समझी जाती थी। रामायण में वर्णित लगभग प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर नैगम उपस्थित देखे गए है। उन्हें ऐसे अवसरों पर ऊँचा स्थान दिया गया है। राम को युवराज पद देने के लिए प्रत्येक प्रकार की तैयारी की गई थी। प्रभात होते ही लोग राजा दशरथ की प्रतीक्षा करने लगे। परन्तु वह तो कैकेयी के द्वारा रचे प्रपंच में फँसे हुए थे। अधिक विलम्ब हो जाने पर राजगुरु वसिष्ठ ने यह संदेश सुमंत्र के द्वारा भेजा— अभिषेक की सारी सामग्री प्रस्तुत है। पौर और जानपद के श्रेष्ठ और नैगम अपने दल सहित द्वार पर खड़े आप की बाट जोह रहे हैं। यह लोग अन्य देशों से आए हुए राजाओं के साथ खड़े थे।†

इस वर्णन से यह पता चलता है कि राज्य में नैगम बड़ी महत्वपूर्ण संस्था थी। इसका राजा पर महान् प्रभाव पड़ता था। नैगम के

*—सर्वे च ये ऽन्येधृतराष्ट्र पुत्रा बलप्रधाना निगमप्रधानाः।
श्लो० ६ अ० २, उद्योग प०।

†—पौरजानपद श्रेष्ठो नैगमाश्च गणैःसह।
[illegible] अयोध्या का०।

सदस्यों का स्थान पौर जानपद एवं सामन्त राजाओं के समान था। और जानपद के श्रेष्ठों और राजाओं के साथ नैगमों को खड़ा हुआ बतलाया गया है।

राजा की आज्ञा पाकर सुमंत्र ने राम को राजा के पास ले आने के लिए प्रस्थान किया। वह राजप्रासाद के द्वार पर अमात्य, सेना के मुख्य अधिकारी गण और नैगम के मुखियों को खड़ा पाते हैं।* यहाँ भी नैगम के सदस्यों को कवि ने सेना के बड़े-बड़े अधिकारियों और अमात्यों के साथ खड़ा वर्णन किया है। राम को मनाने के लिए जब भरत चित्रकूट गए थे तो नैगम के सदस्य भी उनके साथ ही वन को गए थे और राम के मनाने के सम्बन्ध में चित्रकूट में राम और भरत के मध्य जो वार्तालाप हुआ था उसमें नैगम के प्रधानों ने भी भाग लिया था।† राम के वनवास की अवधि समाप्त होने के उपरान्त वह अयोध्या लौटकर गए। ऐसा समाचार सुन भरत ने राम के स्वागत के लिए एक बड़े समारोह का आयोजन किया था। इस समारोह में नैगमों को प्रमुख स्थान मिला था। प्रमुख ब्राह्मणों, मंत्रिगण, श्रेणी के मुख्य गण और नैगमों के द्वारा भरत घिरे हुए दिखलाये गए हैं।‡ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नैगम का राज्य में प्रमुख स्थान था।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि नैगम एक स्थानीय संस्था थी, जो लगभग प्रत्येक नगर में होती थी। इसका मुख्य कर्तव्य नगर के व्यापार को देखना, उसे संगठित करना एवं उसकी वृद्धि करना था। यह जनता की संस्था थी। इसके सदस्यों को नैगम, और विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को नैगम मुख्य कहते थे। यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि इसके प्रधान को किस नाम से सम्बोधित करते थे परन्तु नैगम

---

*—ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागतास्त्विह।

श्लो० २३ सर्ग १५, अयोध्या काण्ड।

†—तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभास्तथा॥

श्लो० ३५ सर्ग १०६, अयोध्या का०।

‡—द्विजातिमुख्यैर्धर्मात्मा श्रेणीमुख्यैः सनैगमैः।
माल्यमोदकहस्तैश्च मंत्रिभिर्भरतो वृतः॥

श्लो० १६ सर्ग १२७ युद्ध का०।

प्रधान, नैगम यूथ बल्लभ आदि कुछ शब्द दिये हुए हैं।* इनके आधार पर विदित होता है कि नैगम के प्रधान को नैगम यूथ बल्लभ अथवा नैगम प्रधान कहते थे।

राज्य की ओर से नैगमों को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने प्रतिनिधि राज्य की सर्वोच्च सभा में भेज सकते थे। राज्य इन नैगमों की स्वतंत्रता को मान्यता देता था।

श्रेणी:—रामायण और महाभारत काल में श्रेणी भी जनता की एक प्रसिद्ध स्थानीय संस्था थी। नैगम की भाँति श्रेणी का भी उल्लेख दोनों ग्रंथों में प्राप्त है। परन्तु इन दोनों ग्रंथों में कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं दिया हुआ है जिसके आधार पर श्रेणी के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया जा सके। परन्तु इतना अवश्य दिया गया है कि राज्य में महत्वपूर्ण कार्यों के उपस्थित होने पर श्रेणी के सदस्यों को भी बुलाया जाता था।

रामायण के अयोध्या काण्ड में ऐसा वर्णन मिलता है—वनगमन का आदेश पाकर राम अपनी परम प्रिया सीता के महल में गए। उस समय राम कुछ लज्जित थे अतः उनका सर नीचे की ओर झुका हुआ था। ऐसा देखकर सीता काँप गई। उन्होंने शोक संतप्त एवं चिन्ता-ग्रस्त अपने पति से पूछा—नरश्रेष्ठ बोलने में चतुर बन्दीगण-मागध प्रसन्नतापूर्वक आपके मंगल गान करते हुए दिखलाई नहीं पड़ते! समस्त प्रजा, पौरजानपद और श्रेणी के मुखिया गण आपका अनुगमन नहीं करते!† इस कथन से श्रेणी के महत्व का बोध होता है।

अयोध्या काण्ड में ही दूसरे स्थल पर श्रेणी का महत्व बतलाया गया है। राजा दशरथ के निधन के चौदहवें दिन अयोध्या राज्य के समस्त राजकर्ता एकत्र होकर अयोध्या का राज्य भरत को सौंपते हुए कहते हैं—भरत, आपके स्वजन तथा श्रेणी के लोग आपको राजपद पर

---

*—**निगमप्रधानाः।**

श्लो० ६ अ० २ उद्योग प०।

†—**न त्वां प्रकृतयः सर्वा श्रेणी मुख्याश्च भूषिताः।**
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तदा॥

श्लो० १४ सर्ग २६, अयोध्या का०।

अभिषिक्त करने के लिए बाट जोह रहे हैं।* इस स्थल पर भी श्रेणी के महत्व का पता चलता है और ऐसा विदित होता है कि भावी राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर श्रेणी का प्रमुख हाथ रहता होगा।

अयोध्या काण्ड में ही यह वर्णन मिलता है कि चित्रकूट में भरत ने राम को मनाने और उन्हें अयोध्या के राज्य को सौंपने का प्रस्ताव राम के समक्ष एक बड़ी सभा में रखा था। ऐसे अवसर पर श्रेणी के सदस्य भी उपस्थित थे। इस अवसर पर भरत ने अपनी यह अभिलाषा प्रकट की थी कि श्रेणी के मुखिया अयोध्या की राजगद्दी पर राम को बैठा हुआ देखें।† भरत के इस वचन से भी श्रेणी के महत्व का बोध होता है और पता चलता है कि राजा की नियुक्ति के अवसर पर श्रेणी को प्रमुख स्थान मिलता था।

रामायण के युद्ध काण्ड में भी श्रेणी का वर्णन है। राम के वन से लौट आने पर भरत ने उनके स्वागत के लिए समारोह के आयोजन करने के लिए राज्य के जिन प्रमुख वर्गों को आदेश दिया था उनमें श्रेणी के सदस्य भी सम्मिलित हैं। जिस समय यह समारोह प्रस्थान करता है तो भरत को चारों ओर से मंत्रिगण, प्रमुख ब्राह्मण, नैगम और श्रेणी के मुखिया घेरे हुए दिखाए गए हैं।‡ कवि के इस प्रकार के वर्णन से विदित होता है कि रामायण काल में श्रेणी एक महत्वपूर्ण संस्था थी जिसके सदस्य राजा के अमात्यों, प्रमुख ब्राह्मणों और नैगम सदस्यों के समान मान्यता प्राप्त करते थे।

महाभारत में भी इस संस्था का वर्णन है। महाभारत-काल में

---

*—आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव।
प्रतीक्षते त्वां स्वजनः श्रेणयश्च नृपात्मज ॥
श्लो० ४ सर्ग ७६, अयोध्या का०।

†—श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र प्रयाश्च सर्वशः।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्यस्थितमरिंदमम् ॥
श्लो० ११ सर्ग १०४, अयोध्या का०।

‡—द्विजातिमुख्यैधर्मात्मा श्रेणीमुख्यैः स नैगमैः।
श्लो० १६ सर्ग १०७, युद्ध का०।

ब्राह्मणाश्चसराजन्याः श्रेणीमुख्यास्तथा गणाः।
श्लो० ४ सर्ग १२७, युद्ध का०।

भी श्रेणी का स्थान ऊँचा माना जाता था। श्रेणी के सदस्यों के मत का राजा विशेष ध्यान रखता था। गन्धर्वराज चित्रसेन के द्वारा परास्त होने से दुर्योधन बड़ा दुखी एवं लज्जित था। परन्तु उसे सबसे अधिक लज्जा इस बात की थी कि वह श्रेणी के सदस्यों को अपना मुँह कैसे दिखाएगा। उसे बड़ा भय था कि श्रेणी के मुखिया उसे क्या कहेंगे। श्रेणी के मुखियों के मत का उसे इतना ध्यान था कि वह वन में अनशन के द्वारा प्राण त्यागना उचित समझता था; परन्तु हस्तिनापुर वापस जाना न चाहता था।*

महाभारत में श्रेणी-बल का भी उल्लेख है।† इससे विदित होता है कि श्रेणी को अपनी सेना रखने का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त था। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि महाभारत-काल में श्रेणी इतनी महत्वपूर्ण संस्था थी कि उसे अपनी रक्षा के लिए सेना रखने का भी अधिकार था। श्रेणी के संचालन के लिए कुछ विशेष नियम थे जो श्रेणीधर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें राज्य प्रमाण मान कर मान्यता देता था। राज्य को इन श्रेणी धर्मों पर हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था।

इसलिए यह विदित होता है कि श्रेणी भी एक स्थानीय संस्था थी जिसके स्वतंत्रतापूर्वक संचालन में राज्य कभी बाधक नहीं होता था। यह संस्था भी राजा पर अपने प्रतिनिधियों द्वारा प्रभाव रखती थी और समय-समय पर धन, जन और सुसम्मति से राजा की सहायता करती रहती थी। श्रेणी अपने निर्धारित क्षेत्र में कार्य करने में पूर्ण स्वतंत्र थी।

गण—रामायण-काल में गण भी एक महत्वपूर्ण स्थानीय संस्था

---

*—ब्राह्मणाः श्रेणीमुख्याश्च तथो दासीनिवृत्तयः।
किं मां वक्ष्यन्ति किंचापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम्॥

श्लो० १६ अ० २४८, बन पर्व।

†—श्रेणी बल प्रथमो॥

श्लो० ७ अ० ६, आश्रमवासिक प०।

श्रेणी बले भृतं चैव तुल्ये एवेति मतिः॥

श्लो० ८ अ० ६, आश्रमवासिक प०।

थी। रामायणकार ने गण शब्द का प्रयोग मुख्य दो अर्थों में किया है। वह है दल (Party) और जन-समुदाय (Association of People)। रामायण के अयोध्याकाण्ड में ऐसा वर्णन मिलता है कि राम के युवराज-पद पर अभिषिक्त करने के लिए लोग राजद्वार पर खड़े हुए राजा दशरथ की प्रतीक्षा कर रहे थे। परन्तु अधिक विलम्ब हो जाने पर भी राजा को महल से बाहर आया हुआ न देखकर वसिष्ठ ने सुमंत्र को राजा के पास भेजा और उन्हें आदेश दिया कि वह शीघ्र राजा से जाकर कहें कि आचार्य, ब्राह्मण, गौ, पवित्र पशुपक्षी, पौर जानपद के श्रेष्ठ और नैगम अपने दलों सहित (गणैः सह) द्वार पर राजा की प्रतीक्षा कर रहे हैं।*

रामायण के अरण्यकाण्ड में यह वर्णन मिलता है कि शरभङ्ग मुनि के स्वर्ग चले जाने पर दण्डकारण्य-वासी मुनि अपने-अपने दलों के साथ अति तेजस्वी काकुत्स्थ रामचन्द्र के समीप आकर इस प्रकार बोले—राम यह वानप्रस्थों का दल जिसमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक है और जिसके आप स्वामी हैं, राक्षसों के द्वारा अनेक प्रकार से मारे गए हैं।†

रामायण के सुन्दर काण्ड में गण शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। हनुमान इन्द्रगण के द्वारा लंका नगरी में वन्दी बनाए गए थे। इन्द्रजित उन्हें बन्दी बनाकर रावण की सभा में ले गया और उसने राजा और सभा के सभासदों के दल (सगणाय) को बन्दी हनुमान को दिखाया था।‡

---

*—आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः।
पौर जानपदश्रेष्ठो नैगमाश्च गणैः सह॥
श्लो० ४० सर्ग १४ अयोध्या का०।

एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः।
अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः॥
श्लो० ४१ सर्ग १४, अयोध्या का०।

†—सोऽयंब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान।
त्वं नाथोऽनाथवद्राम राक्षसैर्हन्यते भृशम्॥
श्लो० १५ सर्ग० ६, आरण्य का०।

‡—व्यदर्शयत्तत्र महाबलं तं हरिप्रवीरं सगणाय राज्ञे।
श्लो० ५३ सर्ग ४८, सुन्दर का०।

रामायणकार ने इस शब्द का संगठित जन-समुदाय के अर्थ में भी प्रयोग किया है। राजा दशरथ की मृत्य के उपरान्त वसिष्ठ ने भावी राजा की नियुक्ति के निर्णय के हेतु राजसभा में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, योधाओं, अमात्यों, और गणवल्लभों को बुलाया था।* यहाँ गण संगठित जन-समुदाय थे जिसके पतियों वा प्रधानों को सभा में बुलाया गया था ऐसा स्पष्ट वर्णित है।

राम के चौदह वर्ष वनवास भोग लेने के उपरान्त वह अयोध्या वापस आते हैं। उनके स्वागत के लिए एक बड़े समारोह का आयोजन किया जाता है जिसमें राजघराने की स्त्रियाँ, अमात्य, सैनिक, ब्राह्मण, राजकुमार, श्रेणी तथा गणों के सदस्य प्रमुख व्यक्ति थे।† इस प्रकार गण एक संगठित जन-समुदाय था जिसके सदस्य अन्य स्थानीय संस्थाओं जैसे नैगम, श्रेणी आदि की भाँति इस समारोह में सम्मिलित हुए थे और जिन्हें भरत ने इस समारोह के सम्पादन के लिए आदेश दिया था।

इसलिए गण एक स्थानीय संस्था थी जिसका राज्य में बड़ा महत्व था। इसके सदस्यों को केन्द्रीय सभा में बैठने का अधिकार था। भावी राजा की नियुक्ति के समय गण के सदस्यों की भी सम्मति ली जाती थी। गणों के संचालन के हेतु इनके अपने विधि थे जो गणधर्म के नाम से प्रसिद्ध थे, जिन्हें राज्य प्रमाणित मानकर मान्यता देता था।

महाभारत में गण शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में हुआ है। गणतंत्रात्मक प्रजातंत्र राज्य के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है। इस विषय पर अगले अध्याय में विवेचना की जाएगी।

संघ—संघ भी मनुष्यों के जनसमुदायों में से एक प्रसिद्ध जन-समुदाय था। रामायणकार ने इस शब्द का प्रयोग एक ही व्यवसाय-वाले लोगों के संगठित समुदाय के अर्थ में किया है। रामायण के अयोध्या काण्ड में नट, नर्तकों और गायकों आदि के संघों का वर्णन

---

*—ब्राह्मणान्श्च क्षत्रियान्योधानमात्यान्गण वल्लभान्।
क्षिप्रमानय × × × ×॥
श्लो० १२ सर्ग ८१, अयोध्या का०।

†—राजदारास्तथामात्याः सैन्याः सेनाङ्गनागणाः।
ब्राह्मणाश्च सराजन्याः श्रेणीमुख्यास्तथा गणाः॥
श्लो० ४ सर्ग १२७, युद्ध का०।

है। राम के राज्याभिषेक सम्बन्धी समाचार को सुनकर नट, नर्तक और गायक संघ अत्यंत प्रसन्न थे।*

रामायण के अयोध्या काण्ड ही में अन्य स्थल पर ऐसे जन समुदायों की सूची दी है जिनके सदस्य एक ही व्यवसाय के आधार पर सदस्यता का अधिकार प्राप्त किए हुए थे। कवि ने इन जन-समुदायों को संघों के नाम से सम्बोधित किया है।† भरत के द्वारा यह निर्णय कर लेने के उपरान्त कि वह राम को मनाने और उन्हें उनका राज्य सौंपने के लिए वन जाएँगे यह संघ अत्यन्त आनन्दित हुए थे। इन संघों में विशेषकर मणिकारों, कुम्हारों, सूत्रकारों, शस्त्रों के द्वारा जीविका कमानेवालों, मोर की पूँछ से पंखादि बनानेवालों, रँगरेजों, दस्तकारों, गंधी, सुनारों, कम्बल बुननेवालों, धोबी, दरजी, नट, मल्लाहों आदि के अलग-अलग संघ सम्मिलित थे।‡

इस प्रकार एक ही व्यवसाय के लोग एक जन-समुदाय के रूप में संगठित होते थे। जन-समुदाय की इस संगठित संस्था का नाम संघ था। यह संघ स्वतन्त्रतापूर्वक अपने क्षेत्र के अन्तर्गत कुशलतापूर्वक कार्य करते थे। इस युग में भी उनका स्वरूप किसी अंश में साम्प्रदायिक पंचायतों में देखा जा सकता है। यह पंचायतें अपनी-अपनी जाति सम्बन्धी समस्याओं का निर्णय कर लेती हैं और इस प्रकार अपनी जाति सम्बन्धी समस्याओं को भली भाँति सुलझा लेती हैं। इस क्षेत्र में इस युग में भी राज्य उन्हें स्वतन्त्रता दिए हुए है। इसलिए

---

*—नटनर्तक संघानां गायकानां च गायताम्।
मनः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥
श्लो० १४ सर्ग ६, अयोध्या का०।

†—प्रायाताश्चार्य संघाता रामं द्रष्टुं स लक्ष्मणं।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्ट मानसाः॥
श्लो० ७ सर्ग ८३, अयोध्या का०।

‡—मणिकाराश्च ये केचित्कुम्भकाराश्च, शोभनाः।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः॥
मयूरकाः क्राकचिका वेधका रोचकास्तथा।
दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः॥
श्लो० १२ सर्ग ८३, अयोध्या का०।

इन संघों के संचालन एवं उनके जीवन-क्षेत्र में राज्य हस्तक्षेप न करता था। राज्य इन संघों द्वारा बनाए गए नियमों की रक्षा करता था। इस दृष्टि से यह स्थानीय संस्था भी, रामायण काल में, बड़ी महत्वपूर्ण संस्था थी।

महाभारत में भी इस शब्द का कई अर्थों में प्रयोग किया गया है। परन्तु इसका विशेष महत्व राजनीतिक क्षेत्र में है। महाभारतकार ने इस शब्द का विशेषकर संघ-राज्य के अर्थ में प्रयोग किया है। इस विषय की विवेचना अगले अध्याय में की जाएगी।

पौर-जानपद—पौर और जानपद शब्द क्रमशः पुर और जनपद शब्दों से बने हैं। हिन्दू युग में राज्य, पुर (राजधानी) और राष्ट्र इन दो मुख्य भागों में विभाजित किया जाता था। यह दोनों हिन्दू सत्तात्मक राज्य के दो मुख्य अंग माने जाते थे।

पौर और जानपद के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में राजनीति-विचारकों में मतभेद है। कुछ लोगों का कथन है कि पौर और जानपद क्रमशः पुरवासियों और राष्ट्रवासियों के पर्यायवाची शब्द हैं और इसीलिए इन शब्दों का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। परन्तु दूसरी कोटि के विचारक इस बात से सहमत नहीं हैं। वह पौर और जानपद नाम की दो अलग-अलग संस्थाएँ मानते हैं। डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने खारवेला लेख, नालन्द की खुदाई में प्राप्त पौर मुद्राओं, बौद्ध साहित्य एवं ऐसे ही अन्य साधनों के आधार पर इस बात के सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पौर और जानपद क्रमशः राजधानी और राष्ट्र की दो संस्थाएँ थीं। उन्होंने इस बात के सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रामायण में पौर शब्द का प्रयोग एकवचन में भी हुआ है जो पौर को एक संस्था के रूप में मान लेने में सहायक सिद्ध होता है। उनका कथन है कि प्रारम्भ में रामायण में पौर शब्द का प्रयोग एकवचन में ही होता था परन्तु कुछ समय के व्यतीत हो जाने के उपरान्त पंडितों ने इस शब्द के वास्तविक अर्थ को न समझकर भूल से इस शब्द का बहुवचन बनाकर रामायण में लिख दिया। इस बात का प्रमाण यह है कि रामायण में कई एक ऐसे श्लोक अब भी प्राप्त हैं जिनमें पौर-जानपद शब्द कर्ता के स्थान पर बहुवचन में प्रयुक्त हैं परन्तु इनकी क्रिया का

प्रयोग एक ही वचन में हुआ है। इस सम्बन्ध में उन्होंने रामायण से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें कर्त्ता बहुवचन के होने पर क्रिया एकवचन बोधक ही है।* इस श्लोक के आधार पर उनका यह कथन है कि प्रारम्भ में पौर-जानपद का एकवचन ही इस श्लोक में था; परन्तु पंडितों ने भूल से बाद को बहुवचन कर दिया। रामायण की कई हस्तलिखित प्रतियों में अब भी इस स्थल पर ये शब्द एकवचन रूप में ही लिखे मिलते हैं। कृष्णाचार्य एवं व्यासाचार्य द्वारा रामायण का जो संस्करण किया गया है उसकी हस्तलिखित प्रतियों में यह शब्द इस स्थल पर एकवचन में ही प्राप्त है।

रामायण और महाभारत के उन स्थलों का जहाँ पौर-जानपद शब्दों का प्रयोग किया गया है गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने के उपरान्त यही विदित होता है कि पौर और जानपद दो संस्थाएँ थीं। इस सिद्धांत की पुष्टि सर्वप्रथम इस बात से होती है कि इन शब्दों का प्रयोग संस्थाबोधक शब्दों की श्रृंखला में अधिकतर हुआ है। जिन शब्दों के साथ इन शब्दों का प्रयोग हुआ है वह संस्थाबोधक होने के कारण इन दोनों शब्दों को संस्था की श्रेणी से अलग कर देना उचित न होगा। नैगम, गण, श्रेणी आदि संस्थाओं के साथ पौर और जानपद का प्रयोग होने से पौर और जानपद को संस्थाएँ मान लेना ही उचित होगा।

इस विषय में दूसरी बात यह है कि रामायण में कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ पर राज्य के समस्त प्रजाबोधक शब्दों के प्रयोग के साथ भी इन शब्दों का प्रयोग मिलता है।† जो न्यायसंगत नहीं है और कवि की साहित्य सम्बन्धी योग्यता पर दोषारोपण करता है। कवि के इस प्रकार के वर्णन से वह पुनरावृत्ति दोष का भागी हो जाता है। परन्तु वाल्मीकि जैसे कवि से ऐसी भूल कदापि नहीं हो सकती

---

*—उपतिष्ठत रामस्य समग्रभिषेचनम्।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः॥
श्लो० ५२ सर्ग १४, अयोध्या का०।

†—न त्वां प्रकृतयः सर्वा श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तदा॥
श्लोक १४ सर्ग २६, अयोध्या का०।

थी। जब कवि ने 'सर्वा प्रकृतयः' शब्द का प्रयोग कर दिया तो पौर-जानपद को उसी अर्थ में प्रयुक्त करने की क्या आवश्यकता रह जाती है ? कवि का यहाँ पर दूसरा ही आशय है। यह शब्द संस्था का बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। कवि के लिखने का यह आशय है कि समस्त प्रजा एवं उनकी विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधि ऐसे अवसर पर उपस्थित थे।

रामायण में पौर और जानपद के अधिकारियों की ओर भी कुछ संकेत किए गए हैं। रामायण के अयोध्या काण्ड में ऐसा वर्णन है कि नैगमों के साथ पौर और जानपद के श्रेष्ठ राजा दशरथ के प्रासाद के द्वार पर खड़े हुए उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।* इस स्थल पर श्रेष्ठाः शब्द का प्रयोग है। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने इस शब्द का अर्थ नगरसेठ किया है। परन्तु यह अर्थ अशुद्ध है। नगर सेठ संस्कृत के नगर श्रेष्ठिन से बनता है, जिसका प्रथमा बहुवचन नगर श्रेष्ठः बनता है। परन्तु श्रेष्ठिन् से श्रेष्ठाः नहीं बनता इसलिए पौर श्रेष्ठाः नगर श्रेष्ठ का पर्यायवाची शब्द नहीं है। पौर-जानपद श्रेष्ठाः या तो पौर जानपद संस्थाओं के प्रधान अथवा इन संस्थाओं के प्रतिष्ठित सभासद होंगे। महाभारत के पढ़ने से पता चलता है कि जब सभा न्याय-कार्य के लिए बुलाई जाती थी तो उस अवसर पर सभा का प्रधान श्रेष्ठ हुआ करता था।† इसलिए यह मान लेना कि पौरश्रेष्ठ तथा जानपदश्रेष्ठ अपने नाम की संस्थाओं के क्रमशः प्रधान थे अनुचित न होगा। इस वर्णन से भी पौर और जानपद का संस्था होना सिद्ध होता है।

रामायण के बालकाण्ड में पौर के कार्यों (Functions)‡ का भी उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि ने ऐसा लिखा है कि राम पौर-कार्यों के सम्पादन में विशेष रुचि रखते थे। उनके द्वारा सफलतापूर्वक पौर

---

*—पौरजानपद श्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह।
श्लो० ४० सर्ग १४, अयोध्या का०।

†—अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभसात्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम्॥
श्लो० ७६ अ० ६८, सभा० प०।

‡—पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः॥
श्लो० २१ सर्ग ७७, बाल० का०।

कार्यों के संचालन के कारण नैगम के सदस्य उन पर विशेष प्रेम करने लगे थे।* इस वर्णन से भी यह विदित होता है कि पौर एक संस्था थी जिसके अधीन कुछ निर्धारित शासन-विषयों का प्रबन्ध किया जाता था।

शुक्रनीति में एक श्लोक है जो इस सिद्धान्त का पोषक है कि पौर एक संस्था थी। शुक्रनीति में विभिन्न प्रकार के लेखों एवं उनके महत्व का वर्णन करते हुए पौर लेख का भी उल्लेख है। यदि पौर का नगरवासियों के स्थान में यहाँ वर्णन होता तो पौर का बहुवचन में प्रयोग होता। परन्तु यहाँ पर पौर का एकवचन में प्रयोग हुआ है। दूसरे यदि शुक्रनीतिकार का पौर लेख से पुरवासियों के लेख से तात्पर्य होता तो उसे जानपद लेख को भी अंकित कर उसके महत्व को दिखाना आवश्यक था। परन्तु कवि ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। इसके अतिरिक्त पुरवासियों के लेख का उल्लेख करने का यहाँ पर कोई अर्थ ही नहीं है और यदि होता भी तो जनमत की दृष्टि से इस पद का महत्व कनिष्ठ नहीं माना जाता। हिन्दू-युग में जनमत का स्थान बहुत ऊँचा था। जनमत के अध्याय में पीछे वर्णन किया जा चुका है कि राजा के लिए जनमत का उल्लंघन करना असम्भव था। इसलिए पौर एक स्थानीय संस्था थी जिसका स्थान राजा एवं मंत्रिमंडल के स्थान से कनिष्ठ था। ऐसा न्यायसंगत भी है। शुक्रनीति में इन लेखों के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन दिया हुआ है—जिस लेख पर राजा की मुद्रा लग चुकी है वह सबसे अधिक आवश्यक पत्र होगा। जिस पत्र पर राजा की मुद्रा न लगी हो परन्तु राजा का हस्ताक्षर हो उसका स्थान मुद्रावाले लेख से न्यून होता है, मंत्री आदि के लेख का पद इससे न्यून मानना चाहिए और पौर का लेख उसमे न्यून अर्थात् कनिष्ठ मानना चाहिए।† इस

---

*—प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा ॥

श्लो० ७३ सर्ग ७७, बाल० का०।

†—समुद्रं लिखितं राज्ञा लेख्यं तच्चोत्तमोत्तमम्।
उत्तमं राजलिखितं मध्यं मंत्र्यादिभिः कृतम्॥

श्लो० २८४ अ० २, शुक्रनीति।

पौरलेख्यं कनिष्ठं स्यातसर्वं संसाधन क्षमम्॥

श्लो० २८५ अ० २, शुक्रनीति।

प्रकार शुक्रनीति के इस वर्णन से पौर के वास्तविक स्वरूप का निश्चय हो जाता है ।

रामायण और महाभारत-काल में पौर और जानपद बड़े महत्व की संस्थाएँ मानी जाती थीं । इन ग्रंथों में शायद ही किसी ही महत्व-पूर्ण घटना का वर्णन हो जहाँ पर यदि राजा को राज्य सम्बन्धी किसी विषय पर निर्णय करने की आवश्यकता पड़ी हो तो पौर-जानपद के सदस्यों को बुलाया न गया हो । राज्य के शासन सम्बन्धी विषयों पर इनकी सम्मति ली जाती थी । भावी राजा की नियुक्ति में इनका विशेष हाथ रहता था :

रामायण में राम के राज्याभिषेक के समय पौर-जानपद के सदस्य उन्हें राजपद देने के हेतु राजद्वार पर राजा की प्रतीक्षा करते हुए दिखलाए गए हैं । राजा दशरथ इस बात की सूचना देने के लिए आचार्य ब्राह्मण, नैगम और पौर एवं जानपद के अध्यक्ष राम के राज्याभिषेक की समस्त सामग्री के साथ राजद्वार पर राजा की प्रतीक्षा कर रहे हैं । गुरु वसिष्ठ ने सुमंत्र को राजा के पास भेजा था ।* सुमंत्र ने राजा के पास जाकर निवेदन किया—राजन् ! रामचन्द्र के अभिषेक की समस्त सामग्री के साथ नैगम एवं पौर तथा जानपद के सदस्य आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।† इसके उपरान्त जब राम को वनगमन सम्बन्धी आज्ञा मिल जाती है और राम यह समाचार सीता को सुनाने जाते हैं तो सीता राम को उदास देखकर कहती हैं—क्या समस्त प्रजा, श्रेणी के मुखिया और पौर तथा जानपद तुम्हारे सहायक नहीं हैं ?‡ इन वर्णनों से पौर और जानपद के महत्व का बोध होता है ।

महाभारत में भी कुछ ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिनसे पौर और

---

*—पौर जानपद श्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह ॥

श्लो० ४० सर्ग १४, अयोध्या का० ।

†—उपतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम् ।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥

श्लो० ४२ सर्ग १४, अयोध्या का० ।

‡—न त्वां प्रकृतयः सर्वा श्रेणी मुख्याश्च भूषिताः ।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तदा ॥

श्लो० १४ सर्ग २६, अयोध्या का० ।

जानपद के संस्था होने के सिद्धान्त की पुष्टि होती है । पहली बात यह है कि रामायण की भाँति महाभारत में भी पौर के कार्यों की ओर संकेत किया गया है । महाभारत के आदि पर्व में लिखा है कि पाँचों पाण्डव भाई खाण्डवप्रस्थ में रहते हुए पौर कार्यों में विशेष भाग लेते थे ।* पता चलता है कि राज्य के युवराज को शासन-कार्य सीखने के लिए पौर के कार्यों में भाग लेना पड़ता था ।

महाभारतकार ने पौर वृद्धों का उल्लेख किया है । पाण्डु वनगमन करते समय अपनी रानी कुन्ती और माद्री से कहते हैं कि वह उनके वनगमन सम्बन्धी समाचार की सूचना राजपुरोहित, विदुर, ब्राह्मण और पौर वृद्धों आदि को दे दें ।† उद्योगपर्व में इस बात का उल्लेख है कि पौर वृद्ध कुरुसभा में बैठा करते थे ‡ और अपनी सम्मति सभा में देकर राज्य के शासन-कार्य में भाग लेते थे ।

रामायण और महाभारत के उपरोक्त वर्णनों से पता चलता है कि पौर राजधानी की और जानपद राष्ट्र की स्थानीय संस्था थी जो क्रमशः आजकल के म्युनिसिपैलिटी और जिला बोर्ड के समान होंगी । यह संस्थाएँ अपने क्षेत्र में शासन कार्यों के लिए स्वतंत्र थीं ।

इस प्रकार कुटुम्ब, ग्राम, नैगम, श्रेणी, गण, संघ, पौर और जानपद रामायण और महाभारत कालीन मुख्य स्थानीय संस्थाएँ थीं, जिनके द्वारा स्थानीय विषयों का शासन प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा होता था । इन संस्थाओं के कारण राजा के अधीन शासन-कार्यों का क्षेत्र परिमित हो जाता था । यह संस्थाएँ अपने प्रतिनिधियों को सभा में भेजकर इनके द्वारा राजा के स्वेच्छाचार पर प्रतिबन्ध लगाती थीं । अतः यह संस्थाएँ उस युग में जनतन्त्रवाद के तत्वों के रक्षक के रूप में थीं जिनके द्वारा राज्यों की स्थापना और विकास में बड़ी सहायता मिली है ।

---

*—**कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः ।**
श्लो० ८ अ० २१०, आदि प०।

†—**पौर वृद्धाश्च ये तत्र विचसन्त्यस्मदाश्रयाः ।**
प्रसाद्य सर्वे वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्रजितावनम् ॥
श्लो० २५ अ० ११६, आदि प० ।

‡—**एतेषु सर्वेषु समागतेषु पौरेषु वृद्धेषुच संगतेषु ॥**
श्लो० ७ अ० २, उद्योग प० ।

अष्टम अध्याय

गणतंत्रात्मक राज्य

गण:—हिन्दू राजनीति-शास्त्र में गण एक ऐसा शब्द है जिसकी ओर कुछ राजनीति-विशारदों ने विशेष ध्यान दिया है। इन महानुभावों में गण शब्द के वास्तविक अर्थ पर भिन्न मत हैं और इन भिन्न मतों के आधार पर इनको हम तीन मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इन तीन वर्गों में से एक वर्ग ऐसा है जो गण शब्द को व्यापारिक संघों अथवा संस्थाओं का द्योतक बतलाकर उसे राजनीति क्षेत्र से नितान्त अलग रखने का प्रयत्न करता है। दूसरा वर्ग वह है जिसकी दृष्टि में गण शब्द उपजाति का (Tribe) बोधक है परन्तु तीसरा और अन्तिम वर्ग गण शब्द को राजनीति के अन्तर्गत रख कर इसे आधुनिक गणतंत्रात्मक राज्य (Republic) का पर्यायवाची शब्द बतलाकर इसका राजनीति-क्षेत्र में महत्व बढ़ा देता है। इस अन्तिम वर्ग में डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल भी परिगणित किए जाते हैं जो कि इस सिद्धान्त के अटल पोषक हैं कि गण शब्द गण-तंत्रात्मक राज्य अथवा रिपब्लिक (Republic) के अर्थ में प्राचीन काल में प्रयुक्त होता था।

महाभारत में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जो गण शब्द के वास्तविक अर्थ पर प्रकाश डालते हैं। महाभारत के सभा पर्व में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का विशद वर्णन किया गया है। इस अवसर पर युधिष्ठिर की दिग्विजय का भी वर्णन किया गया है। युधिष्ठिर की

दिग्विजय के सम्बन्ध में यह लिखा हुआ है कि उनका एक-एक भाई एक-एक दिशा की विजय के निमित्त प्रस्थान करता है। अर्जुन उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं।* वह कई राज्यों को विजय कर पराजित राजाओं को अपने साथ लेकर आग बढ़ते हैं। आगे बढ़ने पर इन्हें बहुत से गणों से एक-एक करके युद्ध करना पड़ता है जिन पर विजय प्राप्त करने पर वह उन्हें युधिष्ठिर का करदायी बनाने में समर्थ होते हैं।

महाभारत के इस वर्णन से पहिली बात तो यह विदित होती है कि यह गणराज्य थे और जो इतने शक्तिशाली थे कि उनकी विजय के लिए अर्जुन को इस बात की आवश्यकता पड़ी थी कि वह अन्य राजाओं की इस कार्य में सहायता लें। व्यापारिक संघ अथवा एसी ही अन्य संस्थाएँ इतनी बलशालिनी नहीं हो सकतीं कि वह अर्जुन जैसे वीर योद्धा और शक्तिशाली सेना का युद्ध के लिए आह्वान कर सकते। इनका तो मुख्य उद्देश्य शान्तिपूर्वक व्यापार करना था। उनमें वीरता एवं रणकौशल कहाँ से आ सकता था? इसलिए जिन गणों का इस स्थान पर उल्लेख किया गया है वे व्यापारिक संघ अथवा ऐसी ही अन्य संस्था कदापि नहीं हो सकते। इस गण शब्द को व्यापारिक संघ के अर्थ में लेना न्यायसंगत नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि अर्जुन का मुख्य उद्देश्य अपने भाई युधष्ठिर को सार्वभौम राजा बनाना था। जो राज्य युधिष्ठिर को अपना महाराजाधिराज मानने में संकोच करते थे और उन्हें कर देना स्वीकार नहीं करते थे उनको युद्ध में आह्वान कर और उन्हें पराजित कर इस बात पर विवश करना था कि वह युधिष्ठिर को अपना सम्राट् स्वीकार कर लें। इस दृष्टि से अर्जुन का युद्ध केवल ऐसे ही राज्यों के प्रति हुआ होगा। इसलिए जिन गणों से अर्जुन का युद्ध हुआ होगा वह गण अवश्य स्वतंत्र राज्य होंगे जिन्होंने अपनी स्वतंत्रता स्थिर रखने के लिए हर प्रकार से प्रयन्त किए होंगे और उन्हें विवश होकर युद्ध की घोषणा करनी पड़ी होगी। यह गण व्यापारिक संघ अथवा अन्य ऐसी संस्थाएँ नहीं हो सकते क्योंकि यह संस्थाएँ किसी न किसी राज्य के अन्तर्गत अवश्य होती हैं ऐसी स्थिति में जब उनके

*** —विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम्।**

श्लो० ४ अ० २५, सभा प०।

ऊपर बाहरी आक्रमण होंगे तो वह राज्य उनकी रक्षा के लिए कर्तव्यबद्ध होकर आगे अवश्य आएगा। इन संघों वा संस्थाओं को किसी भी बाहरी राजनीतिक संस्था से युद्ध करने की घोषणा करने अथवा सन्धि करने का कोई अधिकार नहीं है। परन्तु उपरोक्त गणों के वर्णन में ऐसी बात देखने में नहीं आती। इन गणों ने स्वयं अर्जुन से युद्ध की घोषणा की और जिसमें उनकी पराजय हुई थी। वह अपनी पराजय को स्वयं स्वीकार करते हैं और सन्धि करके युधिष्ठिर को कर देना स्वीकार कर लेते हैं। इस वर्णन के आधार पर यह स्वीकार करना न्यायसंगत होगा कि यह गण किसी प्रकार भी उन संस्थाओं से कम न होंगे जिन्हें राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। दूसरे शब्दों में यह गणराज्य अवश्य होंगे। यह व्यापारिक संघ अथवा उप-जाति वा गोत्र की कोटि में परिगणित नहीं किए जा सकते।

महाभारत के शान्ति पर्व में भी गणों का वर्णन है। यहाँ पर महाभारतकार ने भीष्म के मुख से गणों की आंतरिक एवं वाह्य निर्बल-ताओं को स्पष्ट किया है।* इस प्रसंग में कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध गण से है और जो राजनीति-क्षेत्र में बड़े महत्व के हैं। हिन्दू शास्त्रकार राज्य के लिए "साधन चतुष्टय" नामक नीति निर्धारित करते हैं जो साम, दाम, दण्ड-भेद के नाम से प्रसिद्ध है। गणों के उल्लेख में भी इसी नीति के बरतने पर विशेष बल दिया गया है।† भीष्म गणों के लिए उत्तम गुप्तचरों की व्यवस्था निर्धारित करते हैं। आगे चलकर वह बलशाली सेना और सबल कोष गणों के लिए अत्यन्त आवश्यक बतलाते हैं।‡ गणों की सफलता के लिए इन बातों

---

*—अभ्यन्तरभयं रक्ष्यमसारं वाह्यितो भयं।

श्लो० २८ अध्याय १०७, शा० प०।

†—समदानविभेदनैः।

श्लो० १२ अध्याय १०७, शा० प०।

‡—चारश्चामित्रंकर्षण।

श्लो० २४ अध्याय १०७, शा० प०।

चार मंत्र विधानेषु कोषसञ्चियेषु च।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्द्धन्ते सर्वतो गणाः॥

श्लो० १९ अध्याय १०७, शा० प०।

की आवश्यकता के अतिरिक्त नीति का गुप्त रखना आवश्यक बतलाया गया है।*

उपरोक्त राजनीतिक शब्द जो गणों से घनिष्ठता रखते हैं और जिनकी उत्तमता पर गणों की उत्तमत्ता भी निर्भर है गणों के राजनीतिक लक्षण को निस्सन्देह सिद्ध करते हैं। इसलिए गणों को राज्यों की कोटि में परिगणित करना उचित होगा।

अब प्रश्न यह है कि इन गणराज्यों में किस प्रकार की सरकार थी ? इनकी क्या रूपरेखा थी ? गण शब्द का शाब्दिक अर्थ गणना करना है। गणराज्य, इस प्रकार, बहुसंख्यक राज्य अथवा बहुत जनों का राज्य कहलाएगा। इसलिए गणराज्य से तात्पर्य 'गणतंत्रामक वा 'जनतंत्र' राज्य से होगा। साधारण जनता के हाथ में शासन की बागडोर होने के कारण ही ऐसे राज्य में राजकीय प्रस्तावों का गुप्त रहना कठिन हो जाता है। इसीलिए नीति को गुप्त रखना इन राज्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है और जिसका अभाव इन राज्यों की एक बड़ी निर्बलता मानी गई है। गणराज्य में प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार प्राप्त थे। इस आधार पर वह शासनकार्य में समान अधिकार प्राप्त कर सकता था। इसी कारण भीष्म इस बात का आदेश करते हैं कि गणराज्य में कोई भी व्यक्ति दूसरों को छोटा अथवा तुच्छ न समझे, क्योंकि प्रत्येक नागरिक जाति वा कुल की दृष्टि से समान है।†

गणराज्य में बहुतों के द्वारा शासन किया जाता था इस बात की सत्यता सुभद्रा-हरण की घटना भी प्रमाणित करती है। सुभद्रा-हरण समाचार अन्धक-वृष्णि लोगों में अग्नि की भाँति शीघ्रता से फैल जाता है। यह लोग सुधर्मा नामक सभा में दौड़कर एकत्र हो जाते हैं। वह सभा में इस विषय पर वाद-विवाद करते हैं। तदुपरान्त वे उस निर्णय पर पहुँचते हैं जो कार्य रूप में परिणत किया जाता है।

---

*—मंत्रगुप्तिः प्रधानेषु।

श्लो० २४ अध्याय १०७, शा० प०।

†—अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभव-लक्षणम्।
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा॥

श्लो० ३० अध्याय १०७, शा० प०।

महाभारत में उपरोक्त सामग्री प्राप्त होने के उपरान्त यह निश्चय कर लेना कि गण शब्द, गणतंत्रात्मक राज्य के लिए महाभारत काल में प्रयुक्त होता था उचित ही होगा ।

रामायण में गणतंत्रात्मक राज्य—रामायण में जिन राज्यों का वर्णन है वह समस्त राजतंत्रात्मक राज्य हैं । रामायण के मुख्य राज्य मिथिला, अयोध्या, किष्किन्धा और लंका हैं । यह राज्य राजतंत्रात्मक हैं । रामायण में गणतंत्रात्मक राज्य का कहीं भी उल्लेख नहीं है । ऐसा विदित होता है कि रामायणकाल में गण-तंत्रात्मक राज्यों का जन्म नहीं हुआ था और यदि जन्म हो भी चुका हो तो वाल्मीकि का मुख्य उद्देश्य वैदिक संस्थाओं के वर्णन करने के कारण उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया । यहाँ तक कि अनार्य राज्यों को भी जिनका कि रामायण में वर्णन है वाल्मीकि ने अपनी रामायण के अन्तर्गत आर्य राज्यों का चोला पहना दिया है । इन अनार्य राज्यों के वर्णनों में कहीं भी इस बात की झलक नहीं मिलती जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि यह वैदिक राज्यों से भिन्न थे ।

यद्यपि रामायणकार ने जहाँ तहाँ गण शब्द का प्रयोग किया है परन्तु यह शब्द राज्य के अर्थ में रामायण में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है । रामायण में गणमुख्य एवं गणबल्लभ शब्द भी मिलते हैं । परन्तु वह जिस अर्थ में इस ग्रंथ में प्रयुक्त हुए हैं उन पर ध्यान-पूर्वक विवेचन करने के उपरान्त यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि यह शब्द राज्य के अर्थ में रामायण में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं ।

इसलिए गणतंत्रात्मक राज्य का स्वरूप और उसकी कार्यशैली आदि की विवेचना के निमित्त महाभारत में जो सामाग्री प्राप्त है उसी तक सीमित रहना पड़ेगा ।

महाभारत में गणतंत्रात्मक राज्यः—महाभारत की अनेकों देन हैं इनमें मे विभिन्न प्रकार के गणतंत्रात्मक राज्यों का होना और उनका सफलतापूर्वक क्रियाशील हो कर कार्य करना राज-नीति क्षेत्र को एक महान देन है । इसमें गणतंत्रात्मक राज्यों की एक लम्बी सूची दी हुई है जो उस समय क्रियाशील होकर कार्य कर रहे थे । महाभारतकार ने इन राज्यों को गण के नाम से सम्बोधित किया है । युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के प्रारम्भ

होने के पूर्व उनके चारों भाई चारों दिशाओं की विजय के हेतु प्रस्थान करते हैं। अर्जुन उत्तर दिशा की ओर चलते हैं। पहले वह कई राजतंत्रात्मक राज्यों के राजाओं को पराजित कर युधिष्ठिर का करदायी बनाने में सफल होते हैं। इसके पश्चात् वह इन राज्यों के पराजित राजाओं को साथ लेकर पुरुवंशीय प्रसिद्ध राजा विश्वगाव से युद्ध करने के हेतु चल पड़ते हैं और अपने वीर योद्धाओं की सहायता से उसे भी युद्ध में पराजित करते हैं।

सात दस्यु जनराज्य--राजा विश्वगाव को पराजित करने के उपरान्त अर्जुन सात दस्यु गणराज्यों की ओर विजय की अभिलाषा से प्रस्थान करते हैं।* महाभारतकार ने इन गणराज्यों को दस्यु गणराज्य के नाम से सम्बोधित किया है। इससे स्पष्ट है कि यह राज्य अनार्य राज्य थे। इनकी स्थिति महाभारतकार ने पर्वत के समीप बतलायी है। ऐसा विदित होता है कि यह अनार्य गणराज्य हिमालय पर्वत के अंक में स्थित होंगे। सम्भव है कि पंजाब अथवा कश्मीर के समीप ही कहीं हिमालय पर्वत पर यह राज्य बसे हों। इसी कारण महाभारतकार ने उन्हें दस्युपर्वतवासिन् गणाः लिखा है।

कश्मीर--सात दस्यु गणों को जीतने के उपरान्त क्षत्रियश्रेष्ठ अर्जुन ने कश्मीर के क्षत्रिय वीरों को पराजित किया।† महाभारतकार ने अन्य राजतंत्रात्मक राज्यों के वर्णनों में राजा का नाम दिया है। परन्तु इस स्थल पर वह राजा का नाम न देकर यह लिखता है कि अर्जुन ने कश्मीर के क्षत्रियों को हराया। महाभारतकार का राजा के नाम पर मौन रहना सार्थक है। कश्मीर में सम्भवतः उस समय राजा न होगा। अन्यथा वह इस विषय में मौनता कदापि न धारण करता। इसलिए यह सम्भव है कि कश्मीर राज्य में उस समय राजतंत्रात्मक राज्य न था वरन् वहाँ गणतंत्रात्मक राज्य होगा।

दश गणतंत्रात्मक राज्य--इसके अनन्तर दस राज्यों के संघ

---

*—पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः।
गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः॥
श्लो० १६ अ० २७, सभा० प०।

†—ततः कश्मीरकान्वीरान्क्षत्रियर्षभः॥
श्लो० १७ अ० २७, सभा० प०।

को अर्जुन पराजित करते हैं। इन दस राज्यों के संघ का प्रधान लोहित था।* लोहित को यहाँ पर राजा के नाम से सम्बोधित नहीं किया गया है। अपितु उसे साधारण पुरुष की भाँति सम्बोधित किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि लोहित साधारण नागरिक होगा और उसने इन दस राज्यों के संघ का प्रधानपद नागरिकों की सम्मति से पाया होगा। इसी कारण इन राज्यों की रक्षा के निमित्त वह अर्जुन से युद्ध करने गया था और जिसमें उसकी पराजय हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संघ-राज्य में जो दस राज्य सम्मिलित थे वह अपना अलग-अलग प्रधान भी रखते होंगे। परन्तु दसों राज्यों के संघ के प्रधान पद पर उस समय लोहित था।

त्रिगर्त, दार्व, और कोकनद—दस गणतंत्रात्मक राज्यों के संघ को विजय करने के उपरान्त अर्जुन आगे बढ़ कर त्रिगर्त, दार्व और कोकनद राज्यों के क्षत्रियों से युद्ध करते हैं जिसमें अर्जुन की विजय होती है। महाभारतकार स्पष्ट लिखता है कि त्रिगर्त, दार्व और कोकनद क्षत्रिय अर्जुन के वश हो गए।† उसने इस बात का उल्लेख नहीं किया कि उनका राजा अर्जुन से युद्ध करता है, पराजित होता है तथा सन्धि करता है वरन् वह लिखता है कि यह क्षत्रियगण आकर युद्ध करते हैं, पराजित होते हैं और अर्जुन के अधीन हो जाते हैं। इसके पश्चात् अर्जुन आगे बढ़ते हैं। दूसरे शब्दों में यह क्षत्रियगण अर्जुन से सन्धि करते हैं और अर्जुन के करदायी बन जाते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि इन राज्यों में जन साधारण को ही शासनाधिकार प्राप्त था। वहाँ राजा न था। इन्हीं जन साधारण को युद्ध की घोषणा करने एवं सन्धि करने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि इन तीनों राज्यों की प्रजा को राजसत्ता प्राप्त थी। इसलिए इन राज्यों को गणतंत्रात्मक राज्यों क अन्तर्गत परिगणित करना उचित होगा।

---

*—व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥

श्लो० १७ अ० २७, सभा० प०।

†—ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥

श्लो० १८ अ० २७, सभा० प०।

नगर गणतंत्रात्मक राज्य:—त्रिगर्त, दार्व और कोकनद राज्यों के पराजित करने के उपरान्त कुरुनन्दन अर्जुन ने अभिसारी नाम की सुन्दर नगरी को जीत लिया और उरगा नगरी वासी रोचमान को भी रण में जीत लिया।* और आगे बढ़कर उन्होंने चित्रायुध द्वारा सुरक्षित सुन्दर सिंहपुर नामक नगरी को अपनी सेना द्वारा युद्ध में मथ डाला।† इस प्रकार अर्जुन अभिसारी, उरगा और सिंहपुर नामक नगर-राज्यों को पराजित कर उन्हें अपना करदायी बनाते हैं। उस समय उरगा और सिंहपुर नगर-राज्य क्रमश: रोचमान और चित्रायुध के अधीन थे। यह राजा न थे, क्योंकि महाभारतकार उन्हें साधारण व्यक्ति की भाँति संबोधित करता है। उन्हें राजा की भाँति कहीं भी आदरसूचक शब्दों से सम्मानित नहीं किया गया है।

दूसरी बात इनके सम्बन्ध में यह है कि वह किसी अन्य राज्य के भाग नहीं थे। यदि यह नगर किसी दूसरे राज्य के भाग होते तो वह राज्य इनकी रक्षा में अवश्य अर्जुन से युद्ध करने आते। अथवा अर्जुन स्वयं उन राज्यों को दमन करते जिनके कि यह भाग थे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ था। अत: यह स्पष्ट है कि यह नगर अलग-अलग स्वतन्त्र-राज्य थे।

उस समय चित्रायुध के अधीन सिंहपुर नाम का नगर-राज्य और रोचमान के अधीन उरगा नगरी थी। यह राजा न थे अत: ऐसा विदित होता है कि रोचमान तथा चित्रायुध क्रमश: उरगा और सिंहपुर राज्यों के अध्यक्ष अथवा प्रधान थे जिन्हें प्रजा की सम्मति से यह पद मिले होंगे और जिनके ऊपर अपने-अपने नगर की रक्षा का भार होगा।

उपरोक्त वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि यह तीन नगर-राज्य—अभिसारी, उरगा तथा सिंहपुर—गणतंत्रात्मक नगर-राज्य थे।

सुह्म, चोल, बाह्लीक, काम्बोज, परम काम्बोज, दरद, लोह,

---

*—अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरु नन्दनः।
उरगा वासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥
श्लो० १९ अ० २७, सभा० प०।

†—ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुध सुरक्षितम्।
प्राधमद्बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥
श्लो० २० अ० २७, सभा० प०।

ऋषिक गणतंत्रात्मक राज्य:—महाभारतकार इसके उपरान्त कई गणतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख करता है जो कि अर्जुन के मार्ग में पड़ते हैं और जिन्हें वह अपने अधीन कर लेते हैं। सर्वप्रथम वह सुह्य और चोल राज्यों को अपनी सेना से जीत लेते हैं।* फिर वह घमासान लड़ाई के अनन्तर अत्यन्त पराक्रमी बाह्लीकों को वश में कर लेते हैं।† वाह्लीकों को पराजित कर वह काम्बोजों के साथ दरदों को भी जीत लेते हैं।‡ तत्पश्चात् इन्द्रपुत्र अर्जुन ने लोह, परम काम्बोज, उत्तर ऋषिकों को एक बार में ही जीत लिया।+ ऋषिकों के साथ भी अर्जुन की बड़ी लड़ाई हुई। ऋषिक और अर्जुन में तारका-सुर संग्राम के समान घमासान युद्ध हुआ।×

यह वर्णन यह बतलाता है कि यह विभिन्न जातियाँ अपने-अपने नाम के राज्यान्तर्गत रहती थीं। उनकी अपनी-अपनी सरकारें थीं जो उन्हीं के द्वारा बनाई गई थीं। इन राज्यों में समस्त जन-समूह को शासनाधिकार प्राप्त था। इन राज्यों के शासन-कार्य का भार सारे जन-समूह पर निर्भर था। इनमें राजा न था। प्रत्येक राज्य का नाम उस जन-समूह के नाम पर था जो कि उस राज्य में बसा हुआ था।

---

*—ततः सुह्यांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः।
सहितः सर्व सैन्येन प्रामथत्कुरुनन्दनः॥
श्लो० २१ अ० २७, सभा० प०।

†—ततः परमविक्रान्तो वाह्लीकान्पाकशासनिः।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान॥
श्लो० २२ अ० २७, सभा० प०।

‡—गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः।
दरदान्सह काम्बोजैरजयत्पाकशासनिः॥
श्लो० २३ अ० २७, सभा० प०।

+—लोहानपरमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि।
सहितांस्तान्महाराज व्यजयत्पाकशासनिः॥
श्लो० २५ अ० २७, सभा० प०।

×—ऋषिकेष्वपि संग्रामोबभूवाऽति भयंकरः।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृषिकपार्थयोः॥
श्लो० २६ अ० २७, सभा० प०।

इस प्रकार यह राज्य गणतंत्रात्मक राज्यों के अन्तर्गत परिगणित किए जाएँगे ।

नकुल के द्वारा पराजित किए गए गणतन्त्रात्मक राज्यः— अर्जुन के छोटे भाई नकुल ने इसी उद्देश्य से पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया था और वहाँ स्थित कई स्वतन्त्र राज्यों को युद्ध में पराजित कर पश्चिमी मरुभूमि को अपने अधीन कर लिया था । फिर शैरीषक तथा महेत्थ प्रदेश पर विजय प्राप्त की । यहाँ अक्रोश नामक राजा के साथ नकुल का महासंग्राम हुआ ।*

यह पश्चिमी मरुभूमि संभवतः राजस्थान की मरुभूमि अथवा सिंध प्रदेश हो सकता है । इसके पश्चात् विजयी नकुल आगे बढ़कर कई गणराज्यों से युद्ध करते हैं । यह गणराज्य दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पंचकर्पट, मध्यमकेय और बाटधान नाम से उस समय प्रसिद्ध थे । इनमें से दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव और पंचकर्पट को छोड़ कर शेष दो गणराज्य ब्राह्मणों के अधीन थे जिनमें ऐसा पता चलता है कि ब्राह्मण लोग बसे हुए थे ।† इन समस्त गणराज्यों को नकुल ने पराजित किया था । इसके उपरान्त पुष्कर राज्य के क्षत्रियों पर नकुल ने आक्रमण किया और उसे भी पराजित कर युधिष्ठिर का करदायी बना दिया ।‡ इन विजयों से सन्तुष्ट न हुए नकुल सिंधुनदी के समीप बसे हुए राज्यों और सरस्वती नदी के किनारे·

*—मरुभूमिं च कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम् ।

श्लो० ५ अ० ३२, सभा प० ।

शैरीषकं महेत्थं च वशे चक्रे महा द्युतिः ।

अक्रोषं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ॥

श्लो० ६ अ० ३२, सभा० प० ।

†—तान्दशार्णान्स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः ।

शिवीं स्त्रिगर्तानम्बष्ठान्मालवान्पंचकर्पटान् ॥

श्लो० ६ अ० ३२, सभा० प० ।

तथा मध्यमकेयांश्च वाटधानान्द्विजान थ ।

‡—पुनश्च परिवृत्याऽथ पुष्करारण्यवासिनः ।

गणानुत्सवसंकेतान्व्यजयत्पुरुषर्षभः ॥

श्लो० ८-९ अ० ३२, सभा० प० ।

वाले राज्यों को भी युद्ध में पराजित कर अपने अधीन कर लिया और यहीं पर ग्रामणीय, शूद्र, आभीर और मत्स्य राज्य थे। नकुल ने इनमें प्रत्येक राज्य से अलग-अलग युद्ध किया और उन्हें पराजित कर युधिष्ठिर का करदायी बनाया। ग्रामणीय गणराज्य के लोग वीरता और साहस के लिए विशेष प्रसिद्ध थे। शूद्र, आभीर और मत्स्य राज्य सम्भवतः पंजाब में बसे हुए थे। इस प्रकार नकुल की विजयी सेनाएँ हिमालय पर्वत की तराई तक पहुँच चुकी थीं। महाभारतकार इस पर्वत को अमर पर्वत के नाम से सम्बोधित करता है।† इस प्रकार नकुल ने लगभग एक दर्जन गणतंत्रात्मक राज्यों को युद्ध में पराजित कर इस बात के लिए विवश कर दिया कि वे युधिष्ठिर को अपना सम्राट् मान लें।

अर्जुन और नकुल के द्वारा की हुई विजयों के ऊपर दिए हुए वर्णन के आधार पर यह कहना न्यायसंगत होगा कि महाभारत-काल में भारत के उत्तरी और पश्चिमी भाग में गणतंत्रात्मक राज्य पर्याप्त संख्या में थे जिनके विभिन्न जन-समूह अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार प्रजातंत्र राज्यों का संचालन करते थे। जिसमें प्रत्येक नागरिक को समान शासनाधिकार प्राप्त थे। इसी सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए भीष्म ने महाभारत के शान्तिपर्व में यह स्पष्ट कहा है कि गणराज्य में जाति और वंश की दृष्टि से प्रत्येक नागरिक समान अधिकार रखता है और इसी सिद्धान्त पर इन राज्यों के नागरिकों में एक दूसरे को छोटा न समझा जाय।‡

कर्ण के द्वारा पराजित किए हुए गण तंत्रात्मक राज्य— महाभारत के वनपर्व में कर्ण की वीरता के संबंध में वर्णन दिया हुआ है। दुर्योधन को भारत का सम्राट् बनाने के उद्देश्य से कर्ण ने

---

†—सिंधु कूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः।
श्लो० ६ अ० ३२, सभा० प०।
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाऽऽश्रित्य सरस्वतीम्।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वत वासिनः॥
श्लो० १ अ० ६२, सभा० प०।

‡—जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा॥
श्लो० ३० अ० १०७, शा० प०।

दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया था। इस प्रस्थानकाल में उन्होंने भारत के लगभग समस्त प्रधान राजाओं को पराजित कर दुर्योधन का करदायी बना दिया था। इस संबंध में उनकी अन्तिम विजय पश्चिम की दिशा में कुछ गणराज्यों के विरुद्ध वर्णित है। यह म्लेच्छ, अटवि. मद्र, रोहितक, आग्नेय, मालव, शशक, यवन आदि गणराज्यों के नाम से संबोधित किए गए हैं।† कर्ण आगे बढ़ कर अन्य कई गणराज्यों को पराजित करता है। इनमें से मुख्य नग्नजित नामक व्यक्ति के अधीन था।‡

महाभारत के वनपर्व का यह वर्णन भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचा रहा है कि उत्तरी-पश्चिमी भारत महाभारतकाल में छोटे-छोटे स्वतंत्र गणतंत्रात्मक राज्यों में विभक्त था। जिनको महाभारतकार ने गणराज्यों के नाम से संबोधित किया है। इस आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि यह राज्य आधुनिक जनतन्त्र राज्य के पूर्वरूप थे।

मंग, मशक, मानस तथा मदंग गणतंत्रात्मक स्वतंत्र राज्य—महाभारत के भीष्मपर्व में भी कई ऐसे भू-भागों का उल्लेख है जहाँ लोग सब प्रकार सुखी थे। उन्हें दण्डित करने के लिये राजा न था। उनके आचरण धर्म पर आश्रित थे। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के अधिकार की रक्षा करता था। यह भू-भाग चार थे जिनको महाभारतकार मनग, मशक, मानस और मदंग के नाम से वर्णन करता है।+ मनग भूप्रदेश में ब्राह्मण बसे हुए थे। मशक में क्षत्रिय तथा मानस और मदंग में क्रमशः वैश्य और शूद्र वर्ण की जनता थी।

---

†—स म्लेच्छाटविकान् वीरः सपर्वत निवासिनः।

श्लो० १६ अ० २५३, वन० प०।

मद्रान् रोहितकांश्चैव आग्नेयान्मालवानपि।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव॥

श्लो० २० अ० २५३ वन० प०।

शशकान् यवनांश्चैव विजिग्ये सूतनन्दनः॥

‡—नग्नजित्प्रमुखांश्चैव गणान् जित्वा महारथान्॥

श्लो० २१ अ० २५३, वन० प०।

+—तत्र पुण्या जनपदाश्च त्वारेपु लोक सम्मताः।
मंगाश्च मशकाश्चैव मानस मन्दगास्तथा।

इसमें संदेह नहीं है कि ये चार राज्य जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है और जिनमें आदर्श जनतत्र राज्य की कल्पना की गई है कल्पित राज्य हैं। परन्तु यह मानना ही होगा कि महाभारतकार के मस्तिष्क में कम से कम यह विचार अवश्य थे कि संसार में ऐसे राज्य भी हो सकते हैं जिनमें वहाँ की समस्त जनता स्वयम् शासनाधिकार प्राप्त कर एक दूसरे के सहयोग से शासन चला सकती है। उन्हें अपने राज्य में शासनकार्य संचालन के लिए राजा की कोई आवश्यकता न पड़ेगी। इतना ही नहीं वरन महाभारतकार की दृष्टि में इन राज्यों में राजतंत्रात्मक राज्यों की अपेक्षा प्रजा अधिक सुखी रह सकती है। इन राज्यों में आत्मनिर्भरता, सुख और शांति स्थायी रूप से जनता में फैलेगी और सारे राज्य में सुख और शान्ति की वर्षा होगी। महाभारत का ऐसे राज्यों के प्रति झुकाव आधुनिक जनतंत्र राज्यों के लिए एक देन है जो जनतंत्रात्मक राज्यों के विकास में बहुत बड़े अंश में हितकर सिद्ध हुई है।

अंधक, वृष्णि, यादव, भोज और कुकुर गणतंत्रात्मक राज्य—महाभारत के शान्तिपर्व में भी कई गणतंत्रात्मक राज्यों के नाम दिए हुए हैं, जिनमें अन्धक, वृष्णि, यादव, भोज और कुकुर + राज्य प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों राज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया था। जो अंधक, वृष्णि, यादव, भोज और कुकुर संघ के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसा पता चलता है कि अन्धक और वृष्णि राज्यों का भी एक अलग संघ था जिसके कृष्ण नेता थे। भीष्म ने महाभारत में उन्हें

मंगा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप।
मशकेषु तुराजन्याधार्मिकाः सर्वकामदाः॥
मानसाश्च महाराज वैश्य धर्मोपजीविनः।
शूद्रास्ततुमन्दगा × × × ×॥
न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न दाण्डिकः।
यो धर्मेणैव धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम्॥

श्लो० ३५ से ६६ अ० ११, भीष्म० प०।

+—यादवाः कुकुराः भोजाः सर्वेच अंधक वृष्णयः।
त्वयासक्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये॥

श्लो० ३० अ० ८१, शान्ति० प०।

अंधक-वृष्णिनाथ के नाम से संबोधित किया है।† यह राज्य प्रभास देश में थे जो कि गुजरात के अन्तर्गत था। इनकी राजधानी द्वारकापुरी थी जहाँ उनकी सभा बैठती थी जिसका नाम सुधर्मा था।

कुछ अन्य ग्रन्थों में महाभारत के गणतंत्रात्मक राज्य— महाभारत में जिन गणतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख है उनमें से कुछ ऐसे भी राज्य हैं जिनका और दूसरे ग्रन्थों में भी उल्लेख है। पाणिनि इनमें से कुछ राज्यों को जानते थे। इसलिए उन्होंने उनका नाम अपनी व्याकरण की पुस्तक में दिया है। उन्होंने छः गणतंत्रात्मक राज्यों के संघ के बारे में संकेत किया है। पाणिनि इसे त्रिगर्त, षष्ठ के नाम से संबोधित करते हैं। महाभारतकार भी त्रिगर्त राज्य को गणतंत्रात्मक राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। अंधक, वृष्णि, मद्र और ऐसे ही कुछ गणतंत्रात्मक राज्यों की ओर पाणिनि ने संकेत किया है। ये राज्य महाभारत में भी वर्णित हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गणतंत्रात्मक राज्यों की एक नामावली दी गई है जिसमें महाभारत के मद्रक, कुकुर, काम्बोज आदि गणतंत्रात्मक राज्य भी सम्मिलित हैं।‡

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी कुछ ऐसे गणतंत्रात्मक राज्यों के वर्णन दिये हैं जो कि महाभारत के अन्तर्गत वर्णित हैं। इनमें क्षुद्रक, शिवि और मालव मुख्य हैं। इस प्रकार देशी और विदेशी दोनों प्रमाण इस सम्बन्ध में प्राप्त हैं कि महाभारत-काल में भारत में गणतंत्रात्मक राज्य वर्तमान थे। उत्तरी-पश्चिमी भारत में इन राज्यों का प्राबल्य था। यह राज्य महाभारत-काल के बहुत पीछे तक बने रहे।

महाभारत-काल के गण तंत्रात्मक राज्यों की कार्य-शैली— गण तंत्रात्मक प्रजातंत्र राज्यों की रूप-रेखा, संगठन और कार्य-शैली

†—अन्धक, वृष्णिनाथ ॥

श्लो० ९८ अ० ४९, भीष्म० प० ।

‡—काम्बोज + + + शस्त्रोपजीविनः ॥

वार्ता ४ अ० १ अधि० ११, अर्थ शास्त्र ।

मल्लाक मद्र कुकुर × × राज शब्दोपजीविनः ।

वार्ता ६ अ० १ अधि० ११, अर्थशास्त्र ।

के जानने के लिए बहुत कम प्रामाणिक सामग्री महाभारत के अन्तर्गत प्राप्त हुई है। रामायण एवं महाभारत में से किसी में भी कहीं भी ऐसी प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं होती जो इस सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दे सके। इसलिए रामायण और महाभारत-काल के गणतंत्रात्मक राज्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह महाभारत के पन्नों में इधर-उधर बिखरी हुई उक्त सामग्री को एकत्र करे, उसका अनुसंधान कर उसे उचित व्यवस्था दे और इस प्रकार से एकत्र एवं व्यवस्थित की गई जो अल्प सामग्री है उसका अधिक से अधिक उपयोग करे। वह इस अल्प सामग्री के आधार पर गणतंत्रात्मक, राज्य के प्रासाद का निर्माण करे।

गणतंत्रात्मक राज्य की अध्यक्षता—गणतंत्रात्मक राज्य की अध्यक्षता के लिए उसी राज्य के किसी एक योग्य नागरिक को प्रजा नियुक्त करती थी। वह दीवानी एवं सैनिक दोनों प्रकार के कार्य करने में हर प्रकार से समर्थ होता था। महाभारतकार ने लोहित नामक नागरिक को कई गणतंत्रात्मक राज्यों के संघ-राज्य का अध्यक्ष वर्णन किया है। वह दो गणतंत्रात्मक राज्यों के संघ का अध्यक्ष बतलाया गया है। उसने इन दस राज्यों की स्वतंत्रता के लिए अर्जुन से युद्ध किया था। परन्तु अर्जुन की विजयी सेना ने उसे परास्त कर दिया था।

उरगा नामक नगर-राज्य का अध्यक्ष रोचमान था। उसने भी लोहित की भाँति अपने राज्य की स्वतंत्रता के निमित्त अर्जुन से युद्ध किया था। परन्तु अर्जुन की वीर सेना ने उसे पराजित कर दिया था। सिंहपुर नगर-राज्य चित्रायुध नामक व्यक्ति की अध्यक्षता में था। यह राज्य उसकी देख-रेख में भली-भाँति सुरक्षित था (सिंहपुरं रम्यं चित्रायुध सुरक्षितम्) इस कथन से यह प्रतीत होता है कि चित्रायुध सिंहपुर नगर- राज्य का अध्यक्ष था। उसे भी अपने नगर-राज्य की रक्षा के निमित्त अर्जुन के वीर योद्धाओं से घमासान युद्ध करना पड़ा था। परन्तु वह भी अर्जुन जैसे वीर योद्धाओं के समक्ष टिक न सका। इस प्रकार सिंहपुर नगर-राज्य को भी महाराज युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। महाभारतकार ने नग्नजित को भी कई गणतंत्रात्मक राज्यों के

संघ का अध्यक्ष बतलाया है। कर्ण की दिग्विजय के अवसर पर उसने कर्ण के मार्ग को रोका था और उसे कर्ण की अधीनता स्वीकार न थी। अतः उसका और कर्ण का युद्ध हुआ था। कर्ण ने उसे पराजित कर दिया। फलस्वरूप इन राज्यों को दुर्योधन को अपना सम्राट् मानना पड़ा था।

महाभारतकार ने उपरोक्त घटनाओं के वर्णन करने में इन गण-तंत्रात्मक राज्यों के अध्यक्ष के लिए किसी विशेष शब्द का प्रयोग नहीं किया है। परन्तु इस बात में लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि गणतंत्रात्मक राज्यों के अध्यक्ष-पद की नियुक्ति के लिए परम्परागत सिद्धान्त का अनुकरण नहीं होता था। महाभारत में ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है कि पिता के उपरान्त उसका पुत्र गणतंत्रात्मक राज्य का अध्यक्ष केवल इस नाते से बनाया गया हो कि वह राज्य के अध्यक्ष का पुत्र था। महाभारतकार ने इन राज्यों के अध्यक्षों के लिए किसी प्रकार की उपाधि का प्रयोग नहीं किया है। वे साधारण नाग-रिकों की भाँति वर्णित हैं। वे अपने विशेष शारीरिक बल, बुद्धि एवं शासन सम्बन्धी अनुभव के कारण इस पद पर आसीन हुए थे। और इन्हीं विशेष गुणों के कारण उन्हें इन राज्यों की जनता ने अध्यक्षपद पर नियुक्त किया होगा। इतना ही नहीं वरन् वह तभी तक इस पद पर रह सके होंगे जब तक उन राज्यों की जनता को इस बात का विश्वास रहा होगा कि उनकी अध्यक्षता में राज्य सुरक्षित रहेगा और हर प्रकार से उसकी उन्नति होगी।

महाभारत के आदि पर्व में यह बतलाया गया है कि उग्रसेन वृष्णियों का राजा था।* अन्य स्थलों पर इसी पुस्तक में यह भी दिया हुआ है कि आहुक अन्धक-वृष्णि का राजा था जिसने राजा शोभनगर द्वारा किए हुए आक्रमण से राजधानी की रक्षा के लिए विशेष आदेश दिए थे।‡ उग्रसेन यहाँ पर राजा के पद से सम्बोधित किया गया है।+

---

*—तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् ॥

श्लो० ८ अ० २२, आदि० प० ।

‡—प्रमादं परिरक्षभिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥

श्लो० १२ अ० १९, वन० प० ।

+—आहुकेन सुगप्ता च राज्ञा राजीवलोचन ॥

श्लो० २३ अ० १९ वन० प० ।

इसी पुस्तक में दूसरे स्थल पर यह दिया हुआ है कि बभ्रु और उग्रसेन दोनो एक ही राज्य की अध्यक्षता के हेतु प्रयत्नशील थे।‡ राज्य के विभिन्न राजनीतिक दलों में अपन-अपने नेता को अध्यक्ष पद दिलाने के लिए इनकी प्रतिद्वन्दिता इतना उग्र रूप धारण कर रही थी कि श्रीकृष्ण अत्यन्त चिन्ताग्रस्थ थे। वह इन विभिन्न दलों में एकता स्थापित करने के उपायों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए नारद की शरण में जाते हैं।+

उपरोक्त वर्णन के आधार पर इस निश्चय पर पहुँचना स्वाभाविक है कि अन्धक-वृष्णि राज्य में अध्यक्षपद पैत्रिक सिद्धान्त पर अवलम्बित न था। यह पद राज्य के नागरिकों की अनुमति पर निर्भर था। वह अपने-अपने दल के नेता को संगठित राजनीतिक दलों के आधार पर अध्यक्ष बनाने का प्रयत्न करते थे और अन्त में उस दल की विजय होती थी जिसका राज्य में बहुमत होता था।

उग्रसेन और आहुक दोनों के लिए महाभारतकार ने राजा शब्द का प्रयोग किया है परन्तु इन प्रसंगों में राजा शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में नहीं हुआ है जिस अर्थ में कि राजतंत्रात्मक राज्यों में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर राजा शब्द का प्रयोग राज्य के प्रधान अथवा अध्यक्ष के लिए हुआ है, और जिसकी नियुक्ति प्रजा द्वारा किसी न किसी प्रकार की निर्वाचन-विधि से होती थी। इसलिए यह शब्द गणतंत्रात्मक राज्यों के प्रधान अथवा अध्यक्ष के लिए प्रयुक्त किया गया है। इस बात का लिखित प्रमाण महाभारत में ही प्राप्त है कि वृष्णियों को शाप था, इसलिए उनके यहाँ राजा नहीं हो सकता था। इन दोनों बातों में विरोध है, जो तभी स्पष्ट किया जा सकता है जब कि यह मान लिया जाए कि वृष्णियों का राजा उनका अध्यक्ष था। अध्यक्ष को ही वह राजा कहते थे। इस प्रकार यहाँ पर राजा शब्द गण-तंत्रात्मक राज्य के अध्यक्ष का पर्यायवाची है। इस सम्बन्ध में हमें महाभारत के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी सहायता मिलती है। शाक्यों के राज्य में भी इस प्रथा का प्रचलन था। वहाँ भी गणराज्य

---

‡—**बभ्रुग्रसेन यो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथं च ॥**

श्लो० १७ अ० ८१, शा० प० ।

+—**अध्याय ८१, शा० प० ॥**

के अध्यक्ष को राजा और उपाध्यक्ष को उप राजा कहते थे। लिच्छवियों में तो शासनाधिकार धारण करनेवाले प्रत्येक नागरिक को राजा के नाम से सम्बोधित करते थे। इसलिए यह कहना उचित ही होगा कि इन प्रसंगों में भी महाभारतकार ने गणतंत्रात्मक राज्य के अध्यक्ष को राजा की उपाधि दी है।

सुभद्राहरण से सम्बन्धित घटना भी इस बात की सत्यता को सिद्ध करती है। यह घटना इस प्रकार है—सुधर्मा सभा के सामने सुभद्राहरण की समस्या ऐसे समय में प्रस्तुत की गई थी जब कि उनका राजा उग्रसेन रैवतक पर्वत पर मेला देखने में व्यस्त था। नागरिकों ने सभा में एकत्र हो इस समस्या पर वाद-विवाद किया, उस पर अपना निर्णय दिया और अन्तिम निर्णय के अनुसार उसे कार्य में परिणत किया। राजा उग्रसेन को इन समस्त बातों की लेशमात्र भी सूचना नहीं दी गई। उसे इस बात का तनिक भी पता नहीं था कि उसके राज्य में क्या हो रहा था। इस विषय में राजा की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं समझी गई। राजतंत्रात्मक राज्यों में कोई भी महत्वपूर्ण योजना अथवा कार्य राजा की अनुपस्थिति में तब तक न तो विचारार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है, न उससे किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है और न उस निर्णय को कार्य रूप में परिणत ही किया जा सकता है। जब तक कि इस सम्बन्ध में राजा की पूर्ण अनुमति प्राप्त न कर ली गई हो। परन्तु इस घटनास्थल पर राजा को किंचितमात्र भी अर्जुन के अनुचित व्यवहार का पता ही न था और फिर बिना राजा की आज्ञा के सभा कैसे बुलाई गई? किसके आदेश से सभा में प्रस्ताव रखा गया? और किस प्रकार सभा ने उस पर निर्णय दिया और उस निर्णय को कार्य रूप में परिणत किया गया? उस समय राजा के कर्मचारियों का केवल यही कर्तव्य था कि वे अर्जुन को बन्दी बनाकर कारागार में डाल देते। राजा के लौट आने पर इस विषय पर निर्णय किया जाता। परन्तु ऐसा न हुआ। वास्तव में बात यह थी कि शासनाधिकार राज्य की सुधर्मा सभा को प्राप्त था जिसमें राज्य के नागरिक एकत्र हो कर राज्य की समस्याओं पर विचार करते थे, अपना निर्णय देते थे और उस निर्णय के अनुसार कार्य किया जाता था। परन्तु जिस गणराज्य में राजा राज्य का अध्यक्ष होता था उसकी राजसभा को पूर्ण अधिकार प्राप्त था कि वह अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष की सहायता से

राज्य के महत्वपूर्ण कार्यों पर विचार करे, एक निश्चित निर्णय पर आकर उसे कार्य रूप में परिणत करे। यही बात यहाँ पर भी हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय उस सभा में कृष्ण उपाध्यक्ष थे, क्योंकि उनकी मौनता पर बलभद्र ने सभा के समक्ष यह कहा कि कृष्ण मौन क्यों हैं ? उनकी सम्मति ले लेनी चाहिए जो बड़े मूल्य की होगी। हमें दूसरे साधनों से इस बात के प्रमाण प्राप्त हैं कि बौद्धकाल में उपाध्यक्ष को उपराजा कहते थे। यह संभव है कि सुधर्मा सभा की बैठक राज्य के उपाध्यक्ष की देख-रेख में हुई होगी जो हर प्रकार के राज्य की बड़ी से बड़ी समस्याओं पर निर्णय देने में पूर्ण अधिकारिणी थी।

सभाः—महाभारतकार ने कहीं पर भी ऐसा वर्णन नहीं किया है जिसमें राजतंत्रात्मक अथवा गणतंत्रात्मक प्रजातंत्र राज्यों की सभाओं के संगठन अथवा उनकी कार्य-प्रणाली का क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त हो। परन्तु यह बात अवश्य है कि महाभारत में यत्र-तत्र ऐसे बिखरे हुए कुछ उदाहरण अवश्य प्राप्त हैं जो इस विषय पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

संस्कृत में गण धातु का अर्थ है गिनना जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गणराज्य वह राज्य होंगे जिनमें संख्या पर अधिक बल दिया जाता होगा। अर्थात् जिन राज्यों में अधिक-से-अधिक नागरिक शासन-कार्य में भाग लेते होंगे। इसलिए महाभारत के गण-राज्य वे राज्य होंगे जिनमें शासनाधिकार अधिक से अधिक नागरिकों को प्राप्त था। सुविधा के लिये प्रत्येक ऐसे राज्य में एक सभा होती थी जिसमें गणराज्य की समस्त प्रजा उपस्थित समझी जाती थी। महाभारत के आदि पर्व में इसी सिद्धान्त की पुष्टि में अन्धक, वृष्णि आदि गणतंत्रात्मक राज्यों की सभा की ओर संकेत किया गया है। महा-भारतकार ने इस सभा को सुधर्मा के नाम से संबोधित किया है। अन्धक, वृष्णि, यादव और कुकुर राज्यों के समस्त शासन-विषयों पर यही सभा अपना निर्णय देती थी। सुभद्राहरण के समय इस घटना का समाचार सभापाल के द्वारा सभा तक पहुँचाया गया था। उसने बिगुल बजाया। बिगुल की ध्वनि सुनते ही अन्धक, वृष्णि, भोज और कुकुर-वंशीय जनता ने सभा में दौड़कर इस आशय से प्रवेश किया * कि वह

---

*—ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्।

श्लो० ११ अ० २२२, आदि० प०।

इस विषय पर विचार करे कि भविष्य में इस सम्बन्ध में उसे क्या करना चाहिए ? सभा में पहुँचकर वह समस्त जन आसनों पर बैठ गये । प्रस्तुत विषय पर उन्होंने वाद-विवाद किया और सर्व सम्मति से एक निर्णय पर पहुँचे जो आगे चलकर कार्य रूप में परिणत किया गया ।

उपरोक्त विवरण से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि गण-तंत्रात्मक राज्यों में सभा सर्वोच्च राजनीतिक संस्था थी और यह संस्था प्रत्येक प्रकार से प्रजातंत्रात्मक थी । इसका दायित्व जनता पर निर्भर था ।

इसी प्रकार यह बात भी संभव है कि जिन गणतंत्रात्मक राज्यों को अर्जुन, नकुल और कर्ण ने पराजित किया था वह भी अपने-अपने शासन-कार्यों के संचालन के लिये इसी प्रकार की सभायें रखते होंगे। महाभारत के भीष्म पर्व में भीष्म ने मशक, मनग, मानस और मदंग गणतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख किया है । इस सम्बन्ध में महाभारतकार ने इस प्रकार लिखा है कि इन राज्यों की प्रजा अपने कर्तव्यों का निर्णय स्वयम् करती थी और वह अपने राज्य के समस्त विषयों पर एकत्र होकर आपस में निर्णय कर लिया करती थी । इस प्रकार के निर्णय पर आने के लिये उन्हें किसी न किसी स्थान पर एकत्र अवश्य होना पड़ता होगा जहाँ पर सार्वजनिक समस्याओं पर अपने-अपने विचार रखे जाते होंगे और उसके अनुसार किसी एक निर्दिष्ट निर्णय पर पहुँचते होंगे। इस बात से यह सिद्ध होता है कि इन राज्यों की जनता का अपने-अपने राज्यों में ऐसे अवसरों पर एकत्र होने के लिये कोई न कोई निश्चित स्थान अवश्य होगा, जहाँ पर वह एकत्र हो शासन-सम्बन्धी अथवा ऐसे ही अन्य विषयों पर अपने-अपन विचार प्रकट करते होंगे। इन्हीं स्थानों को सभा कहा जा सकता है और उनके एकत्र समूह को सभा की बैठक कहेंगे । इन सभाओं में राजा के लिए कोई स्थान न था क्योंकि महाभारतकार ने इस बात को स्पष्ट रूप से लिख दिया है कि वहाँ न राजा था, न दण्ड और न दण्ड देनेवाला । क्योंकि लोग एक दूसरे की रक्षा करने में धर्म की भावना से प्रेरित होते थे ।* इसलिए

---

*—न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न दाण्डिकः ।
स्वधर्मेणैव धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम् ॥
श्लो० ३६ अ० ११, भीष्म प० ।

यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि यहाँ भी सभा ही सर्वोच्च संस्था थी जिसका निर्णय प्रत्येक नागरिक को मान्य था।

महाभारत में जिन गणतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख है, वे छोटे-छोटे राज्य थे। इनमें से कुछ तो केवल नगर-राज्य ही थे। इसलिए इन राज्यों में अधिक से अधिक नागरिक सभा के रूप में संगठित हो राज्य पर सुगमतापूर्वक शासन कर सकते थे। इन सभाओं का जनता पर दायित्व होता था। यह बात भी इसी सिद्धान्त का पृष्ठपोषण कर रही है कि इन राज्यों में राज्य के सर्वोच्च अधिकारों को धारण करनेवाली सभायें थीं जो जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों पर संगठित की जाती थीं।

सभाभवन अवश्य बड़ा विशाल भवन होगा जिसमें राज्य की जनता अधिक से अधिक संख्या में एकत्र हो सकती होगी। इस प्रकार के सभाभवन में सदस्यों के बैठने के लिए आसनों का भी प्रबन्ध था। महाभारतकार ने राजतंत्रात्मक राज्यों की सभाओं का वर्णन करते हुए यह भी लिखा है कि इन सभाओं में विभिन्न सदस्यों की स्थिति एवम् पदों के अनुसार भिन्न प्रकार के आसन भी थे। वे सोने-चाँदी के आसनों से लेकर चटाई तथा भूमि के आसनों तक थे। सभासद अपनी-अपनी स्थिति एवम् पदानुसार सभा में जाकर बैठा करते थे। परन्तु गणतंत्रात्मक राज्यों की सभाओं के वर्णन से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इन सभाओं के आसनों में विशेष प्रकार का अन्तर न था। इन सभाओं में यह आशा की जाती थी कि समस्त जाति समानता के सिद्धान्त पर उपस्थित हो जाती होगी। इस नियमानुसार इन सभाओं में सदस्यों के आसनों में अन्तर नहीं किया जा सकता था। प्रत्येक नागरिक को राज्य में समान अधिकार प्राप्त था। इसलिए उन्हें अपने राज्य की सभा में समान रूप से बैठने का अधिकार मिलता था। महाभारत के आदिपर्व में सुधर्मा सभा का वर्णन दिया हुआ है। इस प्रसंग में महाभारतकार ने ऐसा लिखा है कि इस सभा में सैकड़ों सिंहासन थे † जिन पर सभासद बैठा करते थे। यहाँ पर यह भी दिया हुआ है कि सभापाल द्वारा बजाये गये बिगुल की ध्वनि होते ही

---

†—**सिंहासनानि शतशो।**

श्लो० १५ अ० २२२, आदि प०।

राज्य के नागरिक सभा में प्रवेश करते हैं और आसनों पर बैठ जाते हैं। इन आसनों में किसी प्रकार का अन्तर था इस बात की ओर महाभारतकार ने लेशमात्र भी संकेत कहीं नहीं किया है।

इस वर्णन से भी पाठक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि गण-तंत्रात्मक राज्य की सभा प्रजातंत्र सिद्धान्त के ऊपर निहित थी और इसका दायित्व वहाँ की जनता पर था। प्रत्येक नागरिक को इस सभा में बैठने का समान अधिकार था और सभा के वाद-विवाद में भाग लेने की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

ऊपर के वर्णन से निम्नलिखित सिद्धान्त निर्धारित किये जा सकते हैं—गणतंत्रात्मक राज्यों में एक सभा होती थी जिसमें सभा-सदों के बैठने के लिये सैकड़ों आसन होते थे। ये आसन एक से होते थे। समस्त जाति इस सभा की बैठक में उपस्थित समझी जाती थी, वह राज्य की महत्वपूर्ण समस्याओं पर स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचार रखती थी जिसके अनुसार निर्णय होता था और उस निर्णय के अनु-सार कार्य किया जाता था। यह सभा राज्य की सर्वोच्च सर्वाधिकार प्राप्त संस्था थी, प्रत्येक नागरिक को सभा में बैठने, अपने विचार प्रकट करने और मत देने का समान अधिकार था। परन्तु यह अधि-कार सब नागरिक नहीं भोगते थे। केवल वह नागरिक जो कि अपने को शासनकार्य में भाग लेने के योग्य समझते थे और उनमें रुचि रखते थे सभा की बैठक में सम्मिलित होते थे। दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि राज्य के कुशल और क्रियाशील नागरिक इस सभा में सम्मिलित होकर सभा के कार्यों में हाथ बटाते थे।

सभा में विचार प्रकाशन की स्वतंत्रता—सभा में प्रस्तुत किए हुए प्रत्यक विषय पर सभासदों को अपने विचार प्रदर्शन की पूर्ण स्वतंत्रता का अवसर दिया जाता था। विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने की प्रथा सी थी। सभा में प्रत्येक योजना अथवा विषय प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। पहले इस पर वाद-विवाद होता था और उसके उपरान्त उसी प्रस्ताव पर सभासदों को मत-प्रदर्शन का अवसर दिया जाता था।

सुभद्राहरण के अवसर पर अर्जुन का अनुचित कार्य विषयक प्रस्ताव सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। इस प्रस्ताव पर सभासदों ने अपने-अपने विचार विवेचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किए। वाद-

विवाद होने के उपरान्त श्रीकृष्ण के मौन रहने पर सभासदों ने इस विषय को विशेष महत्व दिया। बलराम ने कृष्ण से इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए अनुरोध किया। बलदेव ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए यह कहा, कि वह अर्जुन के इस निन्दित कार्य से अत्यन्त अपमानित हुए हैं। वह समस्त कौरव जाति को इसका फल चखा देंगे और वह कौरव वंश का जड़-मूल से नाश कर देंगे। परन्तु बलराम के कहने और सभासदों के अनुरोध करने पर कृष्ण ने अपने समयोचित विचार प्रकट किए। उन्होंने अर्जुन के कार्य को न्यायसंगत बतलाते हुए उसकी सराहना की। उन्होंने अर्जुन के सुभद्राहरण सम्बन्धी आचरण को अपनी युक्तियों और तर्कों द्वारा इस प्रकार न्यायसंगत सिद्ध किया कि समस्त सभासद उनके विचारों से सहमत हो गए और उन्होंने एक स्वर से कृष्ण के विचारों का समर्थन किया।‡ उन्होंने कहा कि अर्जुन को सम्मान-पूर्वक राजधानी में लाना चाहिए और इस कार्य के लिए पुरोहित को भेजना चाहिए। इस निर्णय के अनुसार पुरोहित अर्जुन को सम्मान-पूर्वक वापस लाने के लिए भेजा गया। अर्जुन लगभग एक वर्ष वहाँ रहे थे।

यह घटना इस बात की पुष्टि करती है कि महाभारत-काल में गणतंत्रात्मक राज्य की सभा में सभासदों को अपने विचार प्रदर्शन की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

अमात्य:—गणतंत्रात्मक राज्यों की दूसरी विशेषता यह थी कि इनमें शासन सम्बन्धी विषयों के अनुरूप विभाग प्रणाली के आधार पर कार्य संचालन होता था। प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष को अमात्य कहते थे। रामायण और महाभारत दोनों में शासन-विभाग और उनके अध्यक्षों का वर्णन उपलब्ध है।

यह समाचार पाकर कि अर्जुन हस्तिनापुर पहुँच गए हैं, श्रीकृष्ण ने भी बलराम तथा अन्य वीरों के साथ उसी नगर की ओर प्रस्थान किया। इनमें अन्धक, वृष्णि और भोजवंशीय अमात्य, वीर एवं योद्धा-गण बहुत धन दहेज के रूप में लेकर युधिष्ठिर की सेवा में समर्पित

---

‡—**अन्वपद्यन्त ते सर्वे भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा ॥**

श्लो० ३३ अ० २२२, आदि० प०।

करने के हेतु गए थे। जिन अमात्यों का यहाँ उल्लेख है उनमें अक्रूर और अनाधृष्ट के नाम दिए हुए हैं। पहले महोदय दान-विभाग के अमात्य (दानपतिः) और दूसरे महोदय वृष्णियों के सेनापति थे।* प्रसिद्ध उद्धव भी उनके साथ थे। उन्हें कई सम्मानित शब्दों से सम्बोधित किया गया है, जैसे बृहस्पति के शिष्य, अत्यन्त चतुर एवं प्रभावशाली।† ऐसा विदित होता है कि उद्धव भी किसी विभाग के अध्यक्ष थे। सम्भवतः वह विधि (Law) विभाग के अध्यक्ष होंगे। इन अमात्यों का दायित्व सम्भवतः सभा पर ही था और इसी सिद्धान्त तथा सभा के बहुमत की स्वीकृति के अनुसार वे अपने इन पदों पर नियुक्त होते होंगे और उसी के अनुसार पदों से हटते रहते होंगे। यह पीछे सिद्ध किया जा चुका है कि गणतंत्रात्मक राज्यों में अध्यक्ष प्रजा अथवा उसके प्रधिनिधियों के द्वारा चुना जाता था इसलिए ऐसा सोचना कि विभिन्न विभागों के अध्यक्ष भी सभा के सभासदों के द्वारा नियुक्त किए जाते होंगे अनुचित न होगा।

महाभारतकाल के गणतंत्रात्मक राज्यों के भेद—महाभारत में जिन गणतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख है उनकी संख्या बहुत बड़ी है। यह राज्य आकार एवं श्रेणी के अनुसार विभिन्न प्रकार के थे। उनके विधान भी भिन्न ही थे। परन्तु उन्हें सुविधापूर्वक दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है उनमें से कुछ उपजातीय राज्य (tribal state) हैं शेष औपक्षेत्रीय (territorial) राज्य हैं। महाभारत में जो वर्णन दिया है उसके आधार पर सर्वप्रथम उपजातीय गणतंत्रात्मक राज्यों की विवेचना करनी उचित होगी।

उपजातीय गणतंत्रात्मक राज्यः—भारतवर्ष ऐसा देश है कि इस पर बराबर बाहरी आक्रमण होते रहे हैं। भारतवर्ष का इतिहास इन आक्रमणों का एक संग्रह है यदि यह कहा जाय तो अनुचित न

---

*—तत्र दानपतिर्धीमानाजगाम महा यशाः।
अक्रूरो वृष्णिवीराणां सेनापतिररिन्दमः॥
श्लो० २६ अ० २२३, आदि० प०।

†—अनाधृष्टिर्महातेजा उद्धवश्च महायशाः।
साक्षात्बृहस्पतेः शिष्यो महाबुद्धिर्महामना॥
श्लो० ३० अ० २२३, आदि० प०।

होगा। अनेकों जाति, धर्म और वंश के लोग भारत के उर्वर भूक्षेत्रों में आए और वहीं बस गए। कुछ समय के उपरान्त इन्हीं की सन्तति इस देश की जनता में मिल जुल कर एक हो गई। भारत का जल-वायु एवं भूमि लोगों को साम्प्रदायिक जीवन ढालने में बहुत सहायक सिद्ध हुई है। इन्हीं अथवा इसी प्रकार के प्रभाव के कारण भारतवर्ष में विभिन्न साम्प्रदायिक संस्थाओं के निर्माण एवं उनके सफलतापूर्वक संचालन में निरन्तर प्रगति देखने में आती रही है जिसका फल यह हुआ है कि भारत में प्रत्येक उपजाति वा गोत्र ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया है कि उनकी परिस्थिति एवं आवश्यकताओं के अनुरूप उनकी राजनीतिक संस्थाएं भी बनें। इसीलिए प्रत्येक उपजाति वा गोत्र ने इस प्रकार के शासनविधान के निर्माण एवं विकास के लिए भरसक प्रयत्न किए हैं जिसमें कि राजसत्ता समस्त उपजाति वा गोत्र में निहित होती थी। यद्यपि इस प्रकार के शासन-विधान के विकास में मंथर गति का अनुसरण करना होता है परंतु यह प्रणाली विधान के निर्माण एवं विकास में स्वाभाविकता का पूर्ण समावेश कर देती है। महाभारत में इस प्रकार के गणतंत्रात्मक राज्यों की एक लंबी सूची दी गई है। बाह्लीक, आभीर, वाटधान, ऋषिक, दार्व, लोहस, मध्यकेय, म्लेच्छ और ऐसे ही अन्य गण-तंत्रात्मक राज्यों का किसी देश विशेष से सम्बन्ध नहीं था। इन राज्यों का इन्हीं नाम की जातियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इन्हें औपक्षेत्रीय राज्य (territorial republics) की कोटि में नहीं गिना जा सकता। इनकी गणना तो उपजातीय गणतंत्रात्मक राज्यों के अन्तर्गत होगी। इन राज्यों का नामकरण उन्हीं मूल जातियों के आधार पर हुआ था जिनके कि वह राज्य थे। इसीलिए वह समस्त गणतंत्रात्मक राज्य प्रथम कोटि में आएँगे और उपजातीय गण-तंत्रात्मक राज्य की श्रेणी में गिने जाएँगे।

इन जातीय गणतंत्रात्मक प्रजातंत्र राज्यों में शासनभार समस्त जाति पर निर्भर था। प्रत्येक महत्वपूर्ण समस्या पर समस्त जाति के द्वारा निर्णय किया जाता था और उस निर्णय के अनुसार कार्य किया जाता था। इन राज्यों की सभा में समस्त जाति से ऐसे अवसरों पर उप-स्थित होने की आशा की जाती थी। जाति के प्रत्येक सदस्य को प्रस्तुत विषय पर अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी जाती थी। राज्य के मुख्य अधिकारियों की नियुक्ति सभा में उपस्थित जाति के

द्वारा होती थी। यही सभा न्याय करती थी और जाति के महत्वपूर्ण विषयों के हेतु कार्य-निर्णय करती थी। यह राज्य बहुत छोटे थे अतः इनमें प्रजातंत्र राज्य के मुख्य सिद्धान्तों की आत्मा की रक्षा, उनके संगठन और कार्य-संचालन दोनों में भली भाँति हो सकती थी।

औपक्षेत्रीय गणतंत्रात्मक राज्य (territorial republics): महाभारत-काल में उपजातीय गणतंत्रात्मक राज्यों के साथ ही औपक्षेत्रीय गणतंत्रात्मक राज्यों (territorial republics) ने भी पर्याप्त संख्या में जन्म लिया था और समुचित विकास को प्राप्त हुए थे। यह राज्य भू-भाग के नाम से संगठित हुए थे। वह किसी विशेष जाति वा गोत्र से सम्बन्धित न थे। और न उन पर इनका उत्तरदायित्व ही था। इन राज्यों के लोग उस भू-भाग को जिसमें कि वह स्थित थे जाति वा गोत्र की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे। उनका राजनीतिक जीवन देशभक्ति की भावना से अधिक प्रेरित होता था। इन राज्यों के नाम उन भू-भागों के नाम पर थे जहाँ कि यह राज्य स्थित थे। सर्वप्रथम इनमें से उन राज्यों की ओर ध्यान आकर्षित होता है जो कि नगर गणतंत्रात्मक स्वतंत्र राज्य की कोटि में गिने जाते थे। यह नगर-राज्य अभिसारी, उर्गा, और सिंहपुर थे। यह नगर-राज्य उन्हीं नगरों के नाम से प्रसिद्ध हैं जो कि उन नगरों के नाम थे जहाँ यह राज्य स्थित थे। इन नगर-राज्यों में जातीय संगठन के लक्षण किसी भी स्थान पर नहीं प्राप्त होते हैं। इसलिए यह नगर-राज्य जातीय राज्यों के अन्तर्गत कदापि न गिने जाएँगे। इन राज्यों के अध्यक्ष अथवा प्रधान किसी भी जातीय गोत्र विशेष के नेता न थे। उन पर राज्य की समस्त जनता का जो कि विभिन्न जाति, धर्म तथा वंश की थी, विश्वास था। इसलिए वह राज्य के राष्ट्रीय नेता थे। महाभारत में इस प्रकार के गणतंत्र राज्यों की संख्या भी पर्याप्त है। महाभारतकार ने दशारण गणतंत्रात्मक राज्य की ओर संकेत किया है। दशारण भू-भाग आधुनिक गुजरात का एक भाग था। इसलिए दशारण गणतंत्रात्मक राज्य स्वयं इस बात की ओर संकेत करता है कि यह राज्य एक विशेष भू-भाग से सम्बन्ध रखने के कारण औपक्षेत्रीय (territorial republics) गणतंत्रात्मक राज्य की श्रेणी में गिना जाएगा।

रोहितक गणतंत्रात्मक राज्य का सम्बन्ध उसी नाम के भू-भाग से था। रोहतक राज्य संम्भवतः आधुनिक रोहतक एवं इसके

आस-पास की भूमि से सम्बन्ध रखता होगा। अटवि, मत्स्य और ऐसे ही अन्य गणतंत्रात्मक राज्य जिनका महाभारत में वर्णन है इसी कोटि में आएँगे। यह पीछे लिखा जा चुका है कि कश्मीर भी सम्भवतः गणतंत्रात्मक राज्य के अधीन था। महाभारतकार ने कश्मीर राज्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि अर्जुन की वीर सेना ने कश्मीर के क्षत्रियों को युद्ध में परास्त किया था। इस प्रकार के वर्णन से महाभारतकार का यह आशय कदापि न था कि कश्मीर में एक विशेष क्षत्रिय जाति थी जो गणतंत्रात्मक राज्य के विधान को चला रही थी। यहाँ पर कवि का केवल यही अर्थ है कि कश्मीर राज्य की जनता में जो वीर क्षत्रिय थे वह अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अर्जुन से युद्ध करने गए थे। यह कभी सम्भव नहीं कि किसी देश की वह जनता जो व्यापार, कृषि तथा विद्याप्रचार आदि कार्यों में जीवन पर्यन्त संलग्न रहती है युद्ध क्षेत्र में वीरता से युद्ध करने जाएगी। फिर भला यह कैसे सम्भव था कि क्षत्रिय वीर योद्धाओं के होते हुए अन्य वर्ण के लोग अर्जुन से युद्ध करने जाते। इसलिए यह कहना कदापि उचित न होगा कि कश्मीर राज्य जातीय गणतंत्रात्मक राज्य था। इसे तो औपक्षेत्रीय (territorial) गण-तंत्रात्मक राज्य के अन्तर्गत ही समझा जा सकेगा।

इस प्रकार महाभारतकाल में गणतंत्रात्मक राज्यों ने विकास की दृष्टि से पर्याप्त मात्रा में उन्नति की थी। जातीय गणतंत्रात्मक राज्यों का औपक्षेत्रीय (territorial) गणतंत्रात्मक राज्यों में परिणत हो जाना गणतंत्रात्मक राज्यों के इतिहास में बहुत बड़ी महत्व की घटना समझी जायगी। वह जातीय संकीर्ण क्षेत्र से मुक्त हो राष्ट्रीय चोला धारण कर विशालक्षेत्र में प्रवेश करते हैं जिसमें उन्हें बृहत्कर्तव्य और विशाल उत्तरदायित्व का लक्ष्य सामने रखना पड़ता था। उन्हें अब किसी जाति विशेष के कर्तव्यों वा अधिकारों तक सीमित न रहना पड़ता था। उन्हें समस्त जनता के उन नागरीय (सिविल) एवं राजनीतिक अधिकारों की रक्षा से सम्बन्ध था जिसका संगठन राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर हुआ था। उनकी सभा में जाति, धर्म वा वंश का विचार न करके समस्त प्रजा के लोग एकत्र होते थे। इस प्रकार यह सभाएँ भी राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर संगठित होती थीं। उसी सिद्धान्त पर अपना कार्य संचालन करती थीं। इस प्रकार इन सभाओं

का उत्तरदायित्व राज्य की समस्त जनता पर निर्भर था। ऐसा कदापि न था कि उनका उत्तरदायित्व केवल एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों वा जाति अथवा प्रजा के किसी विशेष भाग पर होता। इसलिए यह सभाएँ किसी जाति वा वर्ग विशेष के हितकार्यों के लिए ही नहीं वरन् वह समस्त जनता के हितसाधन एवं सार्वजनिक कल्याण के लिए संगठित हुई थीं। इसी राज्य में शासनाधिकारी गण भी अपने-अपने पद पर उसी नियम के अनुसार आसीन होते थे।

इस प्रकार महाभारत-काल के औपक्षेत्रीय गणतंत्रात्मक राज्य (territorial republics) प्रजातन्त्र सरकार की बड़ी महत्वपूर्ण संस्थाएँ थीं। जिन्होंने प्रजातन्त्रात्मक राज्य के मुख्य सिद्धान्तों की विशेष रूप से पुष्टि की है।

गणतंत्रात्मक राज्यों के संघ:—महाभारत-काल के गणतंत्रात्मक राज्यों का एक और विशेष लक्षण इनका संघ रूप में संगठित होना था। महाभारत-काल के गणतंत्रात्मक राज्यों की अधिक संख्या क्षेत्रफल एवं जनगणना की दृष्टि से बहुत छोटी थी। इन राज्यों की सबसे गहन समस्या जो इनकी जनता ने उस समय अनुभव की होगी (विशेष कर देश के ऐसे भाग में जहाँ निरन्तर बाह्य आक्रमण होते रहते थे और अधिकार प्राप्ति के लिए जहाँ प्रतिक्षण आन्तरिक उत्पात होते रहते थे) इनकी रक्षा का प्रश्न था। संघ-शक्ति के इस सिद्धान्त से वह अवश्य परिचित होंगे। इसलिए ऐसी परिस्थिति में उनके सामने केवल एक मार्ग अवशेष था और वह यह था कि पास-पड़ोस के छोटे-छोटे राज्य एक सूत्र में बँधकर अपनी रक्षा की जटिल समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करें। इसी में उन्होंने अपना कल्याण देखा।

इन राज्यों की इस निर्बलता की भीष्म ने महाभारत के शान्तिपर्व में विशेष विवेचना की है। इस प्रकरण में भीष्म इन राज्यों को सचेत करते हुए ओजपूर्ण शब्दों द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि इन राज्यों को एक सूत्र में बँधकर अपनी रक्षा करनी चाहिए। भीष्म महोदय ने राज्यों के इस प्रकार के संगठन को संघ के नाम से सम्बोधित किया है। भीष्म ने इन राज्यों को एक दूसरे से अलग रखने के सिद्धान्त का घोर विरोध किया है।*

***—भेदे गणा विनश्येयुर्भिन्नास्तु सुजयाः परैः।**

इसलिए पास-पड़ोस के कई छोटे गणतंत्रात्मक राज्य एकसूत्र में बँधकर एक संगठन का निर्माण करते थे। महाभारतकार ने इस संगठन को संघ के नाम से पुकारा है। महाभारत में ऐसे कई संघों का विवरण है। अन्धक-वृष्णि संघ इसी प्रकार का था। प्रत्येक राज्य जो संघ के अन्तर्गत आ जाता था इस संघ की एक इकाई हो जाती थी। प्रत्येक ऐसे राज्य को आन्तरिक शासन में स्वतंत्रता थी और इन राज्यों की राजसत्ता अपने राज्य की प्रजा में निहित मानी जाती थी। संघ में सम्मिलित हुए समस्त राज्यों से सम्बन्धित समस्त विषयों का शासन-प्रबन्ध अधिक सुचारुरूप से होने के लिए संघ को हस्तांतरित कर दिया जाता था। इन विषयों में से सब से महत्वपूर्ण विषय उनकी रक्षा का प्रश्न था।

महाभारतकार ने इस प्रकार के पाँच राज्यों की संगठित संस्था का वर्णन किया है। महाभारत के सभापर्व में अर्जुन की दिग्विजय का उल्लेख है। इसी सम्बन्ध में महाभारतकार ने लिखा है कि अर्जुन ने उत्तर उलूक देश में ही स्थित पाँच गणराज्यों को जीत लिया।† इस वर्णन के आधार पर यह सिद्ध होता है कि यह पाँच गण पाँच गणतंत्रात्मक राज्यों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। यह पाँचों गण-तंत्रात्मक राज्य भी सम्भवतः एक संघ के अन्तर्गत संगठित हुए थे।

आगे बढ़कर कवि ने सात गणतंत्रात्मक राज्यों के संगठित होने के सम्बन्ध में संकेत किया है। यह पाँच राज्य हिमालय पर्वत के समीपवर्ती थे। "सप्तगण"‡ पद इस बात का सूचक है कि यह पाँच गणतंत्रात्मक राज्य एक संघ के आधीन एकत्र हुए होंगे। इस प्रकार सप्तगण सात गणतंत्रात्मक स्वतंत्र राज्यों के संघ का नाम था।

तस्मात्संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥

श्लो० १४ अ० १०७, शा० प० ।

बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥

श्लो० १५ अ० १०७, शा० पर्व ।

†—किरीटी जितवान्राजन्देशान्पंचगणास्ततः ॥

श्लो० १२ अ० २७, सभापर्व ।

‡—गणानुत्सव संकेतान् जयत्सर पाण्डवः ॥

श्लो० १६ अ० २७, सभापर्व ।

इसके उपरान्त महाभारत के उसी अध्याय में दस मण्डल राज्यों के संगठन की ओर संकेत है।† इन समस्त राज्यों के संगठित राज्य का एक अध्यक्ष तथा प्रधान था। जिसका नाम लोहित दिया हुआ है। यदि यह दस राज्य एक सूत्र में न बँधे होते तो इन समस्त राज्यों के हेतु लोहित अपना जीवन संकट में न डालता। वह जिस राज्य का वासी था उसी राज्य के हेतु अर्जुन से युद्ध करता, परन्तु यह बात नहीं हुई। सत्य तो यह है कि यह दसो राज्य एक ही मण्डल अथवा संघ के अन्तर्गत एक ही सूत्र में बाँधे गए थे अतः उन सब राज्यों का एक सम्मिलित अध्यक्ष या प्रधान था। उस समय लोहित नाम का व्यक्ति इस पद पर आसीन था। अतः उसके लिए इन दसों राज्यों की रक्षा का प्रश्न समान रूप से था।

अन्धक-वृष्णि संघ का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। आहुक इस संघ का राजा अर्थात् अध्यक्ष था। उग्रसेन वृष्णि राज्य का अध्यक्ष था। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि संघ के अन्तर्गत सम्मिलित हुए राज्यों के अलग-अलग अपने अध्यक्ष वा प्रधान होते थे और साथ ही संघ का एक अलग प्रधान वा अध्यक्ष होता था जो सार्वजनिक समस्याओं के निर्णय हेतु समस्त राज्यों का समान रूप से अध्यक्ष वा प्रधान होता था। आहुक महोदय इसी कोटि में आते हैं।

इसके अतिरिक्त एक और बड़ा संघ था जिसे महाभारतकार ने अंधक–वृष्णि–भोज–यादव और कुकर संघ के नाम से सम्बोधित किया है। इस संघ में उपरोक्त पाँच गणतंत्रात्मक राज्य सम्मिलित थे। द्वारकापुरी इस संघ-राज्य की राजधानी थी। महाभारत के शान्ति पर्व के ८१ वें अध्याय में इस संघ की ओर विशेष संकेत है और वहीं पर इस बात का विवरण है कि इस संघ में कई राजनीतिक दल थे जिनमें उग्र संघर्ष था। इस संघर्ष से व्यथित हो श्रीकृष्ण ने नारद के पास जाकर उनसे इस संघर्ष पर विजय प्राप्त करने के उपाय जानने के सम्बन्ध में प्रार्थना की थी। प्रत्येक दल अपने नेता को इस संघ के प्रधान व अध्यक्ष पद पर आसीन कराने का प्रयत्न कर रहा था। इस

---

†—अजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥
श्लोक० १७ अ० २७, सभापर्व।

प्रसंग की कथा के विवेचनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय कृष्ण इस संघ के प्रधान व अध्यक्ष थे। इन्हें यहाँ पर ईश्वर कहा है। वभ्रु और उग्रसेन भी इस पद की प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील थे।

संघ के अध्यक्ष वा प्रधान की सहायता के लिए संघराज्य में सम्मिलित हुए प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि उस राज्य की ओर से नियत किए जाते थे जिन्हें महाभारतकार गणमुख्य के नाम से सम्बोधित करता है।* ऐसा प्रतीत होता है कि संघ के सभापति को प्रधान कहते थे। भीष्म ने इस बात पर बल देकर उपदेश दिया है कि गुप्तचर विभाग और राज्य की रहस्यपूर्ण योजनाएँ प्रधान के हाथ में होनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि संघ के प्रत्येक सदस्य को राज्य की रहस्यपूर्ण योजनाओं का भेद ज्ञात हो।†

इस प्रकार यह गणतंत्रात्मक राज्य तथा उनके संघ-राज्य जनतंत्रात्मक राज्य की उच्चकोटि की राजनीतिक संस्थाएँ थीं। जन-तंत्रात्मक राज्य के मुख्य-मुख्य तत्व—राज्य का चुना हुआ प्रधान, जन-राजनीतिक सत्ता, राष्ट्रीय सभाएँ जिनका दायित्व जनता पर था, मंत्रिगण जिनका उत्तरदायित्व सभा पर निर्भर था और प्रजातंत्रात्मक प्रणाली का इन राज्यों के दैनिक कार्यों में बरता जाना—जनतंत्रात्मक राज्य के लिए महाभारतकाल की बड़ी देन है।

---

*—गण मुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः।
श्लो० २५ अ० १०७, शा० प०।

†—मंत्रगुप्तिःप्रधानेषु चारश्चमित्र-कर्षण।
न गणाः कृत्स्नशो मंत्र श्रोतुमर्हन्ति भारत॥
श्लो० २४ अ० १०७, शा० प०।

नवम अध्याय

हिन्दू राजनीति का स्वरूप

हिन्दू राज्य का स्वरूप:—आधुनिक राजनीति की विचारधारा के अनुसार राज्य का अस्तित्व चार मुख्य तत्वों पर अवलम्बित है। यह तत्व राज्य के चार तत्व (Elements of state) कहलाते हैं। यह चार तत्व भू-भाग, जन, राजनीतिक एकता एवं राजसत्ता हैं। भू-भाग के क्षेत्रफल वा उसकी जनसंख्या के सम्बन्ध में कोई निर्धारित नियम नहीं है। आधुनिक युग में एक ओर तो ऐसे राज्य दृष्टिगोचर होते हैं जो क्षेत्रफल एवं जनगणना की दृष्टि से अत्यन्त छोटे हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे राज्य भी हैं जिनका क्षत्रफल बृहत है और उसी प्रकार उस राज्य के जन की संख्या भी अत्यधिक है जैसे रूस और चीन राज्य। परन्तु इन दोनों प्रकार के राज्यों में लेशमात्र भी अन्तर नहीं है।

प्राचीन काल में हिन्दू राज्य का अस्तित्व सात तत्वों पर निर्भर था। इसीलिए हिन्दू राज्य सप्तात्मक-राज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यह सात तत्व आत्मा वा स्वामी, मंत्री वा अमात्य, सुहृद, कोष, देश वा राष्ट्र, दुर्ग वा पुर, और बल वा सेना हैं।* इन

---

*—आत्माऽमात्यारच कोशारच दण्डो मित्राणि चैव हि।
तथा जनपदारचैव पुरं च कुरुनन्दन ॥
एतत्सप्तात्मकं राज्यं ॥

श्लोक ६४-६५, अध्याय ६९, शा० प०।

सातों में आत्मा वा स्वामी (राजा) पर अधिक महत्व दिया जाता था। शेष छः इसी के केन्द्रीभूत माने जाते थे।

राज्य के उत्पत्ति सम्बन्धी कारणों पर मनन करने के उपरान्त यह विदित होता है कि हिन्दू राज्य की उत्पति संघर्ष में हुई। चाहे यह संघर्ष मनुष्य की सुर और असुर वृत्तियों के मध्य में हुआ हो अथवा पाप के विरुद्ध। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण इस कथन की पुष्टि करते हुए वर्णन करते हैं कि देवों और असुरों में किस प्रकार युद्ध हुआ था और किस प्रकार देव असुरों से परास्त हुए थे। देवों ने अपनी पराजय से यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी पराजय का मूल कारण यह है कि उनके यहाँ राजा नहीं है। परन्तु असुरों में राजा था। इसलिए उन्होंने कहा कि हमें राजा का निर्माण करना चाहिए। इसलिए हिन्दू राज्य के मुख्य तत्व की उत्पत्ति असुरों से युद्ध करने एवं उनके दमन करने के हेतु हुई थी।

इस सम्बन्ध में महाभारत में लगभग इसी विचार को दूसरे शब्दों में दोहराया गया है। मनुष्य में असुर वृत्तियाँ सुषुप्ति अवस्था में पड़ी हुई थीं। कुछ समय के उपरान्त वह जाग्रत हुईं और उन्होंने मनुष्य-जीवन को नारकीय बना दिया। मानव-समाज में मत्स्यन्याय बड़े वेग से प्रचलित हो गया, इसलिए इन असुर वृत्तियों के दमन करने और प्राचीन सुखमय जीवन को पुनः लाने के लिए राजा की परमावश्यकता प्रतीत हुई। इस प्रकार पाप वा असुर वृत्ति के दमन के लिए राजा की उत्पत्ति हुई।

ऐसी परिस्थिति में जिस राज्य का जन्म हुआ होगा उसका निर्माण ऐसे तत्वों के संयोग से होना आवश्यक है जो आततायी को युद्ध में दमन करने में सफल हो सके और वह उसे सर्वदा के लिए शमन करने में सफलता प्राप्त कर सके। यही कारण है कि हिन्दू राज्य का संगठन इन्हीं तत्वों पर हुआ था। प्रारम्भ में हिन्दू राज्य का उद्देश्य केवल इतना था कि वह प्राचीन सुख और शान्ति के युग की पुनः स्थापना कर सके। परन्तु जैसे-जैसे समाज विकास को प्राप्त होता गया राज्य के कर्तव्यो में वृद्धि होती गई। आगे चलकर लोक-कल्याण हिन्दू-राज्य का मुख्य उद्देश्य हो गया।

भारतीय राजनीति और मानव शरीर की रचनाः—हिन्दू राजनीति हिन्दू जाति की अपनी निजी सम्मति है। दूसरी जातियों ने

राजनीति-क्षेत्र में जो अनुभव प्राप्त किए हैं उनके आधार पर इसका निर्माण कदापि नहीं हुआ था। हिन्दू राजनीति का विवेचनात्मक अध्ययन कर लेने के उपरान्त मनुष्य इस परिणाम पर पहुँचता है कि हिन्दू राज्य का संगठन मनुष्य की शरीर-रचना के आधार पर था। आत्मा ही राजा है। शरीर में शरीर की सारी क्रिया आत्मा के ही आश्रित है। इसी प्रकार हिन्दू राज्य में समस्त क्रिया राजा पर ही केन्द्रीभूत होती है। शुक्र ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना यह सात राज्य के अंग माने गए हैं।† इनमें सर्वश्रेष्ठ अंग मस्तक राजा माना गया है। अमात्य राज्य के नेत्र, सुहृद् कान, मुख कोष, सेना मन, हाथ दुर्ग, और पाद राष्ट्र माने गए हैं ? मनुष्य शरीर में सारी क्रिया मस्तिष्क के आश्रित होती है इसी प्रकार राज्य में सारी क्रिया राजा के आश्रित होती है। शरीर में मस्तिष्क को ठीक रखने के लिए प्रत्येक साधन जुटाना पड़ता है क्योंकि उसी के सुव्यवस्थित रहने पर शरीर की सारी क्रिया निर्भर है। इसी प्रकार राज्य में राजा को सुरक्षित रखने का प्रत्येक उपाय किया जाता था। मनुष्य शरीर में मस्तिष्क का गहन प्रभाव पड़ता है। यदि मस्तिष्क में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो गया तो शरीर इस दोष से अछूता नहीं रह सकता। इसी प्रकार यदि राजा में किसी प्रकार विकार उत्पन्न हो गया तो उसके समस्त राज्य पर उसका गहन प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

इसलिए हिन्दू राज्य का संगठन इसी एक सिद्धान्त पर निर्भर था। हिन्दू राज्य के उत्पति सम्बन्धी सिद्धान्त लगभग पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुके थे जिसका परिणाम यह हुआ है कि यह राज्य कुछ ऐसे दोषों से मुक्त हो गए जो कि इसी प्रकार के अन्य देशों के राज्य उनके जाल में पड़ गए और अपने को उनसे मुक्त न कर सके।

---

†—स्वाम्यमात्य सुहृत्कोश राष्ट्र दुर्ग बलानि च।
सप्तांगमुच्यतेराज्यं तत्रमूर्धानृपः स्मृतः॥
श्लोक ६१ अ० १, शुक्रनीति।

दृगमात्या सुहृच्छ्रोत्रं मुखंकोशो बलंमनः।
हस्तौ पादौ दुर्ग राष्ट्रौ राज्यांगानि स्मृतानिहि।
श्लोक ६२ अ० १ शुक्रनीति।

धर्म और सदाचार का प्रभाव:—हिन्दू राजनीति संसार की अन्य राजनीतियों में एक विशेष स्थान प्राप्त किए हुए है। इसकी विचार-धारा में कुछ ऐसे विशेष लक्षण पाए जाते हैं जो संसार की अन्य जातियों के राजनीतिक विचारों से सर्वथा भिन्न हैं।

हिन्दू राजनीति धर्म और सदाचार के प्रभाव से कभी भी वंचित नहीं रही है। हिन्दू राज्य का सदैव यह एक मुख्य उद्देश्य रहा है कि उस राज्य की प्रजा को इस लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त होना चाहिए। इसलिए हिन्दू राज्य का एकमात्र यही उद्देश्य रहा है कि त्रिवर्ग–अर्थ, धर्म, और काम की समुचित व्यवस्था के द्वारा प्रजा के सर्वप्रधान उद्देश्य, मोक्ष, की प्राप्ति की व्यवस्था करना। इसी व्यवस्था के लिए राज्य का निर्माण हुआ था। इस प्रकार हिन्दू राज्य का संगठन भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति के लिए हुआ था। मनुष्य के इस लोक और परलोक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति का भार राज्य पर निर्भर था।

मध्यकालीन योरप के राज्य भी लगभग इन्हीं उद्देश्यों को अपने सामने रखे हुए थे। परन्तु प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य और मध्य-कालीन योरप के ईसाई राज्यों की समानता करना बड़ी भूल होगी। इस सम्बन्ध में पहली बात यह थी कि मध्यकालीन योरप के ईसाई राज्यों में राजा के बहुत से अधिकारों पर ईसाई गिरजाघर ने अपना आधिपत्य जमा लिया था। जिसका परिणाम यह हुआ था कि इन राज्यों के राजा का पद किसी अंश तक संकुचित हो गया था और उनकी मान-मर्यादा भी उसी प्रकार कुछ न्यून ही हो गई थी। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन ईसाई राज्यों के राजा सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिकार प्राप्त राजा न रह गए थे क्योंकि उनके अधिकार-क्षेत्र को गिरजाघर ने संकुचित कर दिया था। गिरजाघर ने अपने इन अधिकारों के वैधरूप से भोग करने की पुष्टि के लिए एक नये सिद्धान्त का सहारा लिया था। इन ईसाई राज्यों में राजा गिरजाघर का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी नहीं माना जाता था। इस क्षेत्र में पोप की प्रधानता थी और उसकी प्रधानता वैध आधार पर सिद्ध की जाती थी जिसके अनुसार राज्य के धार्मिक क्षेत्र में राजा को पोप के अधीन कर दिया गया था। गिरजाघर ने अपने क्षेत्र में अपने राज्य का निर्माण किया था जिसपर राजा का लेशमात्र भी अधिकार न था। इस राज्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी पोप था। राज्य के केवल वह

विषय जिनका सम्बन्ध धर्म से न था राजा के सामने लाए जा सकते थे। मनुष्य के धार्मिक अथवा आत्मिक जीवन पर राज्य का कोई अधिकार न था। ऐसे राज्यों में राजा को यह अधिकार न था कि वह उन विषयों से सम्बन्धित अभियोगों के लिए जिनका सम्बन्ध धर्म वा सदाचार से था न्याय की व्यवस्था देता और जो व्यक्ति इस क्षेत्र में दोषी होते उन्हें दण्ड देता। गिरजाघर ने एक ही देश में दो प्रकार के जीवन को विभाजित कर दो राज्यों की स्थापना करने का प्रयत्न किया था और दोनों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा निर्धारित कर दोनों को अलग रखने का प्रयत्न किया था। परन्तु दूसरी ओर इन राज्यों के राजाओं ने अपने अधिकारों और अपनी राजसत्ता को पोप के राज्य तक बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया। फलतः इस प्रकार की राजसत्ता की प्राप्ति के हेतु संघर्ष होना प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार मध्यकालीन योरप में एक ही भू-भाग के अन्तर्गत दो राज्य साथ-साथ कार्य करते हुए पाए जाते थे। लोगों को दोनों का राजभक्त रहना आवश्यक था। जिन्होंने इसका विरोध किया उन्हें घोर यातनाएँ भोगनी पड़ीं।

हिन्दू राज्य में भी विभाजित राजसत्ता की कुछ झलक सी दृष्टि-गोचर होती है। हिन्दू राज्य में राज्याभिषेक के अवसर पर इस बात की घोषणा कर दी जाती थी कि इस प्रकार अभिषिक्त किया गया राजा ब्राह्मणों का राजा नहीं है क्योंकि उनका राजा सोम है (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा)। परन्तु इस घोषणा का अर्थ यह कभी नहीं माना गया था कि ब्राह्मण लोग राज-दण्ड से मुक्त थे। उन्हें यह धर्मतः अधिकार न था कि वह राजपद को हटा दें अथवा वह राजा के अधिकारों को किसी प्रकार भी न्यूनाधिक कर सकें। जबतक कि राजा धर्मानुसार राज्य करता है, यदि कोई भी ब्राह्मण राज्य के निर्धारित नियमों का उल्लंघन करता तो उसे दण्ड देने का पूर्ण अधिकार राजा को था। राजा को यह अधिकार था कि उसके राज्य में यदि कोई व्यक्ति धार्मिक अथवा राजनीतिक वा सामाजिक आदि किसी प्रकार के नियम को भंग करता हुआ पाया जाता, चाहे वह ब्राह्मण होता या अन्य वर्ण का उसे दण्ड देने का पूर्ण अधिकार था। इस व्यवस्था की स्थापना केवल इसलिए की गई थी कि राजा पर कुछ रोक-थाम रहे जिससे वह स्वेच्छाचारी न हो सके।

इसके अतिरिक्त एक यह भी बात थी कि प्राचीन काल के हिन्दू

राज्यों में ब्राह्मण वर्ग ने कभी इस बात का स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं किया कि वह किसी ब्राह्मण नेता की अध्यक्षता में धार्मिक विषयों के लिए एक अलग सत्ता का निर्माण करें जैसा कि मध्यकालीन योरप के ईसाई राज्यों में पोप के द्वारा किया गया था। न उन्होंने कभी इस बात का ही प्रयत्न किया कि वह अपने लिए अलग कार्यकारिणी, न्याय-सभा एवं धारासभा की स्थापना राजा की राजनीतिक सत्ता से नितान्त मुक्त होकर करते। पर्याप्त संख्या में ऐसे उदाहरण प्राप्त हैं जहाँ ब्राह्मण, साधु-संन्यासी भी धार्मिक वा सदाचार सम्बन्धी किसी नियम के भंग करने के अपराध के दण्डविधान के लिए राजा के पास स्वतंत्रता-पूर्वक जा सकते थे और राजा द्वारा दण्ड पाकर पाप से मुक्त होते थे। परन्तु मध्यकालीन योरपीय ईसाई राज्यों में यह बात न थी।

इन राज्यों में पोप धार्मिक एवं सदाचार सम्बन्धी विषयों के लिए अपना अलग राज्य स्थापित करता था जो कि उसी देश के भौतिक राज्य से लेशमात्र भी सम्बन्ध न रखता था। इस राज्य का सर्वोपरि अधिकारी पोप था जो प्रजा से इस राज्य के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखने के लिए लोगों को बाधित करता था। पोप ने राज्य के लगभग समस्त प्रधान विभागों को संगठित कर गिरजाघर के राज्य की स्थापना की थी। वह इस क्षेत्र में राजसत्ता का अधिकार जनाता था। परन्तु हिन्दू राज्य में लोगों का धार्मिक वर्ग स्वयं उसी राज्य का अंग बन गया था। उन्होंने न तो कभी इस बात का प्रयत्न ही किया और न वह इस प्रयत्न में सफल ही होते कि वह अपने को इस राज्य से अलग कर दूसरे नए राज्य की स्थापना धार्मिक विषयों के लिए करते। लोगों का धार्मिक जीवन भी राजा के ही अधीन कर दिया गया था। ऐसे हिन्दू राज्य को धार्मिक राज्य (theocretic state) को योरप के धार्मिक राज्यों (theocratic states) के समान मानना एक बड़ी भूल होगी।

दूसरी ओर यह बात भी थी कि प्राचीन हिन्दू राज्य आधुनिक पाश्चात्य राज्यों के समान न थे। आधुनिक पाश्चात्य राज्यों में आर्थिक वृत्ति बड़े वेग से प्रभाव डाल रही है जिसका परिणाम यह हुआ है कि यह राज्य मुख्यतय: रोटी के प्रश्न को ही सुलझाने में फँसे रहते हैं। त्रिवर्ग की व्यवस्था कर जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त करना जो हिन्दू राज्य का एकमात्र लक्ष्य था, इन

राज्यों से कोसों दूर है। यह निर्विवाद है कि आधुनिक पाश्चात्य राज्य का निर्माण इस उद्देश्य के लिए कदापि नहीं हुआ है। यह किसी प्रकार भी अतिशयोक्ति न होगी यदि इन राज्यों के विषय में यह कहा जाय कि इन राज्यों के सामने केवल एक लक्ष्य है और वह है समाज की भौतिक उन्नति। वाह्य आवश्यकताओं की वृद्धि ने आन्तरिक उन्नति के अवसरों का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण कर दिया है।

हिन्दूराज्य में राजा का समेल स्थानः—हिन्दू राज्य का एक विशेष लक्षण इसके अन्तर्गत राजपद का होना था। रामायण और महाभारत के अनुसार राजा के बिना देश में जीवन असम्भव है। उपयुक्त राजा के बिना किसी भी भू-भाग में साधारण जीवन की स्थिति असम्भव होती है। राजा के सहयोग के बिना जीवन के मुख्य उद्देश्य, मोक्ष की प्राप्ति असम्भव मानी गई है। हिन्दू राजा का इतना बड़ा महत्व होने पर भी हिन्दू राजनीति-क्षेत्र में ऐसे राजा को स्थान नहीं दिया गया जो कि इतना अधिक शक्तिशाली हो जाए कि वह स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासक का स्थान ग्रहण कर ले। इसके साथ ही हिन्दू राजनीति शास्त्र-प्रणेताओं ने निर्बल राजा की भी उतनी ही निन्दा की है जितनी कि निरंकुश शासक की की गई है। हिन्दू राजनीति ऐसे राजा की प्रशंसा करती है जो इन दोनों कोटियों के राजाओं में मध्यवर्ती हो।

पाश्चात्य देश के राजनीति-शास्त्र के विवेचनात्मक अध्ययन के उपरान्त यह विदित होता है कि इसके अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है जिसका परिणाम यह हुआ है कि पाश्चात्य देश में राजनीतिक समाज का ढाँचा ही नितान्त बदल गया है। इस उपेक्षा का परिणाम यह हुआ है कि इन राज्यों में राजपद से समेल भावना नितान्त लुप्त हो गई है और जिसका फल यह हुआ है कि इन राज्यों में राजपद को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया गया। एक ओर हम ऐसा राजा पाते हैं जैसे फ्रांस का लुई चतुर्दश, रूस का जार, इंगलैंड का चार्ल्स प्रथम जो सर्वांश में स्वेच्छाचारी शासक थे और जो सदैव प्रजा के अधिकारों का विरोध करते रहे और यही घोषणा करते रहे कि प्रजा के राजा के प्रति कोई अधिकार नहीं हैं। उसे केवल वही अधिकार मिल सकते हैं जो कि इन राजाओं द्वारा स्वीकृत किए जाते हैं। यह राजागण अपनी दैवी उत्पत्ति मानते

थे और इस आधार पर पृथ्वीतल पर किसी के भी उत्तरदायी न थे। किसी प्रकार का भी वैधानिक नियंत्रण उन पर धर्मतः लगाया नहीं जा सकता था। उनका शब्द ही विधि था जिसका उल्लंघन बहुत बड़ा पाप समझा जाता था।

दूसरी ओर कुछ ऐसे राजा हुए हैं जिन्होंने अपने सारे अधिकार मंत्रिमण्डल वा सभा को समर्पित कर दिए हैं और वह स्वयं उस मंत्रिमंडल वा सभा के हाथ में कठपुतली की भाँति बन गए हैं। वह जनता के क्रियात्मक जीवन में क्रियाशील होकर भाग नहीं लेते। यह मंत्रिमंडल वा सभाएँ जो कुछ निर्णय कर देती हैं वह इन राजाओं को मान्य होता है और वह राज्य में विधि का स्थान ले लेता है। राज्य में राजनीतिक, धार्मिक वा सामाजिक जीवन में ऐसे राजाओं के लिए अपने निजी विचारों के प्रकाशन वा अपने उच्चारण द्वारा प्रजा के समक्ष उदाहरण रखने का लेशमात्र भी अवसर नहीं दिया जाता। इन राज्यों में प्रत्येक प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन से उसे नाता तोड़ देना पड़ता है। विभिन्न राजनीतिक उद्देश्यों के आधार पर विभिन्त राजनीतिक दलों का निर्माण हो जाने से राजनीतिक अधिकारों में प्रधानता प्राप्त करने के उद्देश्य से इन दलों में संघर्ष बने रहते हैं। इंगलैड जैसे देश में राजपद बड़ा ही कोमल हो गया है। इसी कारण राजा स्वभावतः राज्य के राजनीतिक कार्यों से अपने को अलग रखने का प्रयत्न करता रहता है। उसे इस बात का भय रहता है कि वह कहीं दलबन्दी में फँसकर अपने पद से च्युत न कर दिया जाए।

हिन्दू राजनीतिक विचारधारा इस विचार से नितान्त भिन्न है। प्राचीन भारत में हिन्दू राजनीतिक विचारों में मध्यवर्ती सिद्धांत के महत्व एवं आवश्यकता को भली भाँति समझ लिया गया था। वह इस बात के पक्ष में थे कि हिन्दू राज्य के अन्तर्गत राजा का समेल स्थान होना चाहिए। उन्होंने इस बात पर अधिक बल दिया कि राजा राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्व होना चाहिए। उन्होंने इसीलिए अपने सप्तात्मक राज्य में राजा को भी एक तत्व मान लिया। परन्तु उग्र अथवा अत्यन्त निर्बल राजा उनके लिए उचित नहीं समझा गया था। वह ऐसे राजा को अपने राज्य में रखने की कभी भी स्वीकृति न दे सकते थे जो या तो रूस राज्य के ज़ार की भाँति स्वेच्छाचारी होता अथवा इंग्लैण्ड देश के

आधुनिक राजा की भाँति कोरे कागजी अधिकारों को भोगनेवाला होता। उन्होंने इस बात पर सदैव महत्व दिया कि हिन्दू राजा बलवान होना चाहिए परन्तु वह इतना शक्तिशाली न होने पाए कि राज्य में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का बाधक बन जाए। वह शक्तिशाली तो रहे परन्तु उसके अधिकार विधि-द्वारा सीमित कर दिए जाएँ और यह विधि-निर्माण का अधिकार उसे कदापि न दिया जाए। इसीलिए उन्होंने राजा के लिए कुछ नियम बनाए जो राज-धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं नियमों के अनुसार उसे आचरण करना पड़ता था। उसे अपने स्वप्नों के अनुसार आचरण करने का लेशमात्र भी अधिकार न था। युद्ध एवं शान्ति दोनों समयों में राजा प्रजा का नेता समझा जाता था। राजा का उत्तम आचरण होना चाहिए जिससे वह अपनी प्रजा के लिए आदर्श बन सके। राजनीतिक धार्मिक एवं सामाजिक योजनाओं के दैनिक वाद-विवाद में राजा का उच्च स्थान रहता था। राज्य की नीति का निर्धारित करना उसी का काम था। हिन्दू राजा उदासीन बनकर रहने का अधिकारी न था।

राज्य में राजा के इस उपयुक्त स्थान के पा लेने से उसके मंत्रियों एवं प्रजा में उसका बहुत ऊँचा स्थान रहता था। वह अपनी प्रजा के लिए उत्तम आचरण के लिए आदर्श बन गया जिसका प्रजा ने देव के समान सत्कार करना प्रारम्भ कर दिया और जिसे प्रजा ने पूरा सहयोग दिया। उन्होंने राजा को पृथ्वीतल पर मनुष्यरूप में देव समझा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस पद के लिए इंगलैण्ड के चार्ल्स प्रथम जैसे राजा कितने लालायित रहे हैं परन्तु इस पद को वह पा न सके। हिन्दू राजा जिसने कभी भी इस पद की अभिलाषा न की थी प्रजा के हृदय में देव रूप बन कर बैठ गया। हिन्दू राज्य में राजा के इस समेल पद पर नियुक्ति के कारण राजतंत्रात्मक राज्य अपने कठोर दोषों से मुक्त हो गया और उसमें जनतंवाद के तत्वों का समावेश हो गया जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू राज्य में राजतंत्रात्मक राज्य का स्वरूप ही बदल गया। बाहर से देखने से पता चलता था कि हिन्दू राज्य राजतंत्रात्मक राज्य है परन्तु इसका सारा ढाँचा जनतंत्रात्मक राज्य में परिणत हो गया था। ऐसे राज्य में छोटे से लेकर बड़े तक प्रत्येक कर्मचारी के कर्तव्यों और अधिकारों का क्षेत्र नियत कर दिया गया था। हिन्दू राजतंत्रात्मक राज्य में इन जन-

तंत्रात्मक राज्य के तत्वों का समावेश हो जाने से हिन्दू काल में एक विशेष प्रकार के राज्य का निर्माण हुआ। हिन्दू राजा कभी भी निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था, उसका स्ववेच्छाचार कतिपय प्रतिबन्धों के लाग कर देने से अत्यन्त संकीर्ण एवं सीमित कर दिया गया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू राजा ने सम्मानित वैधानिक सर्वोच्च अधिकारी का स्थान ग्रहण कर लिया।

राजा के ऊपर सर्वप्रथम कुछ नियमों के संग्रह का प्रतिबंध था जिनके अनुसार उसे राजपद दिया जाता था। इस सम्बन्ध में कि वैदिक युग में राजा का चुनाव होता था कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में अनेकों प्रमाण दिए हैं। उनका मत है कि राजा की नियुक्ति सभा और समिति नाम की संस्थाओं के अधीन थी। ये संस्थाएँ राजा को गद्दी से उतार सकती थीं और पदच्युत राजा को पुनः राजपद दे सकती थीं। राजपद प्राप्ति के लिए राजा का अभिषेक होना अनिवार्य था। इस अवसर पर उसे प्रजाभक्त रहने की शपथ मन वचन और कर्म से लेनी पड़ती थी। यदि राजा इस शपथ को भंग करता था तो उसे अपने पद से हट जाना पड़ता था।

रामायण और महाभारत-काल में राजपद वंश-परम्परा के नियम पर अवलम्बित था। परन्तु इस नियम के हो जाने से राजा की वास्तविक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। राजपद प्राप्ति के लिए कुछ प्रतिबन्ध थे जो राजपद को निश्चित करते थे। इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में इन प्रतिबन्धों का भली भाँति निरूपण किया जा चुका है। वीर घराने में जन्म, ज्येष्ठता का अधिकार, पैतृक अधिकार, शारीरिक क्षमता, आचरण की एक निर्धारित सीमा, प्रजा द्वारा स्वीकृति, राज्याभिषेक और राजकीय शपथ उसके ऊपर ऐसे प्रतिबन्ध लागू थे जिनका वह उल्लंघन नहीं कर सकता था। इस प्रकार राजवंश का प्रत्येक राजकुमार राजा बनने का अधिकारी न था। दूसरी ओर प्रजा भी धर्मतः बिना विचारे मनमाना राजा बना नहीं सकती थी। रामायण और महाभारत इस सम्बन्ध में राजकुमार और प्रजा दोनों पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में हैं।

राज्याभिषेकः—हिन्दू राजनीतिक विचारधारा की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि राजपद प्राप्त करने के पूर्व राजा का राज्याभिषेक होता था। यह संस्कार जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार किया

जाता था। रामायण और महाभारत-काल में राजपद प्राप्ति के लिए राज्याभिषेक का कृत्य अनिवार्य था। हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथों में वर्णित राज्याभिषेक के कृत्यों के बिना किए हुए वैध राजसत्ता किसी भी व्यक्ति में धर्मतः स्थापित नहीं की जा सकती थी। राज्याभिषेक रहित राजा पतित समझा जाता था।

इस संस्कार के प्रधान कृत्यों के अवलोकन करने से पता चलता है कि यह संस्कार जनतंत्रात्मक था। इस संस्कार के अवसर पर राज्य के प्रत्येक वर्ग एवं हित के प्रतिनिधि की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। यहाँ तक कि राज्य की अचल सृष्टि के प्रतिनिधियों की भी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। यह सब राजा को राजपद देने में अपनी अनुमति देते थे। इस प्रकार राजा का वरण राज्य की प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा होता था। ऐसे अवसर पर यह घोषणा की जाती थी कि यह भूमि अमुक व्यक्ति को कुछ प्रतिबन्धों के साथ दी जा रही है। यजुर्वेद मुख्य तीन प्रतिबन्ध लगाता है। भूमि उसे कृषिकार्य के लिए (कृष्याय), सार्वजनिक उन्नति के लिए (पोष्पाय) और सार्वजनिक क्षेम के लिए (क्षेमाय) दी जा रही है। महाभारत में लगभग इन्हीं प्रतिबन्धों को दूसरे शब्दों में कहा गया है। इस प्रकार राज्य राजा के हाथ में एक निधि के रूप में प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा सौंप दिया जाता था। राजा को यह निधि कुछ निर्धारित प्रतिबन्धों के साथ दी जाती थी। यह निधि उसके अधिकार में तभी तक रह सकती थी जब तक कि वह इन प्रतिबन्धों का पालन करता रहता था। परन्तु जैसे ही वह इन प्रतिबन्धों में से एक भी प्रतिबन्ध के नियमों का उल्लंघन करता हुआ पाया जाता था, उसे इस निधि को अपने अधीन रखने के अधिकार को नष्ट कर देना पड़ता था और दूसरे उपयुक्त एवं योग्य व्यक्ति के लिए अपना पद रिक्त कर देना पड़ता था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथ इस संस्कार के वैध महत्व को स्वीकार करते हैं। क्रियात्मक क्षेत्र में देखने से विदित होता है कि इस युग में छोटे से लेकर बड़े से बड़े राजा तक को राजपद पाने के पूर्व इस संस्कार से सम्बन्धित कृत्यों को करना पड़ता था। इन ग्रन्थों में राम और युधिष्ठिर दोनों राजाओं के राज्याभिषेक सम्बन्धी संस्कारों का वर्णन किया गया है। इनमें समस्त कृत्यों का वर्णन प्राप्त है जो कि इन राजाओं को वैध राजा होने के पूर्व करने पड़े थे।

राजकीय शपथ:—राज्याभिषेक का एक प्रधान अंग राजकीय शपथ का कृत्य था। राजकीय शपथ की शब्दावली नियत थी, और अभी तक वैदिक ग्रंथों में ज्यों की त्यों प्राप्त है। यह शपथ प्रजातंत्रवाद के भावों से ओतप्रोत है। इस शपथ के अनुसार राजा समस्त उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष इस बात की शपथ लेता था कि वह प्रजाद्रोह कभी भी न करेगा। शपथ लेने के लिए भावी राजा को विशेष आचरण करना पड़ता था। उसे व्रत रखना पड़ता था, और कुशासन पर सोना पड़ता था और उस दिन समस्त सांसारिक भोग-विलासों को त्याग देना पड़ता था। यह सब उसे आत्मशुद्धि के लिए करना पड़ता था। इसके पश्चात् वह समस्त जनसमूह के समक्ष इस प्रकार शपथ लेता था—जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि में मैं मृत्यु को प्राप्त करूँ इस मध्य में किये हुए मेरे समस्त पुण्य, मेरी सन्तति और यहाँ तक कि मेरा जीवन नष्ट हो जाए यदि मैं प्रजाद्रोह करूँ। महाभारत में भी लगभग इन्हीं भावों को दूसरे शब्दों में दोहराया गया है। भावी राजा को यह शपथ मन, वचन और कर्म से पालन करनी पड़ती थी। इस शपथ के लिए बिना भावी राजा साधारण नागरिक ही रहेगा। वह राजा न माना जायगा। इस प्रकार हिन्दूकाल में राजकीय शपथ राजा के लिए अनिवार्य कृत्य था और यह ऐसा कृत्य था जो भावी राजा को राजपद का अधिकारी बनाता था।

ब्राह्मणों की स्वतन्त्रता:—राज्याभिषेक के उपरान्त ब्राह्मणों की स्वतंत्रता की घोषणा भी हिन्दू राजनीतिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना है। इस अवसर पर ब्राह्मण वर्ग यह घोषणा करता था कि इस प्रकार से नियुक्त किया गया राजा उनका राजा नहीं है। उनका राजा सोम है (सोमोऽस्माकंब्राह्मणानांराजा) इस दृष्टि से राजा में एक विशेष पद का निर्माण किया गया था जिसे पुरोहित वा राजगुरु कहते थे। इस प्रकार पुरोहित का एक नया पद निर्माण कर उसका सम्बन्ध सोम से जोड़ दिया गया था। सोम किसे कहते हैं इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। परन्तु इतना अवश्य है कि ब्राह्मण वर्ग अपने को उसी के अधीन समझता था। इस प्रकार राजा तथा राजगुरु के पदों को राज्य में संयुक्त कर दिया गया था। यह प्रणाली इस सिद्धान्त को दृष्टिकोण में रखकर प्रचलित की गई थी कि राज्य में विद्या और

शक्ति (शास्त्र और क्षात्र) दोनों साथ-साथ समान रूप से चलते रहे। राजगुरु शास्त्र का और राजा क्षात्र का प्रतिनिधि था। वैदिक साहित्य इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि यह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। समाज के स्थिर रहने, उसके विकास एवं उन्नति के लिए इन दोनों की बड़ी आवश्यकता है। एक दूसरे के सहयोग से राज्यरूपी गाड़ी सुचारु रूप से चलती है और तभी प्रजा का कल्याण होता है। इसीलिए इन दोनों तत्वों की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हुए दोनों में सामञ्जस्य स्थिर कर एक ही सूत्र से बाँध दिया गया था। रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में भी इस सिद्धान्त का इसी प्रकार पालन होता रहा। विश्वामित्र, वसिष्ठ, शुक्राचार्य तथा ऐसे ही अन्य ऋषि राजगुरु के आसन पर आरूढ़ होकर अपने-अपने राज्य के राजाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर राज्य रूपी गाड़ी को बड़ी सुगमता और कुशलतापूर्वक चलाते रहे।

राज्य में राजगुरु का पद इतना महत्वपूर्ण था कि राज्य के लगभग सारे मुख्य कार्य उसी पर आश्रित रहा करते थे। वह राजा के समीप बैठ कर राजा के कार्यों को ध्यानपूर्वक देखा करता था, उसकी सहायता करता था और उसे नियंत्रण में रखता था। यदि राजा राज-धर्म के विरुद्ध आचरण करता हुआ पाया जाता तो वह उसे तुरन्त सचेत करता था और उसे सदन्मार्ग पर ले चलने का प्रयत्न करता था। यदि राजा उसकी सम्मति अथवा चेतावनी को उपेक्षा की दृष्टि से देखता तो वह उसे वैध आधार पर राजपद छोड़ने के लिए आदेश दे सकता था। राजगुरु धर्म का प्रतिनिधि माना जाता था और अपने पवित्र आचरण के लिए जनता में प्रसिद्ध होता था। इसलिए ऐसे अवसरों पर जनता राजगुरु का ही साथ देती थी। यदि राज्य में कोई ऐसी दुर्घटना हो जाती थी, जिसे सुधारना राजा की शक्ति के बाहर होता राजगुरु का केवल एक उपदेशात्मक वाक्य उसे सुधारने को पर्याप्त था।

इस सम्बन्ध में पीछे कई घटनाओं का उल्लेख किया जा चुका है तथापि यहाँ पर एक-दो उदाहरण दे देना उचित होगा। रामायण के अयोध्याकाण्ड में इस सम्बन्ध में एक घटना इस प्रकार दी हुई है—राजा दशरथ की अचानक मृत्यु हो जाती है। अयोध्या राज्य का कौन राजा बनाया जाय यह एक बड़ी जटिल समस्या लोगों के समक्ष उपस्थित हो जाती है। इस विषय पर राज्य के समस्त अधिकारी वाद-विवाद करते

हैं, परन्तु किसी निर्णय पर नहीं पहुँचते हैं। राजगुरु वसिष्ठ इस समस्या को बड़ी सरलता से सुलझाते हैं। महाभारत में भी राजा ययाति अपने सबसे छोटे पुत्र को राजा बनाना चाहते हैं परन्तु प्रजा उनका विरोध करती है। ऐसे राजसंकट के समय राजगुरु शुक्राचार्य का केवल एक वाक्य राजसंकट के घनघोर बादलों को छिन्न-भिन्नकर देता है।

परन्तु इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि राज्य में ऐसे पद का निर्माण केवल ब्राह्मण वर्ग की अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए ही नहीं किया गया था। राजगुरु भी परम्परागत नियम से जकड़ा हुआ रहता था। वह उन नियमों का लेशमात्र भी उल्लंघन करने का अधिकारी नहीं था। राजगुरु का पद भी निर्वाचन द्वारा निर्धारित किया जाता था और इस पद पर वह ही व्यक्ति नियुक्त किया जाता था जो अपनी विद्या, बुद्धि और पवित्र आचरण के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका हो। उसे भी इस पद पर आने के पूर्व एक विशेष प्रकार के संस्कार के कृत्यों को करना पड़ता था। यह कृत्य जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत होते थे। ऐसे संस्कारों के उल्लेखों का विशद वर्णन वैदिक-साहित्य में इस समय भी प्राप्त है।

कार्यकारिणी:—रामायण और महाभारत-काल में राज्य में कार्यकारिणी का सबसे बड़ा अधिकारी राजा होता था, जिसकी नियुक्ति का प्रस्ताव उस समय के शासक राजा के द्वारा प्रस्तुत किया जाता था और जिसकी स्वीकृति राज्य की प्रजा पर निर्भर थी। राजा का उत्तरदायित्व राज्य के विधियों (laws of the state) पर था। इसलिए राजा अपने पद पर तभी तक रह सकता था, जबतक कि वह राज्य के विधियों का वास्तविक रूप में पालन करता रहता था। जैसे ही यह विदित हो जाता था कि राजा किसी भी विधि का उल्लंघन कर रहा है तुरंत उसको गद्दी से उतारने का प्रश्न उपस्थित हो जाता था। रामायण और महाभारत कालीन विधि ऐसे अभियोगों के लिए उसे दोषी निर्धारित करने का अधिकार देता है। ऐसे अवसरों पर राज-पुरोहित या राजगुरु जो कि राज्य के विधियों संबंधी ज्ञान का सबसे बड़ा अधिकारी समझा जाता था राजा के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत करता था। राजा को राजगद्दी से उतारने का प्रस्ताव राजगुरु के द्वारा सभा के समक्ष लाया जाता था, जो अपना निर्णय देती थी। इस सम्बंध में राजा बेन का उदाहरण एक ज्वलन्त प्रमाण है।

इस प्रकार इस विषय में रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की कार्यकारिणी की स्थिति किसी अंश तक संयुक्त राज्य अमरीका के अध्यक्ष (प्रेसीडेंट) की भाँति थी। कार्यकारिणी वास्तविक अधिकारों के भोगने का अधिकार रखती थी और जिसको राजधर्म के नियमों के उल्लंघन करने का दोषी ठहरा कर निकाला जा सकता था।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की कार्यकारिणी के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इन राज्यों का विधान राजाओं के लिए मंत्रियों की एक समिति का होना अनिवार्य बतलाता है, जो राजा को सहायता और सम्मति देने का काम करती थी। शासन-विधान के अनुसार राजा को निर्धारित नियमों के आधार पर मंत्रि-परिषद् को रखना एवं उसके मंत्रियों से सम्मति लेना अनिवार्य था। इसी पुस्तक के तीसरे अध्याय में उन समस्त प्रतिबंधों का भली भाँति वर्णन किया जा चुका है, जिनके आधार पर मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति राजा के द्वारा होती थी। मंत्रियों की नियुक्ति के समय राजा को इन प्रतिबन्धों की ओर उपेक्षा की दृष्टि रखने का अधिकार न था। राजा को अपनी मंत्रि-परिषद् के सदस्यों को पदच्युत करने का अधिकार था परन्तु राजा का यह अधिकार भी निर्धारित नियमों की परिधि के बाहर नहीं हो सकता था। उसे आत्म-संतुष्टि के लिए मंत्रि-परिषद् के किसी भी सदस्य को पदच्युत करने का अधिकार न था। मध्यकालीन योरप और भारत के सम्राटों को इस सम्बन्ध में जो अधिकार प्राप्त थे रामायण एवं महाभारत कालीन राजा को उसी रूप में वह अधिकार प्राप्त न थे।

इस सम्बन्ध में तीसरी बड़े महत्व की बात यह थी कि इन राज्यों के विधान ने राजा को यह अधिकार कदापि न दिया था कि वह अपनी मंत्रि-परिषद्-द्वारा दी हुई सम्मति को अस्वीकार करता। राजा को राज्य में शासन संबंधी कोई भी नई योजना कार्य रूप में परिणत करने का अधिकार न था, जब तक कि मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों द्वारा उसने सम्मति प्राप्त न कर ली हो। राज्य में शासन सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में मंत्रि परिषद् के सदस्यों की अनुमति अनिवार्य समझी जाती थी। शासन-सम्बन्धी प्रत्येक नवीन विषय की विवेचना मंत्रि-परिषद् में भली भाँति हो जानी अनिवार्य थी। जिससे उसके गुण और दोष भली भाँति प्रकट हो जायँ। इस प्रकार विवेचनात्मक वाद-विवाद के उपरान्त

मंत्रि-परिषद् के बहुमत द्वारा किए गए निर्णय को राजा के आदेशानुसार कार्य रूप में परिणत किया जाता था। यदि किसी विषय पर मंत्रियों में मतभेद होता और उस मतभेद के कारण किसी एक निर्णय पर पहुँचना कठिन होता, तो राजा को राजगुरु की शरण लेनी पड़ती थी। ऐसे अवसर पर राजा मंत्रियों के संयुक्त और वियुक्त मतों को एवं अपने स्वयं मत को राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत करता था। इस प्रकार विधान ने राजा को स्वेच्छाचारपूर्ण कार्य करने के लिए उस पर नितान्त प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस दृष्टि से रामायण और महाभारत कालीन राजा की स्थिति इंग्लैंड के आधुनिक राजा के समान थी। इंग्लैंड के राजा को अपनी इच्छानुसार शासन संबंधी कार्यों में आचरण करने का अधिकार नहीं है। उसके मंत्रि-मण्डल के निर्णय पर हस्ताक्षर करना और उसे कार्य रूप में परिणत करने का आदेश मात्र देना उसका कार्य है। इस स्थल पर रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की कार्य-कारिणी संयुक्तराज्य अमेरिका की कार्य-कारिणी से नितान्त भिन्न है। संयुक्तराज्य अमेरिका की कार्य-कारिणी के प्रधान अधिकारी को मतदाताओं की एक समिति रखने का विधान में स्थान तो है परन्तु वह इन मतदाताओं की सम्मति ले या न ले इस सम्बन्ध में उसपर किसी प्रकार का वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की कार्यकारिणी की एक और विशेषता यह थी कि इसका दैनिक-शासन-कार्य विभाग-प्रणाली के आधार पर अवलम्बित था। शासन-विषयों के अनुसार राजा को विभिन्न विभाग नियत करने पड़ते थे और वह इन विभागों को मंत्रि-परिषद् के सदस्यों में वितरण कर देता था। मंत्रि-परिषद् के प्रत्येक सदस्य के अधीन कम से कम एक विभाग अवश्य रहता था जिसका पूर्ण उत्तरदायित्व उसी सदस्य पर रहता था। मंत्रि-परिषद् के सदस्यों के अधीन बहुत से सरकारी कर्मचारी रहा करते थे जो शासन के कार्य-संचालन में उसकी सहायता किया करते थे।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्यों में जनतंत्र-वाद के मुख्य तत्व काम करते थे। इसलिए इन राज्यों की कार्य-कारिणी को निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी कार्यकारिणी कहना बड़ी भूल होगी।

रामायण तथा महाभारत कालीन विधि-निर्माण व्यवस्था:— हिन्दू राजनीति और दूसरी जातियों के सिद्धांतों में सबसे बड़ा अन्तर इनकी धारासभाओं में पाया जाता है। इन राज्यों में विधि-निर्माण कार्य या तो राज्य के सर्वोच्च अधिकारी वा उसके मंत्रियों अथवा उसकी धारासभाओं के द्वारा होता है। परन्तु इस दृष्टि से रामायण और महाभारत कालीन राज्य इन राज्यों से नितान्त भिन्न हैं। हिन्दू राजनीतिक विचारधारा के अनुसार विधि-निर्माण-कार्य सर्वसाधारण अथवा दो-एक व्यक्तियों को सौंप देना उचित नहीं है।

हिन्दू राज्यों में विधि-निर्माण-कार्य एक विशेष कार्य माना गया है, जिसमें राजा, उसके मंत्रियों वा उसकी सभा के सदस्यों का लेश-मात्र भी अधिकार नहीं है। विधि-निर्माण के साधनों का विशेष विवरण इस पुस्तक के पाँचवें अध्याय में दिया जा चुका है। रामायण और महाभारत के अनुसार विधि एक बड़ी कोमल वस्तु है। एक साधारण मनुष्य उसके दूरवर्ती परिणामों को समझने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए विधि-निर्माण-कार्य सर्वसाधारण के अधिकार के बाहर होना चाहिए। विधि-निर्माण के लिए विशेष प्रकार की योग्यता एवं आचरण की आवश्यकता पड़ती है। मानव जीवन की समस्याएँ बड़ी जटिल होती हैं। इसलिए विधि-निर्माण का कार्य ऐसे लोगों को सौंपना चाहिए जो साधारण मनुष्य की श्रेणी से ऊपर उठ चुके हों और जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य लोक-कल्याण हो। इसीलिए प्राचीन भारत में विधि-निर्माण का कार्य या तो ब्रह्मा द्वारा किया हुआ माना जाता है अथवा यह कार्य उन ऋषि-मुनियों द्वारा सम्पादित किया गया था जो कि वीतराग थे, जिन पर सांसारिक विकारों का प्रभाव न था और जिनके मस्तिष्क स्पष्ट स्थिर और विकाररहित थे। इसीलिए हिन्दू-काल के विधि का अधिक अंश ब्रह्मा द्वारा स्वयं निर्माण किया गया था। शेष का अधिक भाग वीतराग ऋषि-मुनियों द्वारा सम्पादित हुआ था और अवशेष भाग में प्राचीन पद्धतियाँ, प्रथायें और रूढ़ियाँ प्रचलित रहीं। धीरे-धीरे राज्य की कार्यकारिणी को उन्हें मान्यता देनी पड़ी इस प्रकार वह विधि के रूप में परिणत हो गईं। इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में विधि स्वतंत्र और स्वयं पूर्ण था।

रामायण और महाभारत कालीन विधि की यह स्वतंत्रता हिन्दू

राजनीति-शास्त्र में एक विशेष स्थान रखती है जो राजतंत्रात्मक राज्य के अन्तर्गत जनतंत्रात्मक राज्य का एक विशेष लक्षण है और जिसे दुनियाँ की किसी भी अन्य जाति के राजनीति-शास्त्र में पाना असम्भव है ।

रामायण और महाभारतकालीन न्याय-व्यवस्था:—रामायण और महाभारत-काल में विधि और विधान के स्पष्ट करने का सबसे बड़ा अधिकारी राजगुरु अथवा पुरोहित माना जाता था । इस क्षेत्र में राजगुरु अथवा पुरोहित द्वारा किये हुए स्पष्टीकरण सर्वमान्य समझे जाते थे । यद्यपि राजगुरु किसी भी न्याय-सभा में न्यायाधीश का आसन ग्रहण नहीं करता था परन्तु प्रत्येक ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर विधि वा विधान के स्पष्टीकरण में कुछ भी मतभेद होता तो इस सम्बन्ध में उसकी सम्मति ली जाती थी और उसके द्वारा दिया हुआ स्पष्टीकरण अंतिम निर्णय समझा जाता था । इस दृष्टि से राजगुरु रामायण और महाभारत कालीन राज्य में सर्वोच्च न्यायालय Supreme court) के अभाव की पूर्ति करता था ।

राजगुरु के पश्चात् दूसरा सबसे बड़ा न्यायालय सभा थी । सभा के समस्त सदस्य न्यायकार्य में निपुण नहीं होते थे, इसलिए केवल वह सदस्य जो कि न्याय-कार्य करने की योग्यता रखते थे, न्याय-वितरण करने के लिए सभा में बैठा करते थे और उस समय यह सभा राज्य के न्यायालय के रूप में कार्य करती थीं ।

इसके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाएँ थीं जैसे—कुटुम्ब, नैगम, गण, श्रेणी, संघ आदि । न्याय-कार्य के लिए यह स्थानीय संस्थाएँ अपने अलग न्यायालयों का संगठन करती थीं । इन न्यायालयों में न्याय-कार्य बड़ी कुशलता एवं सुगमतापूर्वक हुआ करता था । प्रत्येक ग्राम में एक ग्रामसभा होती थी, जिसमें ग्राम-वृद्ध अथवा ग्राम-महत्तर न्याय-कार्य करते थे ।

कार्यकारिणी का मुख्य अधिकारी अर्थात् राजा भी न्यायाधीश के रूप में कार्य करता था । फौजदारी के महत्वपूर्ण अभियोग निर्णयार्थ उसके समक्ष प्रस्तुत किए जाते थे ।

इस प्रकार यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में न्याय-व्यवस्था का संगठन भली प्रकार किया गया था । गाँव या कुटुम्ब के छोटे-छोटे न्यायालयों से लेकर बड़े से बड़े न्यायालयों का निर्माण किया गया था ।

इस विषय में दूसरी बात न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बंध में है। आधुनिक युग के कुछ राज्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यकारिणी के द्वारा होती है और दूसरे राज्यों में उनकी नियुक्ति के लिए निर्वाचन-प्रथा से काम लिया जाता है। ऐसा विदित होता है कि रामायण और महाभारत कालीन न्यायाधीश अधिकतर दूसरी कोटि के थे। स्थानीय संस्थाओं के न्यायालयों में न्यायाधीश निर्वाचन द्वारा नियुक्त होते थे। ग्राम-पंचायतों में भी यही प्रथा प्रचलित थी। केन्द्रीय-सभा में भी प्रजा के प्रतिनिधि सभासद होते थे और इस नाते से सभा के न्यायाधीश इसी कोटि में परिगणित किए जायँगे। राजगुरु की नियुक्ति में भी कार्यकारिणी का विशेष अधिकार न था क्योंकि उसकी नियुक्ति ब्राह्मणवर्ग के अधीन थी और वह अपना राजा सोम को मानता था।

इस प्रकार यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में न्यायालयों का संगठन जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार किया गया था और यह हिन्दू राजनीति-शास्त्र की एक विशेषता मानी जायगी।

प्रथक शक्तिकरणः—(separation of powers) हिन्दू राजनीति शास्त्र की एक और विशेषता यह थी कि राज्य का संगठन प्रथक शक्तिकरण (separation of powers) के सिद्धान्त पर किया गया था। प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारकों ने प्रथक शक्ति-करण के सिद्धान्त की महिमा एवं उसकी उपयोगिता को भलीभाँति समझ लिया था। उन्होंने अपने राज्य-संचालन में इस सिद्धान्त को इस धारणा से अपनाया था कि इस प्रणाली से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा भली-भाँति हो सकेगी। विश्व के विभिन्न राज्यों में इस सिद्धान्त के प्रचलित रूप के विवेचनात्मक अध्ययन से यह विदित होता है कि राज्य की विभिन्न शक्तियों का पूर्ण रूप से प्रथक करना चाहे सम्भव हो परन्तु रचनात्मक कार्य करनेवालों के लिए आदर्श मात्र ही समझा जायगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतंत्रात्मक राज्य के संस्थापक प्रथक शक्तिकरण सिद्धान्त के प्रबल पोषक थे; परन्तु वह भी अपने राज्य की इन शक्तियों को पूर्ण रूप से प्रथक करने में सफल न हुए। इस सिद्धान्त की आत्मा को जीवित रखने के लिए उन्हें प्रतिबन्ध और संतुलन (checks and ballances) के सिद्धान्त को अपनाना पड़ा।

इसलिए रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में इस ओर खोज करना कि इन राज्यों में प्रथक शक्तिकरण सिद्धान्त का पूर्ण रूप से पालन किया गया होगा बड़ी भूल होगी। इन राज्यों के संस्थापकों ने भी अपने राज्य के संगठन और संतुलन के सिद्धान्त को रखकर प्रथक शक्तिकरण सिद्धान्त की आत्मा को जीवित रखने का प्रयत्न किया था। परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि इन हिन्दू राज्यों में विधिनिर्माण विभाग में प्रथक शक्तिकरण के सिद्धान्त का अक्षरश: पालन किया गया है और राज्य के इस क्षेत्र में उन्हें पूर्ण सफ-लता प्राप्त हुई है। इन्होंने विधिनिर्माण को राज्य के अन्य विभागों से अलग रखने की निराली योजना रखी जिसके आधार पर राज्य की विधिनिर्माण शक्ति नितान्त प्रथक हो गई। जिसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हिन्दू राज्य के प्रत्येक विभाग में विधि की प्रधानता स्थिर हो गई। राज्य के एक साधारण नागरिक से लेकर उच्चतम नागरिकों तक के मस्तिष्क में विधि की प्रधानता की स्थायी छाप लगी हुई थी और जिसने राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को भी विधि के नियंत्रण में जकड़ दिया था। इस प्रकार लोगों की यह धारणा बन गई थी कि उनके ऊपर एक मनुष्य वा कुछ मनुष्यों के वर्ग का शासन नहीं था। वह विधि द्वारा शासित थे और जो राज्य के प्रत्येक नागरिक के लिए समान रूप से लागू किए जाते थे। इस विधि के सामने ऊँच, नीच, धनी, निर्धनी आदि का भेद-भाव न था।

विधि-निर्माण के साधनों की विवेचना इसी पुस्तक के पंचम अध्याय में भली भाँति की जा चुकी है। इसलिए उनका यहाँ पुन: वर्णन केवल समय का नष्ट करना होगा। इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि रामा-यण और महाभारत कालीन विधि का निर्माण एवं उनका विकास स्वतंत्र रूप से हुआ था। विधि निर्माण एवं उसके विकास की दृष्टि में कार्यकारिणी एवं न्याय-सभा से उसका लेशमात्र भी सम्बन्ध न था। रामायण और महाभारत कालीन विधि का राज्य की कार्यकारिणी एवं न्याय सभा से केवल इतना सम्बन्ध था कि वह भी क्रमशः विधि के लागू करने तथा स्पष्ट करने का कार्य करती थी। राज्य में एक विधि का भी निर्माण करना उनके अधिकार-क्षेत्र से सर्वथा बाहर था। राज्य के विधि के अधिक अंश की उत्पत्ति दैवी थी। कुछ विधि वीतराग ऋषि-मुनियों द्वारा निर्माण किए गए थे और अवशेष अंश का निर्माण

उस काल के लोगों में प्रचलित रीतियों, पद्धतियों, रूढ़ियों आदि के आधार पर हुआ था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रामायण एवं महाभारत-काल के हिन्दू राज्यों में विधि कार्यकारिणी एवं न्यायसभा से नितान्त प्रथक था। उन्हें विधिनिर्माण-कार्य में हस्तक्षेप करने का लेश-मात्र भी वैध अधिकार प्राप्त न था। विधान की ओर से प्रदान की हुई विधि की इस स्वतंत्रता ने राज्य में प्रजा की स्वतंत्रता की रक्षा में बड़ी सहायता दी है और उसने प्रजा के अधिकारों को व्यर्थ के लिए हड़प लेने से सम्बन्धित राज्य की भावना पर पूर्ण रूप से प्रतिबन्ध लगाया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यकारिणी की जो स्थिति थी उसपर भी विचार कर लेना आवश्यक है। रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्यों की मुख्य कार्यकारिणी राजा था जिसकी नियुक्ति का प्रस्ताव कार्यकारिणी अर्थात शासक राजा के द्वारा जो कि अपने पद से अलग होनेवाला हुआ करता था, किया जाता था। भावी राजा की नियुक्त सम्बन्धी ऐसे प्रस्ताव की स्वीकृति प्रजा द्वारा अथवा उनके प्रतिनिधियों द्वारा होनी अनिवार्य समझी जाती थी। इस प्रकार कुछ प्रतिबन्धों के साथ प्रजा को अपने राज्य की मुख्य कार्यकारिणी की नियुक्ति का अधिकार था। इस प्रकार रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों की कार्यकारिणी की नियुक्ति न तो राज्य की विधि शाखा और न न्यायशाखा के द्वारा होती थी। इसकी नियुक्ति प्रजा स्वयं अथवा अपने प्रतिनिधियों के द्वारा करती थी। इस दृष्टि से रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों की कार्यकारिणी राज्य की विधिशाखा और न्यायशाखा के अधिकार से मुक्त थी।

परन्तु यहाँ पर यह लिख देना आवश्यक है कि प्रजा अथवा उसके प्रतिनिधि अपने राज्य की कार्यकारिणी की नियुक्ति की स्वीकृति प्रदान करने में पूर्ण स्वतंत्र न थे। उन्हें अपनी स्वीकृति देते समय उनके समस्त वैध प्रतिबन्धों को ध्यान में रखना पड़ता था। जिनके अनुसार उसकी नियुक्ति होनी अनिवार्य थी और जिन प्रतिबन्धों का निर्माण उनके द्वारा नहीं हुआ था। विधि-निर्माणकर्त्ताओं का यह एकमात्र अधिकार था कि वह इन प्रतिबन्धों का निर्माण करें। यह प्रतिबन्ध परम्परा-गत थे। कार्यकारिणी की नियुक्ति, उसके अधिकारों की सीमा एवं

कार्य-प्रणाली आदि विषय से सम्बन्धित नियम राज्य के विधियों के द्वारा नियत थे। कार्यकारिणी को इन्हीं नियमों द्वारा सीमित एवं परिमित क्षेत्र में कार्य करना पड़ता था। इस प्रणाली से कार्यकारिणी के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा की गई थी।

इस दृष्टि से रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्य की कार्यकारिणी पर राज्य की विधिशाखा का बड़ा प्रभाव एवं नियंत्रण रहता था। परन्तु कार्यकारिणी को पदच्युत करना विधिशाखा के अधिकार-क्षेत्र के बाहर था। उसके पदच्युत करने से सम्वन्धित प्रस्ताव को न्यायविभाग के सर्वोच्च अधिकारी अर्थात् राजगुरु के द्वारा सभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। इस प्रस्ताव पर सभा विचार करती और अपना निर्णय देती थी। परन्तु सभा की विधिनिर्माण शाखा से सम्बन्ध न था। वह आधुनिक धारा-सभाओं से भिन्न होती थी। सभा में प्रजा के विभिन्न हितों वा वर्गों के प्रतिनिधि बैठते थे। दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि कार्यकारिणी के पदच्युत करने के प्रस्ताव पर प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा निर्णय दिया जाता था। इस नाते से रामायण और महाभारत कालीन कार्यकारिणी राज्य की विधि-शाखा एवं न्यायशाखा से नितान्त स्वतंत्र थी। ऐसे अवसरों पर न्याय-विभाग का केवल इतना कर्तव्य होता है कि वह कार्यकारिणी के पदच्युत करने का प्रस्वाव सभा के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करे; परन्तु उसके पदच्युत करने वा न करने का पूर्ण अधिकार स्वयं प्रजा वा उसके प्रतिनिधियों को था।

कार्यकारिणी का स्थिति सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन यह सिद्ध करता है कि कार्यकारिणी पर राज्य की विधिशाखा एवं न्यायशाखा का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ता था परन्तु उसकी नियुक्ति एवं वियुक्ति का अधिकार उन्हें प्राप्त न था। यह अधिकार एकमात्र राज्य की प्रजा को प्राप्त था।

राज्य की न्याय सम्बन्धिनीशाखा का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह उन विधियों को स्पष्ट करे जो कि राज्य की विधिनिर्माण करने-वाले व्यक्तियों वा संस्थाओं के द्वारा समय-समय पर निर्माण किए जाते हैं। रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों में न्यायशाखा के संगठन, उसके अधिकारों एवं कार्यप्रणाली आदि से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्ति के हेतु इन दोनों ग्रंथों में प्रामाणिक सामग्री का प्रायः अभाव सा है।

परन्तु इस सम्बन्ध में जो कुछ अल्प प्रामाणिक सामग्री प्राप्त है उसके आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति, अधिकांश मात्रा में स्वयं प्रजा के द्वारा अथवा प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा तथा स्थानीय संस्थाओं के द्वारा की जाती थी। न्याय-कार्य का अधिकांश स्थानीय संस्थाओं जैसे कुटुम्ब, ग्राम, सभा, नैगम, पौर, जानपद, गण, संघादि के द्वारा होता था जिनमें स्थानीय प्रजा के प्रतिनिधि उन्हीं के द्वारा नियुक्त किए हुए होते थे और न्याय वितरण करते थे।

स्थानीय संस्थाओं के ऊपर प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सभाएँ भी थीं। यह सभाएँ भी न्यायालय के रूप में काम करती थीं। परन्तु इनमें भी प्रजा के ही प्रतिनिधि सभासद होते थे और इस दृष्टि से यह सभाएँ भी जनतंत्रात्मक होती थीं। इसके उपरान्त विधि स्पष्टीकरण का सब से बड़ा अधिकारी राजगुरु वा राजपुरोहित होता था। वह भी राज्य के विद्वत्समाज का प्रतिनिधि होता था और वैध-अधिकार की दृष्टि से वह भी कार्यकारिणी के आधिपत्य से मुक्त होता था। इस दृष्टि से राज्य की न्यायशाखा राज्य की कार्यकारिणी एवं विधिशाखा के आधिपत्य से सर्वथा मुक्त थी। परन्तु दूसरी ओर यह बात भी थी कि राज्य में न्याय-वितरण-कार्य का अधिक अंश कार्यकारिणी के सदस्यों द्वारा किया जाता था। राजा जो कि कार्यकारिणी का मुख्य अधिकारी होता था, राज्य में फौजदारी के महत्वपूर्ण अभियोगों को सुनता और उन पर अपना निर्णय देता था। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य भी न्याय-वितरण-सम्बन्धी कार्य करते थे। ग्राम-सभाओं के सदस्य भी इस कार्य का सम्पादन अपने क्षेत्र में करते थे। परन्तु इन स्थानीय संस्थाओं के सदस्य शासन-कार्य में भी भाग लेते थे। अपने क्षेत्र में स्वच्छता का आयोजन करना, आने-जाने के मार्गों की व्यवस्था करना, शान्ति स्थापित करना आदि शासन-सम्बन्धी कार्य इन्हीं सदस्यों द्वारा सम्पादित होते थे। इस नाते से यह अपने क्षेत्र की स्थानीय सरकार की कार्यकारिणी के भी सदस्य होते थे। इस प्रकार इन स्थानीय संस्थाओं के ये सदस्य न्याय और कार्यकारिणी दो विभागों के अधिकारी होते थे। वह अपने-अपने क्षेत्र के न्यायालयों में अभियोगों के सुनने, उन पर निर्णय देने के लिए बैठते थे और दूसरे समय में कार्यकारिणी के सदस्य के रूप में शासन-कार्य में भाग लेते थे।

इस प्रकार यह विदित होता है कि रामायरण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्यों में उनकी सरकार के मुख्य अंगों (कार्यकारिणी,विधि, एवं न्यायशाखा) का संगठन प्रथक शक्तिकरण सिद्धान्त के आधार पर हुआ था। परन्तु इस सिद्धान्त को रचनात्मक रूप देने में केवल विधि-शाखा को प्रथक करने में ही पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। राज्य की अन्य शाखाओं में इस नियम का अक्षरशः पालन न हो सका। एक ही व्यक्ति-न्याय-सभा म बैठकर विधि-स्पष्टीकरण कार्य और कार्यकारिणी के रूप में कार्य करता हुआ पाया जाता था। कार्यकारिणी और न्याय-विभाग के अधिकारियों के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना असम्भव है।

परन्तु सरकार की विधि-निर्माण शक्ति का अपनी सहचरी कार्य-कारिणी एवं न्याय-शक्तियों से पूर्णतयः प्रथक हो जाना हिन्दू राजनीति की एक बड़ी विशेषता रही है। इस व्यवस्था के सफलतापूर्वक चलने से कार्यकारिणी और न्यायविभाग अनेक विकारों से मुक्त हो गए और विधि की प्रधानता स्थिर होने के लिए उन्होंने बड़ा अवसर दिया जिसका यह परिणाम हुआ है कि रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक हिन्दू राज्यों के संगठन एवं संचालन में जनतंत्रवाद के तत्वों ने अपना घर कर लिया और इन राजतंत्रात्मक राज्यों की सरकारों ने आन्तरिक रूप से प्रजातंत्रात्मक राज्य की सरकार का चोला पहन लिया।

विकेन्द्रीकरण (Decentralisation):—हिन्दू राजनीति शास्त्र का एक और विशेष लक्षण यह था कि इस शास्त्र में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि राज्य के समस्त शासनाधिकार केन्द्रीय-सरकार तक ही सीमित नहीं रहने चाहिए। जनता की स्थानीय आवश्यक-ताओं एवं सुविधा को दृष्टिकोण में रखकर तत्सम्बन्धी संस्थाओं का जन्म होता है। राज्य के शासनाधिकारी का वह अंश जिसका सम्बन्ध स्थानीय विषयों से होता है इन संस्थाओं को प्राप्त होना चाहिए। रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनता की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय संगठित जन-समुदायों एवं संस्थाओं द्वारा होती थी और जिनका निर्माण उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु प्रकृति ने स्वयं किया था। यह संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में शासन-कार्य स्वतत्र रूप से करती थीं। शासन के क्रियात्मक क्षेत्र में इन संस्थाओं पर केन्द्रीय सरकार का आधि-पत्य नहीं के बराबर था। इन संस्थाओं के अपने निजी विधि थे जो जनता की स्थानीय पद्धतियों, प्रथाओं और रूढ़ियों के रूप में परम्परागत

चले आ रहे थे। न्याय वितरण के लिए इनके अपने न्यायालय थे जो पंचायतों एवं सभाओं के रूप में थे और जिनके न्यायाधीशों की नियुक्ति उन्हीं के द्वारा उन्हीं में से की जाती थी। उनके ही प्रतिनिधि शासन के अन्य कार्य करते हुए कार्यकारिणी के अधिकारों को भोगते थे। यह स्थानीय संस्थाएँ अपने क्षेत्र में शासन-कार्य इस द्रुत गति एवं कुशलता-पूर्वक करती थीं कि केन्द्रीय सरकार को इन पर अपना आधिपत्य दिखाने का कभी अवसर ही न मिलता था। यह स्थानीय संस्थाएँ इतनी लोक-प्रिय थीं कि सामान्य जनता को केन्द्रीय सरकार द्वारा किए जानेवाले कार्यों का बोध ही न होने पाता था। यह संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र की जनता द्वारा संगठित की जाती थीं। अतः जनता अपनी इन स्थानीय संस्थाओं से ऐसे घुल-मिलकर रहती थी जैसे कुटुम्ब के सदस्य अपने घर में संकोचरहित स्वतंत्रतापूर्वक अपना जीवन आनन्दमय बिताते हैं। केन्द्रीय सरकार का इन संस्थाओं के प्रति केवल इतना कर्तव्य था कि वह इन की मान्यता स्वीकार कर ले। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार की ओर से इन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने के कोई अवसर न थे। केवल दो ऐसे अवसर होते थे जबकि केन्द्रीय सरकार इन संस्थाओं के द्वारा अपना कुछ अधिकार जनाने की चेष्टा करती थी। जब कभी देश पर वाह्य आक्रमण होनेवाला होता अथवा आन्तरिक शान्तिभंग करनेवाला कोई विप्लव राज्य में खड़ा होता, तो ऐसे अवसर पर केन्द्रीय सरकार इन स्थानीय संस्थाओं के द्वारा इन क्षेत्रों की प्रजा पर पूर्ण रूप से अपने आधिपत्य की चेष्टा करती थी।

विकेन्द्रीकरण के इस सिद्धान्त का यह फल हुआ कि हिन्दू राज्य में स्थानीय संस्थाएँ वास्तविक शासक बन गईं और यह संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्रों के दैनिक शासन-कार्य में केन्द्रीय शासन के आधिपत्य से नितान्त स्वतंत्र हो गईं। ऊपर बतलाया जा चुका है कि इन क्षेत्रों में बसनेवाली जनता की रीतियाँ, पद्धतियाँ और रूढ़ियाँ ही इनके लिए विधि थे। केन्द्रीय सरकार उन्हें प्रमाण मानकर मान्यता देती थी, फिर वह केन्द्रीय विधि का रूप ग्रहण कर लेते थे। इस प्रकार इन स्थानीय संस्थाओं के विधि केन्द्रीय सरकार के विधि-निर्माण का मुख्य उद्गम स्थान थे। स्थानीय सभाओं एवं पंचायतों आदि के द्वारा किए गए निर्णयों का केन्द्रीय सरकार भलीभाँति आदर एवं सत्कार करती थी।

इस प्रकार विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को अपनाकर महाभारत और

रामायण कालीन राजतंत्रात्मक राज्यों ने जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों को यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से अपने संगठन, एवं शासन-प्रणाली में उचित स्थान दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि रामायण एवं महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्य में जनतंत्रात्मक सरकार के मुख्य तत्वों का समावेश हो गया जिन्होंने राजतंत्रात्मक राज्य की रूप-रेखा ही बदल दी।

रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्य— रामायण और महाभारत के अन्तर्गत वर्णित राज्यों को मुख्य दो वर्गों में सुविधापूर्वक विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में वह समस्त राज्य परिगणित होंगे जिनमें राजतंत्रात्मक विधान को रचनात्मक रूप दिया गया था। दूसरे वर्ग में वह राज्य सम्मिलित थे जिनका संगठन गणतंत्रात्मक राज्यों के सिद्धान्तों पर हुआ था। यहाँ पर सबसे पहले इस ओर ध्यान दिया जायगा कि रामायण और महाभारत के अन्तर्गत जिन राजतंत्रात्मक हिन्दू राज्यों का उल्लेख है उनका स्वरूप किस प्रकार का था?

इस बात का भलीभाँति वर्णन किया जा चुका है कि रामायण और महाभारत कालीन राजा उस रूप में निरंकुश शासक न था जैसे कि मध्यकालीन युग के निरंकुश सम्राट् योरप और भारत देश में हुए हैं। हिन्दू राजा के स्वेच्छाचारी बनने के मार्ग में बड़ी रुकावटें थीं। राज्य में ब्राह्मण, मंत्रिपरिषद्, स्थानीय संस्थाएँ, जनमत और विधि की प्रधानता ने राजा के स्वेच्छाचार पर पूर्णरूप से प्रतिबंध लगा रखे थे और इन प्रतिबन्धों ने राजा के अधिकार को सीमित एवं नियंत्रित कर दिया था। इसका फल यह हुआ कि रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्य सीमिति अधिकारवाले अपने नाम के राज्य (Limited monarchy) में परिणत हो गये और जो जनतंत्रवादी सिद्धान्तों से ओत-प्रोत हो गया।

इस प्रकार के हिन्दू राज्य की एक और विशषता यह थी कि राज्य में कोई भी ऐसा न तो शासन-क्षेत्र ही अवशेष रहा और न शासकवर्ग ही जिसे राज्य के विधियों द्वारा नियमित एवं नियंत्रित न कर दिया गया होता। इसलिए रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्य के शासन के प्रत्येक विभाग में विधि की प्रधानता स्पष्टरूप से स्थिर हो गई थी। इन राज्यों के संस्थापकों ने इन नियमों का निर्माण कर यह निर्धारित कर दिया था कि राजपद-प्राप्ति

के हेतु कुछ विशेष नियमों का पालन करना होगा और यह भी निर्धारित कर दिया गया था कि राजा को शासन-कार्य-संचालन भी निर्धारित नियमों के अनुसार ही करना होगा। इसलिए राजा का उत्तरदायित्व इन्हीं नियमों पर था अथवा यों कहना चाहिए कि राजा का उत्तरदायित्व राज्य के शासन-विधान पर निहित हो गया।

राज्य के शासन-विधान में ही राजा के मंत्रियों तथा राज्य के अधिकारियों एवं अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति, उनके अधिकारों तथा कर्तव्यों एवं कार्य करने की शैली आदि का आयोजन भलीभांति कर दिया गया था। राज्य के प्रत्येक अधिकारी तथा कर्मचारी को अपने पद पर नियुक्त होने के लिए निर्धारित योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती थी और यह निर्धारित योग्यताएँ उक्त पद पाने के लिए अनिवार्य मानी जाती थीं। इसलिए राज्य में प्रत्येक प्रकार के अधिकारी वा कर्मचारी की नियुक्ति वा वियुक्ति-कार्य में राजा स्वतंत्र न था। शासन के प्रत्येक विभाग के संगठन, कार्य-संचालन एवं कार्य-प्रणाली इसी प्रकार के नियमों द्वारा निर्धारित कर दी गई थी और जिसके अनुसार राज्य के विधियों द्वारा उस पर पूर्ण नियंत्रण कर दिया गया था। इस प्रकार राज्य में कोई भी ऐसा शासन-क्षेत्र अवशेष न रह गया था जिस पर विधि-विधान का नियंत्रण न होता, जिस पर राजा अपने अधिकार के प्रयोग करने का अवसर पाता।

इसलिए यह परिणाम निकलता है कि राज्य के प्रत्येक अधिकारी वा कर्मचारी का उत्तरदायित्व राज्य के विधि-विधान पर था और इस विधि-विधान का निर्माण राज्य के किसी भी अधिकारी द्वारा न हुआ था। हिन्दू राजनीति-शास्त्र प्रणेताओं ने विधि वा विधान के निर्माण का अधिकार राज्य के किसी भी अधिकारी वा कर्मचारी को नहीं दिया था। विधि-विधान की इस प्रधानता और राज्य के प्रत्येक छोटे वा बड़े अधिकारी तथा कर्मचारी के कर्तव्यों एवं अधिकारों की सीमा की दृढ़ स्थिरता ने हिन्दू राजतंत्रात्मक राज्य को अपने नाम के वैधानिक राज्य में परिणत कर दिया था, जहाँ प्रत्येक कार्य राज्य के विधान अथवा विधियों पर निर्भर था।

इसी पुस्तक के दूसरे अध्याय में राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन दिया जा चुका है। रामायण और महाभारत काल में यद्यपि राजपद पैतृक अधिकार पर अवलम्बित था, तथापि राजपद प्राप्ति

के लिए कुछ परम्परागत प्रतिबंध एवं नियम प्रचलित थे जिनके अनुसार राजा की नियुक्ति होती थी। यह प्रतिबन्ध वा नियम इस प्रकार थे—वीरवंश में जन्म, ज्येष्ठता का अधिकार, शारीरिक क्षमता, आचरण की एक निर्धारित मात्रा, प्रजा की अनुमति, राज्याभिषेक एवं राजकीय शपथ, ऐसे नियम थे जिनका उल्लंघन राजपद देते समय नहीं किया जा सकता था। इन प्रतिबन्धों का पालन राजाओं द्वारा परम्परागत होता आया था। इसलिए यह प्रतिबन्ध उस काल के राजतंत्रात्मक राज्यों के शासन-विधान के विशेष अंग बन गए थे। यद्यपि इस शासन-विधान का अधिक अंश अलिखित था क्योंकि वह परम्परागत प्रथाओं, पद्धतियों एवं रूढ़ियों आदि पर आश्रित था, तथापि यह शासन-विधान प्रजा की दृष्टि में सर्वमान्य समझा जाता था।

रामायण तथा महाभारत कालीन हिन्दू राजतंत्रात्मक राज्यों की मंत्रिपरिषद् एवं सभाओं के सभासदों पर भी इसी प्रकार के नियम लागू थे। अपने-अपने पदों पर उनकी नियुक्ति कुछ निर्धारित नियमों एवं प्रतिबन्धों के आधार पर होती थी। उदाहरणार्थ मंत्रियों को अपने ही राज्य का नागरिक होना अनिवार्य था। उन्हें बहुश्रुत और विद्या एवं आयु दोनों में वृद्ध होना चाहिए था। उन्हें प्रजा का विश्वासपात्र होने की भी आवश्यकता थी। यह एवं इसी प्रकार के अन्य नियम भी जिनके अनुसार मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों वा सभा के सभासदों की नियुक्ति की जाती थी वा जिनके अनुसार उन्हें उनके पदों से वियुक्त किया जाता था शासन-विधान के अंग बन गए थे। यही सिद्धान्त राज्य के अन्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर भी लागू होता था।

इसलिए यह निश्चित है कि रामायण एवं महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक हिन्दू राज्य अपने नाम के वैधानिक राज्य थे।

रामायण और महाभारतकालीन गणतंत्रात्मक राज्यः— रामायण और महाभारत कालीन गणतंत्रात्मक राज्यों की रूपरेखा से परिचय प्राप्त करने के लिए हमें महाभारत में वर्णित इस सम्बन्ध की सामग्री पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। क्योंकि रामायण में तत्सम्बन्धी सामग्री का सर्वथा अभाव है। महाभारत में गणतंत्रात्मक राज्यों का वर्णन मिलता है। महाभारतकार ने इन्हें गण नाम से सम्बोधित किया है। भारत का उत्तरीपश्चिमी भाग उस काल में इस प्रकार के राज्यों से परिपूर्ण था। परन्तु महाभारत में भी उनकी रूप-रेखा एवं शासन-

प्रणाली के सम्बन्ध में कहीं भी स्पष्ट वर्णन नहीं मिलते। जहाँ-तहाँ इस ओर कुछ संकेत मात्र हैं जिनके आधार पर इन राज्यों के संगठन एवं कार्य-संचालन के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त होता है। इस संकीर्ण एवं संकुचित समिति का विवेचनात्मक अनुसंधान कर लेने के पश्चात् ऐसा विदित होता है कि यह गणराज्य अपने वास्तविक रूप में विद्यमान थे। महाभारत के शान्ति पर्व में नारद और कृष्ण का संवाद गणराज्यों के सम्बन्ध में दिया हुआ है जिसके अध्ययन कर लेने के उपरान्त यह विदित होता है कि गणराज्यों में राजा नहीं होता था और यदि होता भी था तो वह उस रूप में न होता था जिस रूप में कि राजतंत्रात्मक राज्यों में होता था। इस सम्वाद में इस प्रकार का वर्णन प्राप्त है कि अन्धक-वृष्णि गणराज्य के अध्यक्ष-पद की प्राप्ति के हेतु उग्र संघर्ष हो रहा था। इस गणराज्य में कई राजनीतिक दल (Parties) थे। जिनमें प्रत्येक दल अपने नेता को राज्य का अध्यक्ष बनाने के लिए प्रयत्नशील था। इस प्रकार इस वर्णन के आधार पर यह विदित होता है कि इन गणराज्यों में अध्यक्ष पद पैतृक अधिकार पर अवलम्बित न था। अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचन होता था। जो राजनीतिक दल-बन्दी के आधार पर होता था।

इसी राज्य में सुधर्मा नाम की सभा का भी उल्लेख है। यह सभा सार्वजनिक संस्था थी जिसमें जनतंत्रात्मक राज्य के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य-संचालन होता था। सुभद्राहरण के अवसर पर अंधक-वृष्णि राज्य के नागरिक जिसमें एकत्र होकर इस विषय पर वाद-विवाद करते हैं और फिर बहुमत द्वारा एक निर्णय पर पहुँचते हैं और जो निर्णय कार्य रूप में परिणत किया जाता है। इस सभा में समस्त विषय प्रस्ताव-रूप में लाए जाते थे जिस पर स्वतंत्र वाद-विवाद होता था। इस वाद-विवाद में इतनी स्वतंत्रता दी जाती थी कि कभी-कभी यह उग्र-रूप धारण कर लेता था। इसी प्रकार के वाद-विवाद के उग्ररूप की ओर कृष्ण ने नारद से संकेत किया था।

उपरोक्त वर्णन से यह विदित होता है कि रामायण एवं महाभारतकालीन गणराज्य अपने नाम के वास्तविक जनतंत्रात्मक राज्य थे जिनमें आधुनिक जनतंत्रवाद के लगभग समस्त तत्व विद्यमान थे।

दशम अध्याय

रामायण एवं महाभारतकालीन हिन्दू राज्यों में जनतंत्रवाद के तत्वों का स्वरूप

रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनातंत्रवाद के तत्वों के विवेचनात्मक अध्ययन के लिए उनके विशेष लक्षणों के अनुसार उनका वर्गीकरण करना आवश्यक है। इस दृष्टि से जनातंत्रवाद के इन तत्वों का विभाजन चार मुख्य वर्गों में सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इस नाते इन तत्वों को वैध, वैधानिक, संस्था और शासन सम्बन्धी इन चार तत्वों के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है।

जनतंत्रवाद के वैध तत्व

(क सार्वजनिक राजसत्ता—जनतंत्रात्मक राज्य का सबसे प्रधान लक्षण यह है कि उस राज्य की राजसत्ता उसी राज्य की प्रजा में निहित हो। राजतंत्रात्मक राज्य का यह प्रधान तत्व रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में भी पाया जाता था।

रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक हिन्दू राज्यों की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना राजा के राज्याभिषेक का संस्कार था। उस युग में भावी राजा को इस संस्कार के समस्त कृत्यों को जनता के समक्ष नियमानुसार करना पड़ता था। जब तक वह इस संस्कार को कर न लेता तब तक वह जनता की दृष्टि में साधारण नागरिक ही बना रहता था। राजा को इस संस्कार के कृत्यों को राज्य की समस्त प्रजा

वा उसके विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधियों के समक्ष करना पड़ता था। इस संस्कार का प्रत्येक कृत्य जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता था। इसी अवसर पर प्रजा राजसत्ता को उसे हस्तान्तरित करती थी। इसके बदले में राजा जिस प्रजा से राजसत्ता प्राप्त करता था उसके प्रति राजभक्त रहने की शपथ लेता था और तब वह उस राज्य का वैध राजा माना जाता था। प्रजा की दृष्टि में इस कृत्य के पूर्व वह उसका राजा न था, अपितु एक साधारण नागरिक था। इस समारोह का आयोजन इस उद्देश्य से किया जाता था कि सर्व साधारण प्रजा अपने नूतन राजा का साक्षात्कार करने का अवसर पा सकती। इस प्रकार भावी राजा को महत्वपूर्ण प्रतिबन्धों से जकड़ कर प्रजा वा उसके विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधियों के द्वारा उसे राजसत्ता हस्तान्तरित की जाती थी। इस अवसर पर समस्त जन समूह के सामने भावी राजा को घोषणा के द्वारा इस बात की चेतावनी दे दी जाती थी कि प्रजा अपनी राजसत्ता सार्वजनिक कल्याण के निमित्त उसे हस्तान्तरित कर रही है। इस प्रकार प्राप्त की गई राजसत्ता का उपयोग करने का वैध रूप से राजा तभी तक अधिकारी था जब तक कि वह उन प्रतिबन्धों को भली भाँति पालन करता रहता, जो राजसत्ता के हस्तान्तरित करते समय उस पर लागू किए गए थे। इस घटना से यह बोध होता है कि रामायण और महाभारतकालीन राजतंत्रात्मक हिन्दू राज्यों में राज-सत्ता प्रजा में निहित मानी जाती थी। प्रजा राजसत्ता को राजा के निमित्त इस प्रतिबन्ध के साथ हस्तान्तरित करती थी कि वह उसका उचित प्रयोग करेगा और यदि वह अपनी मूर्खतावश उसका अनु-चित प्रयोग करने की चेष्टा करता हुआ पाया जायगा तो वह राजसत्ता उससे तुरन्त वापस कर ली जाएगी। यदि राजा राजसत्ता को वापस करने में लेशमात्र भी संकोच करता हुआ पाया जायगा तो उससे यह राजसत्ता बलपूर्वक अपहरण कर ली जाएगी। इस प्रकार राज-सत्ता हीन वह राजा पुनः अपनी पूर्व स्थिति, साधारण नागरिक की स्थिति, को प्राप्त हो जाएगा।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में राज-सत्ता प्रजा में स्थित थी। प्रजा अपने राज्य के एक नागरिक को राज-सत्ता हस्तान्तरित करती थी। वह नागरिक इस राजसत्ता को पाकर उनका राजा बन जाता था। राजकीय शपथ जिसका ग्रहण करना भावी

राजा के लिए अनिवार्य कृत्य था और जिसके द्वारा वह प्रजाभक्त रहने का वचनवद्ध हो जाता था इस सिद्धान्त की भली-भाँति पुष्टि कर देती है कि रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक हिन्दू राज्यों में राजसत्ता उसी राज्य की प्रजा में निहित होती थी ।

(ख) राजकीय शपथ का जनतंत्रात्मक स्वरूप—आधुनिक युग के लगभग प्रत्येक सभ्य राज्य में उसके प्रधान अधिकारी को अपना पद ग्रहण करते समय एक निर्धारित शपथ ग्रहण करनी पड़ती है और उसे यह शपथ लोगों के समक्ष लेनी पड़ती है। परन्तु इस शपथ की शब्दावली भिन्न होती है ; क्योंकि प्रत्येक राज्य में राजकीय शपथ के प्रस्ताव का स्वरूप निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखना अनिवार्य है कि उस राज्य का संगठन किन आधारों पर किया गया है । यदि राज्य का संगठन राजतंत्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है तो ऐसे राज्य की राजकीय शपथ के प्रस्ताव का निर्माण इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होगा और यदि राज्य का संगठन जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है तो उस राज्य की राजकीय शपथ के प्रस्थाव में भी उन्हीं सिद्धान्तों का समावेश किया जाएगा । इस प्रकार किसी राज्य के स्वरूप को समझने के लिए उस राज्य के सर्वोच्च अधिकारी के निमित्त शपथ का जो प्रस्ताव होता है उसका विवेचन करने से बड़ी सहायता मिलती है ।

जब हम इस दृष्टिकोण से रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों की आत्मा को पहचानने का प्रयास करते हैं तो हमें ऐसा विदित होता है कि यह राजतंत्रात्मक राज्य वास्तव में जनतंत्रात्मक राज्य के तत्वों से ओत-प्रोत थे । राजकीय शपथ का प्रस्ताव (text) जोकि इन राज्यों में प्रचलित था और जिसका मन, वचन और कर्म से स्वीकार करना नागरिक को राजपद का अधिकारी बनाना जनतंत्रात्मक था । इस शपथ के ग्रहण करते समय राजा को प्रजाभक्त रहने के लिए वचनवद्ध होना पड़ता था और उसे समस्त उपस्थित जन-समुदाय के समक्ष इस बात की घोषणा करनी पड़ती थी कि वह प्रजाद्रोह कदापि न करेगा । राजकीय शपथ सम्बन्धी यह कृत्य निस्संदेह जनतंत्र का द्योतक है । इस शपथ का प्रस्ताव ब्राह्मण ग्रंथों में इस युग में भी ज्यों का त्यों प्राप्त है जिसका अनुवाद इस प्रकार है—जिस रात्रि में मैंने जन्म लिया है और जिस रात्रि में मैं मृत्यु को प्राप्त होऊँ इस मध्य में

मैंने जो पुण्य कमाए हों वह, मेरी सन्तति, मेरा जीवन और मेरा सर्वस्व नष्ट हो जाए यदि मैं तेरा (प्रजा का) द्रोह करूँ। इस प्रकार इस अवसर पर भावी राजा अपने समस्त पुण्यकर्म, अपनी सन्तति, अपना जीवन और यहाँ तक कि अपना सर्वस्व दाँव पर रखता हुआ भावी राजा प्रजाभक्ति की शपथ ग्रहण करता था। इसलिए उसके लिए प्रजाद्रोह सर्वथा वर्जित था।

महाभारत में भी राजकीय शपथ का प्रस्ताव इन्हीं विचारों से परिपूर्ण दूसरे शब्दों में दिया हुआ मौलिक रूप में प्राप्त है। उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—मैं मन, कर्म, और वाणी (मनसा, कर्मणा, गिरा) से यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं जगत को ब्रह्म का स्वरूप मानकर उसकी सर्वदा रक्षा करता रहूँगा तथा जो दण्डनीति के अनुकूल नित्य धर्म (नित्योक्तो दण्डनीति व्यपाश्रयः) महर्षियों ने कहा है मैं उसका सर्वदा निःशंक होकर पालन करूँगा (तमशङ्कः करिष्यामि) और कभी स्वेच्छाचारी न होऊँगा (स्ववशो न कदाचन)। इस शपथ के अनुसार राजा को जगत को ब्रह्म का स्वरूप मानकर उसकी रक्षा करने, दण्डनीति के अनुकूल महर्षियों द्वारा प्रतिपादित नित्यधर्म के पालन करने और कभी भी स्वेच्छाचारी न बनने की प्रतिज्ञा मन, कर्म और वाणी से करनी पड़ती थी।

इसलिए रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक हिन्दूराज्यों में प्रजातंत्रवाद का दूसरा वैध तत्त्व इन राज्यों में प्रचलित राजकीय शपथ का प्रस्ताव (text) था।

(ग) प्रथक शक्तिकरण (separation of powers)—राजनीति शास्त्र के लगभग समस्त पंडित इस सिद्धान्त पर दो मत नहीं रखते कि राज्य की सरकार को उसकी मुख्य शक्तियों से प्रथक रखने के आधार पर संगठित कर देने से उस राज्य के नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा होती है। यही सिद्धान्त जनतंत्रात्मक राज्यों का एक महत्वपूर्ण लक्षण माना जाता है। इसी प्रकार यह सिद्धान्त जनतंत्रवाद का एक विशेष तत्व समझा जाता है।

इस पुस्तक के पिछले अध्याय में इस विषय पर विशेष वर्णन दिया जा चुका है कि रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों की सरकार का संगठन इस सिद्धान्त के आधार पर किया गया था। इन राज्यों की सरकार के मुख्य अंगों की संस्थाओं एवं उनके अधिकारी गणों तथा

कर्मचारियों की प्रथक व्यवस्था करके इन विभिन्न अंगों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखाएँ खींचकर इन अंगों को एक दूसरे से प्रथक रखने का पूर्ण उद्योग किया गया था। इन अंगों के संगठन एवं कार्य-संचालन में यह व्यवस्था देने का भरसक प्रयत्न किया गया था कि सरकार का एक अंग दूसरे अंग पर अनुचित आधिपत्य न जमा सके। इन राज्यों में विधि-निर्माण हेतु, उनके स्पष्ट करने और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए प्रथक-प्रथक संस्थाएँ थीं। सरकार के एक अंग के अन्तर्गत कार्य-संचालन के हेतु अधिकारियों एवं कर्मचारियों के लिए विशेष प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती थी। सरकार के कर्मचारिणी-विभाग में पद पाने के लिए तत्सम्बन्धी विशेष योग्यताओं को, पद ग्रहण करने के पूर्व, प्राप्त करना अनिवार्य समझा जाता था और सरकार के अन्य विभागों में सेवा करने के अधिकारी बनने के लिए भी इसी नियम का अनिवार्य-रूप से पालन करना पड़ता था।

इसी प्रकार इन राज्यों की सरकार के एक विभाग से सम्बन्धित संस्थाओं एवं उनसे सम्बन्धित पदों का संगठन भी सरकार के दूसरे विभाग से सम्बन्धित संस्थाओं एवं उनसे सम्बन्धित पदों के संगठन से प्रथक ही रखने का प्रयास किया गया था। न्याय-विभाग का संगठन प्रथक किया गया था। इन राज्यों में एक ओर यह देखने में आता है कि ग्राम की छोटी-से-छोटी न्याय-सभा से लेकर राज्य के उच्चतम न्यायालयों तक एक शृंखला बनी हुई थी जो न्यायविभाग के अन्तर्गत स्थिरतापूर्वक खड़ी हुई थी और दूसरी ओर ऐसी संस्थाओं की एक श्रेणीवद्ध पंक्ति दृष्टिगोचर होती है जिसका कार्यकारिणी से ही सम्बन्ध था। ग्राम के छोटे-से-छोटे अधिकारी से लेकर राज्य की कार्यकारिणी के उच्चतम अधिकारी अर्थात् राजा तक अनेकों अधिकारी-गण तथा कर्मचारी एवं उनसे सम्बन्धित संस्थाएँ थीं, जो कार्यकारिणी के अन्तर्गत स्वतंत्रतापूर्वक कार्य-संचालन में संलग्न थीं। इसमें संदेह नहीं कि राज्य में न्याय-विभाग और कार्यकारिणी-विभाग के कुछ ऐसे अधिकारीगण भी थे जो न्याय और कार्यकारिणी दोनों विभागों के कुछ कार्य करते थे परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि इन विभागों मे प्रथक शक्तिकरण सिद्धान्त के पालन करने का भरसक प्रयत्न किया गया था। राज्य का विधि-निर्माण-विभाग तो राज्य के अन्य विभागों से नितान्त प्रथक था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में उनकी सरकारों का संगठन प्रथक शक्तिकरण के सिद्धान्त के आधार पर किया गया था। इन राज्यों का यह सिद्धान्त जनतंत्रवाद का एक महत्वपूर्ण वैध तत्व माना जाएगा।

(घ) सर्वोच्च न्याय-सत्ता:—जनतन्त्रात्मक राज्य में शासन-विधान को स्पष्ट करने एवं सरकार की विभिन्न शाखाओं के क्षेत्र को निर्धारित करने और राज्य के शासक और शासितवर्ग के बीच में उचित सम्बन्ध स्थिर करने के लिए एक सर्वोच्च न्याय-सत्ता की स्थापना करने की परम आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक युग के लगभग प्रत्येक जनतन्त्रात्मक राज्य के शासन-विधान में ही इस प्रकार की सत्ता के निर्माण का आयोजन कर दिया जाता है।

रामायण एवं महाभारत कालीन राज्य के शासन-विधान में भी इसी प्रकार की सर्वोच्च न्याय-सत्ता के निर्माण करने का आयोजन था। राजगुरु अथवा पुरोहित के रूप में इस सत्ता का निर्माण किया गया था। हिन्दू राजा वैध रूप से राज्य की कार्यकारिणी का सर्वोच्च अधिकारी था। राजगुरु राजा के अधीन न था। राजगुरु विधि के क्षेत्र में सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था। विधि-विभाग वा न्याय-विभाग की सर्वोच्च सत्ता हिन्दू राजा में निहित न थी। राजगुरु विधि का साक्षात रूप समझा जाता था और विधि के स्पष्ट करने के लिए सर्वोच्च सत्ता उसी में निहित मानी जाती थी। न्याय के क्षेत्र में उसके द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता था। राज्य में किसी दूसरी सत्ता को इस क्षेत्र में उसके द्वारा दिए गए निर्णय को उलट देने का अधिकार न था।

राजगुरु सोम के अधीन माना जाता था। इसलिए उसकी श्रद्धा-भक्ति सोम में थी। राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर राजगुरु की स्वतन्त्रता की घोषणा जनता के समक्ष की जाती थी। राजगुरु स्वयं राजा की उपस्थिति में यह घोषणा करता था—इस प्रकार अभिषिक्त किया गया राजा हम ब्राह्मणों का राजा नहीं है; हमारा राजा सोम है (सोमोऽस्माकंब्राह्मणानाम् राजा) इस प्रकार विधि एवं विधान के स्पष्टीकरण सम्बन्धिनी सर्वोच्च सत्ता राजगुरु में निहित मानी जाती थी।

इसलिए रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में आधुनिक जनतन्त्रात्मक राज्यों की भाँति सर्वोच्च न्यायालय (supreme

court) के रूप में राजगुरु की स्थापना कर जनतन्त्रवाद के सर्वोच्च न्यायसत्ता के वैध तत्व का समावेश किया गया था।

(ङ) विधि की प्रधानता:—प्रत्येक राज्य में प्रजा के अधिकारों एवं स्वतंत्रता की रक्षा के निमित्त यह अनिवार्य समझा जाता है कि शासक और शासित दोनों वर्गों के कर्तव्यों और अधिकारों के क्षेत्र को विधियों के द्वारा स्पष्ट कर उनके मध्य भाग में एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच देनी चाहिए, जिससे एक नागरिक दूसरे नागरिक के अधिकारों का अपहरण न कर सके। इस सिद्धान्त को दृष्टिकोण में रखकर प्रत्येक प्रजातंत्रात्मक राज्य में विधि-निर्माण-कार्य किया जाता है। ऐसे राज्यों में शासक और शासितवर्ग स्वेच्छाचारी नहीं होने पाते। दोनों को राज्य के विधियों के अनुसार अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमा निर्धारित करनी पड़ती है। जिन राज्यों में शासित और शासक-वर्ग दोनों के द्वारा इस सिद्धान्त का पालन होता है उनमें अधिक से अधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा होती हैं।

इसलिए प्रत्येक राज्य में मानव जाति के अधिकारों और स्वतंत्रता की सबसे अधिक रक्षा का साधन विधि की प्रधानता है और इस प्रकार यह मानव जीवन में जनतंत्रवाद का वास्तविक वैध तत्व होता है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन विधियों का निर्माण निष्पक्ष एवं स्थिर बुद्धिवाले वीतराग व्यक्तियों के द्वारा सम्पादित होना चाहिए; जिनके जीवन का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण करना होता है। विधि-निर्माणकर्ताओं को न्याय-विभाग और कार्यकारिणी-विभाग के विकारों से सर्वथा अछूता रहना चाहिए। उन्हें लोभ मोहादि विकारों के प्रभाव से दूर रहना चाहिए। विधि-निर्माण करते समय उनके मस्तिष्क स्पष्ट, पवित्र और स्थिर होने चाहिए।

इस पुस्तक में इस बात का उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि प्राचीन भारत में विधि-निर्माण-कार्य नितान्त पृथक और स्वतन्त्र था। विधि-निर्माण-कार्य पर कार्यकारिणी अथवा न्याय-विभाग का लेशमात्र भी प्रभाव न था और न इनमें से किसी एक का यह कर्तव्य अथवा अधिकार ही था कि वह विधि-निर्माण-कार्य में हस्तक्षेप करता। रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों के विधि का अधिक अंश

ब्रह्मा ने स्वयं उत्पन्न किया था। इसलिए विधियों का यह अंश दल-बन्दियों के दोषों से सर्वथा मुक्त था और वैधरूप से इस विषय में स्वयं पूर्ण था। विधि के अवशेष अंश के कुछ भाग का निर्माण ऐसे ऋषि-मुनियों द्वारा हुआ था जो वीतराग थे। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानवसमाज को उस पवित्र पथ का प्रदर्शन कराना था जिस पर चलकर उन्हें चिरन्तन सुख और शान्ति की प्राप्ति हो सकती थी। विधि के अवशेष्ट भाग का निर्माण राज्य के विभिन्न वर्गो की जनता में प्रचलित प्रथाओं, पद्धतियों एवं रूढ़ियों के आधार पर स्वभावत: हुआ था। मानवसमाज के विकास के साथ-साथ उनका भी विकास हुआ था। इसलिए रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू विधि स्वभावत: पवित्र, दोषरहित, और दलबन्दी के विकारों से सर्वथा मुक्त था। इस विधि का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया था कि इसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर सकेगा।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह थी कि यह विधि पूर्ण था। मानव जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र के नियंत्रण के लिए यह विधि पर्याप्त था। इस विधि के अन्तर्गत व्यक्तिगत अधिकारों और कर्तव्यों के वर्णन के साथ-साथ शासक और शासित के अधिकारों और कर्तव्यों का भली भाँति निरूपण किया गया था। इसलिए राज्य का कर्त्तव्य केवल इतना रह गया था कि वह इन विधियों को स्पष्ट करे और उन्हें वास्तविक रूप में कार्यान्वित करे। इसीलिए रामायण और महाभारत कालीन राजा को विधि के नियंत्रण में कर दिया गया था और राज्य में उसका स्थान विधि से निम्न कर दिया गया था। ऐसी स्थिति में राजा का कर्तव्य केवल इतना था कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे उसके राज्य की प्रजा राज्य के विधि के अनुकूल चलकर मोक्ष प्राप्त कर ले। यदि कोई व्यक्ति इस कार्य में बाधक सिद्ध होता तो राजा का यह कर्तव्य था कि वह उसे दण्डित करता। यदि राज्य के विधि पालन करने के मार्ग में प्रजा के समक्ष कोई कठिनाई आजाती तो उसे दूर करना राजा का कर्तव्य था।

रामायण और महाभारत कालीन राज्य में विधि की यह प्रधानता मनुष्य के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में पथ-प्रदर्शन एवं अन्तिम निर्णय देने का कार्य करती थी। इसका परिणाम यह हुआ था कि इन राज्यों की

प्रजा सदैव यह अनुभव करती रही कि उसके ऊपर विधि का शासन है, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। इस युग के राक्षस-राज्यों में भी विधि की प्रधानता को मान्यता दी जाती थी। लंका राज्य में प्रवेश कर हनुमान ने घोर उत्पात किए थे। राजा की प्यारी वाटिका को उन्होंने उजाड़ दिया, अनेक राक्षसों का वध किया, यहाँ तक कि राजा के पुत्र को भी उन्होंने मृत्यु के घाट उतार दिया, जिसके कारण राजा रावण हनुमान पर अत्यन्त कुपित था। यह सब होते हुए भी राजा को विधि की प्रधानता को मान्यता देनी पड़ी और हनुमान पर दूत सम्बन्धी विधि लागू किया गया था।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्य में विधि की प्रधानता में प्रजातंत्रवाद का एक महान् वैध तत्व विद्यमान था।

जनतंत्रवाद के वैधानिक तत्व—अभी तक हमने जनतंत्रवाद के उन तत्वों की विवेचना की है जिनका सम्बन्ध रामायण और महाभारत कालीन राज्य के विधि से था। अब हमें उनके वैधानिक स्वरूप का विवेचन करना है। इस विषय की विवेचना करने के पूर्व यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि रामायण और महाभारत कालीन हिंन्दू राज्य का विधान प्राचीन पद्धतियों, प्रथाओं और रूढ़ियों आदि पर निर्भर था। इस नाते से यह शासन-विधान अलिखित शासन-विधान की कोटि में परिगणित किया जायगा।

(क निर्धारित योग्यताओं तथा प्रतिबन्धों के आधार पर राज्य के प्रत्येक अधिकारी तथा कर्मचारी की नियुक्ति एवं वियुक्ति—रामायण और महाभारतकालीन हिन्दू राज्यो के प्रत्येक महत्वपूर्ण पद पर नियुक्ति के लिए निर्धारित योग्यताओं एवं प्रतिबन्धों के नियम का पालन करना अनिवार्य था। इस नियम का उल्लंघन करना ही राज्य के अधिकारी वा कर्मचारी को उसके पद से वियुक्ति का पात्र बना देता था।

रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्यों में सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी राजा समझा जाता था। राजा की नियुक्ति के लिए जिन योग्यताओं एवं प्रतिबन्धों की आवश्यकता थी उनका आयोजन मंत्रि-परिषद् की सदस्यता प्राप्त करने के लिए भी कुछ विशेष योग्यताओं और प्रतिबन्धों को निर्धारित कर राज्य के शासन-विधान का एक अंग बना दिया गया था। उदाहरणार्थ मंत्रिपद के लिए शुद्ध

एवं पवित्र वंश में जन्म, उच्च कोटि का आचरण, शासन सम्बन्धी वृहद् अनुभव, उसी राज्य का ही नागरिक होना, प्रजा का उसमें विश्वास होना आदि ऐसी अनिवार्य योग्यताएँ थीं जिनकी ऐसे अवसर पर उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

इसी प्रकार सभा की सदस्यता एवं राज्य के विभिन्न पदों की प्राप्ति के लिए भी पूर्व-निर्धारित कतिपय प्रतिबन्धों एवं योग्यताओं की नितान्त आवश्यकता थी।

राज्य के प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी को उसके पद से वियुक्त करने के लिए कुछ विशेष प्रतिबन्धों का आश्रय लेना पड़ता था और इन प्रतिबन्धों को भी राज्य के शासन-विधान में उचित स्थान प्राप्त था।

रामायण और महाभारत दोनों में इस बात के प्रमाण हैं कि उस युग में इन नियमों का कठोरतापूर्वक पालन होता था। राज्य के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को नियुक्त वा वियुक्त करनेवाली सत्ता पर शासन-विधान की ओर से इस प्रकार के प्रतिबन्धों का होना जनतंत्रवाद का एक महत्वपूर्ण लक्षण है और यह लक्षण जनतंत्रवाद के वैधानिक तत्वों में से एक महत्वपूर्ण तत्व समझा जायगा।

(ख) रामायण और महाभारत कालीन राजा की नियुक्ति में प्रजा की अनुमति—रामायण और महाभारत कालीन हिंदू राज्यों में राजा की नियुक्ति कतिपय निर्धारित योग्यताओं एवं प्रतिबंधों के आधार पर होती थी और इन योग्यताओं और प्रतिबन्धों का आयोजन राज्य के शासन-विधान में ही रहता था। परन्तु शासन-विधान की ओर से राज्य की प्रजा को यह अधिकार प्राप्त था कि वह भावी राजा के नियुक्ति सम्बन्धी प्रस्ताव पर अपना निर्णय दे। राज्य की प्रजा की स्वीकृति लिए बिना राजपद पर किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति नहीं की जा सकती थी। रामायण और महाभारत कालीन राजाओं की नियुक्ति के अवसर पर इसी प्रणाली को अपनाया जाता था।

उस युग में यह नियम स्थिर हो चुका था कि भावी राजा की नियुक्ति का प्रस्ताव राज्य के उसी राजा के द्वारा जो कि अपना पद त्यागने जा रहा है प्रस्तुत किया जाता था और यह राजा अधिकतर राजघराने के किसी ऐसे राजकुमार का नाम राजपद के लिए प्रस्तुत करता था जिसमें वह समस्त योग्यताएँ होतीं और वह उन समस्त प्रति-

बन्धों का पालन करने को प्रस्तुत होता जिनका आयोजन शासन-विधान में था। इसके उपरान्त वह प्रस्ताव राज्य की प्रजा अथवा उसके प्रतिनिधियों के समक्ष अनुमति के हेतु प्रस्तुत किया जाता था। यदि प्रजा अथवा उसके प्रतिनिधियों ने उस प्रस्ताव के पक्ष में अपनी अनुमति दे दी, तो वह व्यक्ति जिसके लिए राजपद देने के हेतु प्रस्ताव किया गया था, उस राज्य के राजपद पर आरूढ़ हो जाता था। परन्तु यदि प्रजा वा उसके प्रतिनिधियों ने उक्त प्रस्ताव के पक्ष में अपनी अनुमति न देकर उसे अस्वीकार कर दिया तो उस प्रस्ताव को अस्वीकृत मान कर दूसरे व्यक्ति को राजपद के लिए खोजना अनिवार्य था। राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी अवसर पर इसी प्रणाली को अपनाया गया था। राजा दशरथ ने अपने मंत्रियों की सम्मति से इस बात का प्रस्ताव अपनी प्रजा के विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधियों के समक्ष रखा था कि उसके ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज-पद दिया जाय। प्रजा के इन प्रतिनिधियों ने राजा के इस प्रस्ताव के पक्ष में अपनी अनुमति दे दी थी। इसके उपरान्त राजा को आदेशानुसार इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने का आयोजन किया गया था। राजा प्रतीप ने अपने ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र देवापि को राजपद देने का प्रस्ताव किया था, परन्तु जिस समय प्रजा के प्रतिनिधियों की स्वीकृति के हेतु उनके समक्ष प्रस्तुत किया गया उन्होंने इस प्रस्ताव के पक्ष में अपनी अनुमति न दी, अतः देवापि राजा न बन सका। यद्यपि प्रजा के इस निर्णय से राजा प्रतीप को बड़ी वेदना हुई थी परन्तु यह उसके अधिकार से बाहर था। इसी प्रकार राजा ययाति के पुत्र पुरु को राजपद देने के लिए राजा ययाति ने प्रजा के समक्ष उसकी स्वीकृति के हेतु प्रस्ताव रखा, परन्तु प्रजा ने उसका विरोध किया। शुक्राचार्य के हेतुयुक्त वचनों ने प्रजा को सन्तुष्ट किया और तब प्रजा ने पुरु को राजपद देने नें अपनी अनुमति दी थी। इस प्रकार पुरु राजा बनाया गया।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राजा की नियुक्ति के लिए प्रजा की अनुमति लेना अनिवार्य था। उस काल का यह सिद्धान्त जनतंत्रवाद का महान वैधानिक तत्व माना जाएगा।

(ग) राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर प्रजा द्वारा नियंत्रण:—राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर प्रजा के नियंत्रण रखने के लिए उस काल में सब से महत्वपूर्ण साधन इन

अधिकारियों एवं कर्मचारियों के द्वारा किए गए कार्यों की विवेचना करना और नसे स्पष्टीकरण माँगने का प्रचलन था। प्रजा के प्रतिनिधि सभाओं तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं में आकर शासन सम्बन्धी विषयों पर विवेचनात्मक वाद-विवाद करके राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों द्वारा किए गए अथवा भविष्य में किए जानेवाले कार्यों की विवेचना करते थे और दोष-पूर्ण कार्यों के लिए उनके कर्ताओं को दोषी ठहराकर उनसे स्पष्टीकरण माँगते थे। इस प्रणाली के अपनाने से राजकीय अधिकारिओं एवं कर्मचारियों पर इन सार्वजनिक सभाओं के द्वारा प्रजा का नियंत्रण रहता था जिसका परिणाम यह होता था कि राज्य के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को स्वेच्छाचारपूर्ण कार्य करने के अवसर नहीं मिलने पाते थे। यहाँ तक कि राजा भी प्रजा की इन समीक्षाओं से मुक्त न था। उसे प्रत्येक कार्य करते समय अत्यन्त सचेत एवं सचेष्ट रहना पड़ता था।

पहले सभा के अध्याय में वर्णन किया जा चुका है कि राज्य की यह सभाएँ जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों पर संगठित की जाती थीं। लंका के राजा रावण की सभा का संगठन कुटुम्ब के प्रतिनिधित्व के आधार पर होता था। राजा दशरथ की सभा में राज्य की प्रजा के विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधि सदस्यता का अधिकार प्राप्त किए हुए थे। महाभारत में जिस सभा का वर्णन है वह भी इन्हीं सिद्धान्तों पर संगठित की गई थी।

इस प्रकार प्रजा अपने प्रतिनिधियों को भेजकर इन सभाओं द्वारा राज्य के प्रत्येक अधिकारी वा कर्मचारी पर अपना नियंत्रण रखती थीं। प्रजा का राज्य के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को अपने नियंत्रण में रखने की यह प्रथा जनतंत्रवाद का एक महत्वपूर्ण वैधानिक तत्व था।

(घ) निर्वाचन-प्रथा:—राज्य में निर्वाचन प्रथा का प्रचलित होना जनतंत्रात्मक राज्य का एक सबल लक्षण माना जाता है। रामायण और महाभारत के अन्तर्गत कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जो इस सिद्धान्त के पोषक हैं कि उस काल के हिन्दू राज्यों में निर्वाचन-प्रणाली प्रचलित थी। यह सम्भव है कि रामायण और महाभारत कालीन निर्वाचन प्रणाली और आधुनिक जनतंत्रात्मक राज्यों की निर्वाचन-प्रणाली में समानता न हो; परन्तु ऐसा मानना उचित ही होगा कि उस युग

में निर्वाचन-प्रणाली का आश्रय लिया जाता था। उस काल के गण-राज्यों में राज्य के अध्यक्ष की नियुक्ति राजनीतिक दलबंदी के आधार पर निर्वाचन द्वारा होती थी। महाभारत के शान्तिपर्व में इस सम्बन्ध में कुछ संकेत प्राप्त हुए हैं। गणराज्यों के संचालन संबंधी विषय पर नारद और कृष्ण का जो सम्वाद महाभारत के शान्ति पर्व में उपलब्ध है उसके आधार पर विदित होता है कि अन्धक-वृष्णि संघ राज्य के विभिन्न राजनीतिक दलों में राज्य के अध्यक्ष पद के लिए बड़ा संघर्ष होता था। यह संघर्ष अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। इस संघर्ष के दोषों का परिचय कृष्ण ने नारद को देते हुए उनसे इन दोषों से बचने का उपाय पूछा था।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की सभाओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है जिसके ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से विदित होता है कि यह सभाएँ प्रजा के प्रतिनिधियों की सभाएँ थीं, जिनमें प्रजा के प्रतिनिधियों को सदस्यता का अधिकार प्राप्त था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथ इस बात की पुष्टि करते हैं कि इन सभाओं में प्रजा के विभिन्न वर्गों एवं हितों के प्रतिनिधि सदस्यता का अधिकार प्राप्त किए हुए थे। ऐसा विचार करना कि इन सभाओं में राज्य की समस्त जनता आकर बैठती होगी नितान्त पागलपन की बात होगी। इसलिए प्रजा को अपने प्रतिनिधियों को इन सभाओं में भेजने के नियत करने के हेतु किसी न किसी प्रणाली को अपनाना ही पड़ता होगा। इस प्रणाली को निर्वाचन-प्रथा कहना ही उचित होगा।

इसलिए रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में किसी न किसी रूप में निर्वाचन-प्रणाली का प्रचलित होना उस काल में जनतंत्रवाद का एक सबल वैधानिक तत्व मानना ही उचित होगा।

(ङ) जनमत:—किसी राज्य की सरकार को इस बात के लिए विवश करने के हेतु कि वह प्रजा की इच्छाओं के अनुसार उन पर शासन करे प्रजा में सबल जनमत-निर्माण की आवश्यकता पड़ती है। राज्य में कोई भी दूसरी ऐसी राजनीतिक शक्ति नहीं होती जो ऐसे जनमत के विरोध करने का साहस कर सके। इसलिए राज्य में सबल जनमत का होना जनतंत्रवाद का एक सबल तत्व समझा जाता है।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में जनतंत्रवाद का यह तत्व विद्यमान था और उस युग में यह तत्व इतना सबल था कि इसके

द्वारा राजाओं की निरंकुश एवं स्वेच्छाचार सम्बन्धी योजनाओं पर पूर्ण नियंत्रण कर दिया गया था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में इस प्रकार के पुष्ट प्रमाण प्राप्त हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि उस युग के कुछ राजाओं ने कतिपय योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास किया, परन्तु उनका सारा प्रयास इसीलिए विफल हुआ कि उस काल का जनमत इन योजनाओं का विरोधी था। राम जैसे लोकप्रिय राजा भी जनमत की उपेक्षा करने का साहस न कर सके। पाण्डवों को हानि पहुँचाने की कामना करता हुआ धृतराष्ट्र जैसा प्रभावशाली व्यक्ति जनमत से भयभीत होकर अपनी इस योजना के रहस्य को अपने तक ही सीमित रखने की इच्छा प्रकट करता है। उसे इस बात का भय था कि इस रहस्य के प्रकट हो जाने से जनता उसका सर्वस्व नाश कर देगी। दुर्योधन जैसा निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजा गन्धर्वराज चित्रसेन से पराजित होकर बन्दी बनाया गया था, जिसे अर्जुन ने चित्रसेन के बन्धन से मुक्त किया था। वह जनमत के भय से अपनी राजधानी को जाना नहीं चाहता था और उसी स्थल पर अनशन द्वारा अपने प्राण गवाँ देने पर तुला हुआ था।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में प्रजातंत्रवाद का जनमत विषयक तत्व विद्यमान था।

जनतंत्रवाद के संस्था सम्बन्धी तत्व

जनतंत्रात्मक राज्य की वास्तविक परीक्षा उसकी संस्थाओं और उनके जनतंत्रात्मक सिद्धांतों के आधार पर संचालित होने में होती है। रामायण और महाभारत काल में अनेकों ऐसी संस्थाएँ थीं जो क्रियात्मक रूप से कार्य-संचालन करती हुई राज्य में प्रजातंत्रवाद के हितों की रक्षा करने में सतत संलग्न थीं।

(क) राजगुरुः—रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में राजगुरु एक संस्था का रूप धारण किये हुए था। यह संस्था जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित की गई थी और राजा पर उसका पूर्ण नियंत्रण रहता था। राजगुरु अथवा राजपुरोहित राज्य के विद्वत् वर्ग का प्रतिनिधि होता था जो अपने बुद्धिबल एवं शुद्धाचरण के लिए ख्याति प्राप्त किए हुए होता था। उसके पद को राजपद से सम्बन्धित कर दिया गया था। वह शान्तिपूर्वक राजा के दैनिक कार्यों को ध्यानपूर्वक देखा करता था। वह राजा को उचित

सम्मति देता था और उसे सन्मार्ग पर ले चलने का प्रयत्न करता था। यदि राजा उसकी सम्मति की अवहेलना करके स्वेच्छाचारी बनना चाहता तो राजगुरु को यह वैधानिक अधिकार था कि वह उसे राजपद से च्युत करने का प्रस्ताव प्रजा के समक्ष रखे। प्रजा राजगुरु में पूर्ण विश्वास रखती थी। महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि राजा ययाति अपनी प्रजा के विरोध को दबा न सका। परन्तु उसके राजगुरु शुक्राचार्य के केवल उपदेशात्मक एक वाक्य ने प्रजा को संतुष्ट करके उनका विरोध शांत कर दिया था। शुक्रनीति तो इस सम्बन्ध में यहाँ तक व्यवस्था देती है कि यदि कोई राजा अन्यायपूर्ण शासन करता हुआ पाया जाए तो राजगुरु को वैध रूप से यह अधिकार प्राप्त है कि वह उस अन्यायी राजा को कान पकड़ कर राजपद से उसी प्रकार अलग कर दे जैसे कि गुरु अपने उद्दण्ड शिष्य को कान पकड़ कर कक्षा से बाहर कर देता है। ऐसे सबल पुरोहित वा राजगुरु के सदैव समीप रहने के कारण राजा को अपने कर्तव्यों के पालन करने के लिए प्रति पल अत्यन्त सचेष्ट एवं सचेत रहना पड़ता था। शासन-विधान में इस बात का भी आयोजन कर दिया गया था कि राज्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय को जिस पर कि मंत्रि परिषद् में विचार हो चुका है, रचनात्मक रूप देने के पूर्व राजगुरु के समक्ष उसकी सम्मति के लिए प्रस्तुत होना अनिवार्य था। इन अवसरों पर मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों की संयुक्त एवं वियुक्त सम्मितियों को अपनी सम्मति के साथ राजा के लिए राजगुरु के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक था। राजगुरु की अनुमति प्राप्त कर लेने के उपरान्त उक्त विषय वा विषयों को राजा रचनात्मक रूप देने का आदेश देता था।

इस प्रकार राजपुरोहित वा राजगुरु जिसका पद परम्परागत था राजा को सम्मति देता था, सद्मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करता था और उसे विधि के नियंत्रण में रखता था। इसलिए राजपुरोहित का यह पद जनतंत्रवाद का एक विशेष तत्व था, जिसकी गणना जन-तंत्रवाद के संस्था सम्बन्धी तत्वों में की जाएगी।

(ख) मंत्रिपरिषद्—रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों में दूसरी महत्वपूर्ण संस्था मंत्रिपरिषद् थी। इस संस्था के संगठन, कर्तव्यों और कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में इस पुस्तक में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में और कुछ लिखना व्यर्थ होगा।

रामायण और महाभारत कालीन राज्यों के शासन-विधान के अनुसार राजा को बिना मंत्रिपरिषद के मंत्रियों की पूर्व सम्मति लिए हुए शासन-सम्बन्धी किसी भी योजना को कार्यान्वित करने का अधिकार प्राप्त न था। शासन सम्बन्धी किसी भी नए कार्य को रचनात्मक रूप देने की आज्ञा देने के पूर्व उसके लिये मंत्रियों का परामर्श लेना अनिवार्य था। दूसरी ओर यह प्रणाली भी प्रचलित थी कि राज्य की सभाओं में इन मंत्रियों की (उनके द्वारा राजा को दिए गये परामर्श के लिए) निरन्तर विवेचना हुआ करती थी। इसलिए उन्हें हर समय राजा को उचित परामर्श देने के लिए जिससे कि प्रजा का अधिक से अधिक हित हो सके सचेष्ट एवं सचेत रहना पड़ता था। उनकी नियुक्ति के लिए यह एक आवश्यक प्रतिबन्ध था कि उनमें प्रजा का विश्वास बना रहे। इसलिए एक ओर तो उन्हें प्रजा के विश्वासपात्र रहने का प्रयत्न करना पड़ता था और दूसरी ओर उनके द्वारा दी हुई मंत्रणा का मानना राजा के लिए अनिवार्य था। उनके द्वारा शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर पूर्ण विवेचन किया जाता था और इस प्रकार उन विषयों के गुण-दोषों का भली भाँति प्रदर्शन कर दिया जाता था। इस प्रकार राजा अपने मंत्रियों द्वारा दी गई मंत्रणा को ग्रहण करने और उसके अनुसार कार्य करने के लिए विवश था। मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति भी जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर होती थी।

इसलिए यह कहना उचित होगा कि रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों में शासन-कार्य राजा द्वारा न होकर मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों द्वारा होता था और इस मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर होती थी।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में मंत्रि-परिषद् एक ऐसी संस्था थी जिसकी गणना जनतंत्रवाद के संस्था सम्बन्धी तत्वों में की जाएगी।

(ग) सभा—रामायण और महाभारत कालीन सभा मंत्रिपरिषद् की अपेक्षा कहीं बड़ी संस्था थी। सभा का संगठन जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर होता था, अतः सभा को जनतंत्रवाद के सभा सम्बन्धी तत्वों की श्रेणी में रखना उचित होगा। यह संस्था राजा और मंत्रिपरिषद् दोनों पर अपना महान् प्रभाव रखती हुई दोनों को अपने नियंत्रण में रखती थी। प्रजा के कल्याण के लिए विधि-

निर्माण करना इस सभा के अधिकार-क्षेत्र से सर्वथा बाहर था। इसलिए इस सभा की तुलना आधुनिक धारा-सभाओं से इस रूप में नहीं की जा सकती क्योंकि आधुनिक धारा-सभाओं का मुख्य कर्तव्य प्रजा के कल्याण के लिए विधि निर्माण करना है। परन्तु रामायण एवं महाभारत कालीन सभा का निर्माण न्याय वितरण करने एवं शासन सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद के द्वारा निर्णय देने के हेतु किया गया था। इस क्षेत्र में राजा और मंत्रिपरिषद् के कार्यों की विवेचना करने का पूर्ण अवसर मिलता था। उन्हें प्रजा का विश्वासपात्र रहने के लिए सभा के सभासदों का आश्रय लेना पड़ता था जिससे राजा एवं मंत्रिपरिषद् के मंत्रिगण अपने पद त्यागने के लिए विवश होते थे। रावण की सभा का वर्णन पढ़ने से इस बात का बोध होता है कि इस सभा में राजा और मंत्रियों के कार्यों की विवेचना स्वतंत्र रूप से होती थी। कुरु सभा में भी इसी सिद्धांत के पालन किए जाने का प्रमाण मिलता है। धृतराष्ट्र की सभा के सभासद राजा और उसके मंत्रियों के कार्यों की विवेचना करते हुए वर्णित हैं। सभा में राजा और मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों के प्रति ही ऐसा व्यवहार न किया जाता था वरन् सभा के सभासदों पर भी यही नियम लागू था।

इसलिए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस जनतंत्रात्मक संस्था ने राजा, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों और सभा के सभासदों के स्वेच्छाचारपूर्ण कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने एवं उन्हें नियंत्रण में रखने के कार्य में बड़ा सहयोग दिया है। इस प्रकार यह संस्था जनतंत्र-वाद के संस्था सम्बन्धी तत्वों में से एक सबल तत्व मानी जायगी।

(घ) ब्राह्मण परिषद्—उपरोक्त संस्थाओं के अतिरिक्त राज्य में विद्वान् ब्राह्मणों की परिषद् भी थी। इस परिषद् के सदस्यों का राजा से स्वच्छन्दतापूर्वक सम्पर्क रहता था। वह राज्य की राजधानी में स्थायीरूप से निवास करते थे। वह अपने पवित्र आचरण एवं विद्या के द्वारा राजा की सहायता करते थे, उसे अपनी सम्मति देते थे और इस प्रकार उसको नियंत्रण में रखते थे। वह शासक और शासित के बीच में सम्पर्क स्थिर करते थे। राज्य में जनमत का निर्माण करने में वह सहायक सिद्ध होते थे। वह समाज के नेता होते थे और सरकार के सम्मतिदाता थे। जब कभी राज्य में प्रजा के विरुद्ध

कोई कार्य सरकार द्वारा होता था यह ब्राह्मण वर्ग प्रजा का नेता बनकर उसका विरोध करता था और सरकार को उस कार्य वा योजना को सदा के लिए स्थगित कर देने के लिए विवश कर देता था। रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथ ऐसी ब्राह्मण संस्था की स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाण देते हैं।

इसलिए यह ब्राह्मण परिषद् भी जनतंत्रवाद के संस्था सम्बन्धी तत्वों में से एक प्रभावशाली तत्व था।

(ङ) **स्थानीय संस्थाएँ**——रामायण और महाभारत कालीन राज्य में नैगम, गण, श्रेणी संघ, पौर, जानपद आदि कतिपय ऐसी स्थानीय संस्थाएँ थीं जिनके द्वारा राज्य में जनतंत्रवाद की आत्मा की भली-भाँति रक्षा होती थी। इन संस्थाओं का संगठन जनतंत्रवाद के सिद्धान्तों के आधार पर हुआ था। इन संस्थाओं में प्रजा के द्वारा चुने हुए उन्हीं में से प्रतिनिधि होते थे। एक ओर तो वह अपने-अपने क्षेत्र की जनता को अनुशासन में रखते थे और दूसरी ओर उनके सदस्यों की केन्द्रीय सभा एवं मंत्रिपरिषद् में स्थान पाते थे। इस प्रकार वह राज्य की सभा और मंत्रिपरिषद के सदस्यों पर पूर्ण अनुशासन रखते थे।

राजा की नियुक्ति के समय यह संस्थाएँ बड़े महत्व की संस्थाएँ समझी जाती थीं। राज्य की प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना के अवसर पर इन संस्थाओं के मुख्य सदस्य एवं अध्यक्ष राजा के समीप अथवा सभा में बैठे हुए राज्य के शासन-कार्यों में भाग लेते हुए पाए जाते थे। राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त श्रेणीमुख्य, गणवल्लभ, पौरमुख्य आदि राजसभा में अयोध्या में भावी राजा की नियुक्ति के सम्बन्ध के प्रस्ताव पर वाद-विवाद करते हुए दिखलाए गए हैं। वह फिर चित्रकूट में उपस्थित हैं जहाँ वह राम को अयोध्या पुनः ले आने के लिए वाद-विवाद करते हुए दिखलाए गए हैं। वह उस समय भी रंगमंच पर आ जाते हैं, जब राम चौदह वर्ष के वनवास की अवधि समाप्त करके अयोध्या आते हैं। वह इस अवसर पर राम के राज्याभिषेक के कृत्यों में दत्त-चित्त होकर भाग लेते हुए दिखाए गए हैं। इन संस्थाओं के सम्बन्ध में ऐसा ही वर्णन महाभारत में मिलता है।

जैसा कि ग्रामणी शब्द स्वयं प्रकट करता है कि वह गाँव का प्रतिनिधि था। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर वह भी उपस्थित

दिखलाया गया है। रावण की मृत्यु के अवसर पर देवों ने **राम** की प्रशंसा करते हुए उनको ग्रामणी की समानता दी है। इस घटना से विदित होता है कि ग्रामणी ग्राम का महत्वपूर्ण व्यक्ति था।

इस प्रकार यह विदित होता है कि यह स्थानीय संस्थाएँ सभा और मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की जननी होने के नाते राज्य की शासन संबंधी संस्थाओं पर अपना पूर्ण प्रभाव रखती थीं और अपने भेजे हुए प्रतिनिधियों के द्वारा सभा, मंत्रिपरिषद् और राजा पर अपना कुछ न कुछ अधिकार अवश्य रखती थीं।

इसलिए यह निर्विवाद है कि राजगुरु, मंत्रिपरिषद्, सभा, ब्राह्मण परिषद् और स्थानीय संस्थाएँ रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में जनतंत्रवाद के संस्था सम्बन्धी मुख्य तत्व थे। जिनके द्वारा उस युग में जनतंत्रात्मक राज्य के निर्माण और उसके विकास में बड़ी सहायता मिली है।

जनतंत्रवाद के शासन सम्बन्धी तत्व

रामायण और महाभारत कालीन सरकारों की शासन-पद्धति का विवेचनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त पाठक इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि इन राज्यों के क्रियात्मक शासन-क्षेत्र में कतिपय ऐसे जनतंत्रवाद के तत्वों को अपनाया गया था जिनकी गणना जनतंत्रवाद के शासन सम्बन्धी तत्वों में की जायगी। यह तत्व परिपाटियों वा प्रथाओं के रूप में प्रचलित थे, परन्तु उन राज्यों की सरकारों के अंग बन गए थे। इन तत्वों में से एक तत्व शासन-क्षेत्र में विभाग-प्रथा की योजना थी।

(क) विभाग-प्रथा:—रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की शासन-प्रणाली की एक मुख्य प्रणाली यह थी कि इन राज्यों में शासन सम्बन्धी विषयों के अनुसार विभिन्न विभागों की योजना की गई थी। रामायण और महाभारत दोनों में इन विभागों के अध्यक्ष को अमात्य कहते हैं। रामायण में इस बात का उल्लेख है कि रावण वालि और दशरथ ने अपने-अपने राज्य के शासन को शासन संबंधी विषयों के अनुसार विभिन्न विभागों में विभक्त किया था। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष अपने विभाग का पूर्ण उत्तरदायी समझा जाता था। उसके अधीन उस विभाग के अन्य कर्मचारी रहते थे।

शासन-विषयों के अनुसार समस्त शासन को विभागों में विभक्त करने की प्रथा जनतंत्रात्मक राज्य की स्थापना और उसके विकास में

बड़ी सहायक सिद्ध हुई है । इस प्रथा ने शासनाधिकार एक व्यक्ति में न रखकर विभिन्न व्यक्तियों में वितरण कर देने के प्रचलन की स्थापना कर के शासनसत्ता एक व्यक्ति के पास रखने के स्थान में कई व्यक्तियों में वितरित कर दी । इसका फल यह हुआ कि जो शासनाधिकार एक राजा में ही निहित था उसका वितरण कई व्यक्तियों में हो गया और इन व्यक्तियों को प्रजा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष विधि से अपने नियंत्रण में रखती थी ।

इस प्रकार रामायण और महाभारत कालीन राज्यों में विभाग प्रथा जनतंत्रवाद का शासन सम्बन्धी एक महान तत्व था ।

(ख) शासन क्षेत्र में जनतंत्रात्मक प्रणाली:—इस बात का पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि रामायण और महाभारत कालीन राज्यों की समस्त संस्थाओं के कार्य-क्षेत्र में जनतंत्रात्मक प्रणाली का अनुसरण किया जाता था । मंत्रिपरिषद् में प्रत्येक विषय पर स्वतंत्र वाद-विवाद किया जाता था । सर्वप्रथम राजा और उस मंत्री के बीच उक्त विषय पर वाद-विवाद होता था जिस विषय से सम्बन्ध था । यदि उक्त वाद-विवाद के द्वारा उस प्रस्ताव अथवा योजना को विचारणीय समझा गया तो समस्त मंत्रिपरिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था । यदि बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तो राजा के हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत किया जाता था जो उस पर हस्ताक्षर कर देता था और तब वह कार्यान्वित किया जाता था ।

यदि उस प्रस्ताव की योजना पर मतभेद होता तो महाभारत के अनुसार राजगुरु की शरण लेनी पड़ती थी ।

सभा में भी शासन सम्बन्धी विषय प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किए जाते थे जिनका नियमानुसार अनुमोदन होता था । सभा के प्रत्येक सदस्य को उक्त प्रस्ताव पर अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने का पूर्ण अधिकार था । अन्त में प्रस्ताव सभा के समक्ष स्वीकृति के लिए रखा जाता था । यदि सभा का बहुमत प्रस्ताव के पक्ष में होता तो वह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ समझा जाता था ।

इस प्रकार रामायण एवं महाभारत कालीन राज्यों के शासन-क्षेत्र में जनतन्त्रात्मक प्रणाली से काम लिया जाता था । शासन सम्बन्धी विषयों का प्रस्ताव के रूप में सभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाना, उसका अनुमोदन होना, उस पर स्वतन्त्र वाद-विवाद होना और

बहुमत से उसको स्वीकार व अस्वीकार करना आदि ऐसी प्रणाली थी जिसमें जमतंत्रात्मक राज्य के प्रधान लक्षण विद्यमान थे। अतः शासन-क्षेत्र में इस प्रकार की जनतंत्रात्मक प्रणाली का होना जन-तंत्रवाद का एक प्रधान तत्व था'।

(ग) शासन सम्बन्धी संस्थाओं के भंग करने का निषेध— ऊपर वर्णित जनतंत्रवाद के तत्वों के अतिरिक्त अभी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व की विवेचना करनी अवशेष रह गयी है। शासना-धिकार करने की दृष्टि से राजतंत्रात्मक राज्यों में राजा की स्थिति ठीक कछुए की भाँति होती है। जिस प्रकार कछुआ जब कभी अपने अंगों को अन्दर सिकोड़ना चाहता है अथवा उन्हें बाहर निकालना चाहता है अपनी इच्छानुसार बिना किसी विशेष प्रयास के कर लेता है। यही सिद्धान्त राजतंत्रात्मक राज्यों के सम्राटों पर चरितार्थ होता है। ऐसे राज्यों में राज्य की सम्पूर्ण सत्ता राजा में ही मानी जाती है। उसके राज्य की समस्त संस्थाएँ उसकी निर्माण की हुई समझी जाती हैं। वह उन्हें जीवित रखने एवं कार्य संचालन करने का अधिकार दे सकता है। परन्तु जब वह यह अनुभव करने लगता है कि उसके राज्य की अमुक संस्था का अन्त हो जाना चाहिए तो उसकी इस इच्छा को संतुष्ट करने के लिए उसका एक शब्द ही पर्याप्त होगा। ऐसी अवस्था में वह स्वयं उस संस्था के शासनाधिकार को धारण कर लेगा और उसका शब्द विधि का कार्य करेगा। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को आँख बन्दकर इस नियम का पालन करना पड़ेगा। मध्यकालीन भारत और योरप दोनों देशों में ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है।

प्राचीन भारत के रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्य के संस्थापकों के लिए ऐसा सिद्धान्त सर्वथा असहनीय था। हिंदू राजा को कभी भी ऐसा अधिकार नहीं प्राप्त था। उसे अपने राज्य में मंत्रिपरिषद्, सभा, नैगम, पौर, जानपद आदि संस्थाओं को भंग करने का लेशमात्र भी अधिकार न था। उसका यह एक मुख्य कर्तव्य था कि वह इस बात की समुचित व्यवस्था दे कि इस राज्य में केन्द्रीय प्रान्तीय एवं स्थानीय संस्थाओं के संगठन एवं उनका कार्य-संचालन विधिवत होता रहे। राजा को विधिवत संगठित मंत्रिपरिषद् रखनी पड़ती थी, जिसके मंत्रियों से मंत्रणा लेना और उस मंत्रणा के अनुसार कार्य करना उसके लिए अनिवार्य था। रामायण और महा-

भारत दोनों ग्रंथ इस सिद्धान्त पर एकमत होकर इस बात पर बड़ा महत्व देते हैं कि राजा को अपने मंत्रियों की मंत्रणा अवश्य लेनी चाहिए और अपनी निजी सम्मत्ति के आधार पर ही राज्य में शासन सम्बन्धी किसी प्रकार का भी कार्य नहीं करना चाहिए। राजा के लिए सभा भी इतनी ही महत्वपूर्ण संस्था थी। उसे भंग करना राजा की शक्ति के बाहर था। यह नियम राज्य की अन्य शासन सम्बंधी संस्थाओं के सम्बंध में भी राजा पर लागू था।

इसलिए रामायण एवं महाभारत कालीन हिन्दू राज्य में राजा को शासन सम्बन्धी संस्थाओं जैसे मंत्रि-परिषद्, सभा, नैगम, पौर, जानपद आदि के भंग करने के अधिकार से सर्वथा वंचित कर दिया गया था। इस विधि से रामायण और महाभारत कालीन राजतंत्रात्मक राज्यों में राजा से राज्य की शासन सम्बन्धी संस्थाओं के भंग करने के अधिकार को छीन कर जनतंत्रवाद के एक बड़े महत्वपूर्ण शासन सम्बन्धी तत्व की स्थापना की गई थी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्यों में जनतंत्रवाद के सबल तत्व विद्यमान थे और यह जनतंत्रवाद के मुख्य तत्व थे जिनको वैध, वैधानिक, संस्था सम्बन्धी और शासन सम्बन्धी जनतंत्रवाद के तत्वों में परिगणित किया गया है। रामायण और महाभारत कालीन हिन्दू राज्य के इन तत्वों ने राज्य-शासन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र को आच्छादित कर लिया था। इसलिए इन्होंने उस युग में जनतंत्रात्मक राज्य की स्थापना और उसके विकास में बड़ा सहयोग दिया है। मनुष्य के राजनीतिक जीवन के इतिहास में वाल्मीकि और व्यास की यह एक बड़ी देन समझी जाएगी।

पुस्तक-सूची

(क) वैदिक साहित्य

१ ऋग्वेद संहिता मूल—सातवलेकर औंध कार्यालय, सतारा ।

२ ऋग्वेद संहिता मूल—सायणाचार्य भाष्य एफ. मोक्षमूलर द्वारा संपादित द्वितीय संस्करण ।

३ ऋग्वेद संहिता मूल—अंग्रेजी अनुवाद आर. टी. एच. ग्रिफिथ, बनारस ।

४ ऋग्वेद संहिता मूल—हिन्दी अनुवाद जयदेव शर्मा विद्यालंकार अजमेर ।

५ यजुर्वेद संहिता शुक्ल मूल—सातवलेकर औंध कार्यालय, सतारा ।

६ यजुर्वेद संहिता शुक्ल मूल—महीधर भाष्य वेवर महोदय द्वारा संपादित, लंदन ।

७ यजुर्वेद संहिता शुक्ल मूल—अंग्रेजी अनुवाद आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस ।

८ यजुर्वेद संहिता शुक्ल मूल—हिन्दी अनुवाद जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।

९ सामवेद संहिता मूल—सातवलेकर औंध कार्यालय, सतारा ।

१० सामवेद संहिता मूल—अंग्रेजी अनुवाद आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस ।

११ सामवेद संहिता मूल—हिन्दी अनुवाद जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।

१२ अथर्ववेद संहिता—सातवलेकर औंध कार्यालय, सतारा ।

१३ अथर्ववेद संहिता—सायणाचार्य भाष्य, बम्बई ।

१४ अथर्ववेद संहिता—हिन्दी अनुवाद जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर ।

१५ ऐतरेय ब्राह्मण—सायणाचार्य भाष्य आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

१६ तैतिरीय अरण्यक—सायणाचार्य भाष्य आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

१७ शतपथ ब्राह्मण—सायणाचार्य भाष्य रायल ऐशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।

१८ बृहदारण्यक उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर।

१९ छान्दोग्य उपनिषद्—नित्यानंद (मिताक्षरी टीका सहित) आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

२० कठोपनिषद्—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

(ख) सूत्र ग्रंथ (श्रौत सूत्र)

२१ सांख्यायन श्रौत सूत्र—रायल ऐशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।

२२ बौद्धायन श्रौत्र सूत्र—रायल ऐशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।

२३ आपस्तम्बीं श्रौत सूत्र—

गृह-सूत्र

२४ मानव गृह-सूत्र—गायकवाड़, ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा।

२५ पारसकर गृह-सूत्र—वेंकटेश्वर मुद्रणयंत्रालय, बम्बई।

२६ आश्वलायन गृह-सूत्र—ट्रिवेन्डरम् संस्कृत सिरीज, ट्रिवेन्डरम।

२७ गोभिल गृह-सूत्र—चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस।

धर्मसूत्र

२८ गौतम धर्मशास्त्र—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

२९ बौद्धायन र्मशास्त्र—ई. हुसल, लिपजिक।

३० आपस्तम्बीय धर्मसूत्र—चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस।

(ग) रामायण और महाभारत

३१ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(गोविन्दराज भाष्य सहित) टी. आर. कृष्णांचार्य तथा टी. आर. व्यासाचार्य।

३२ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(गोविन्द राज टीका सहित) श्रीनिवास शास्त्री।

३३ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(हिन्दी टीका सहित)

साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, सस्ती साहित्य पुस्तकमाला कार्यालय, बनारस।

३४ एन. अपरोच टु दि रामायण—एच. सी. गुह, बनारस।

३५ रामायण पालिटी—पी. सी. धर्मा, बनारस।

३६ महाभारत—पी. पी. एस. शास्त्री, मदरास।

३७ श्रीमन्महाभारतम्—श्रीमन् (नीलकण्ठ भाष्य सहित) चित्रशाला मुद्रणालय, पूना।

३८ श्रीमन्महाभारतम्—अंग्रेजी अनुवाद पी. सी. रे., कलकत्ता।

३९ श्रीमन्महाभारतम्—हिंदी अनुवाद सहित (आदि पर्व से शांति पर्व तक) गंगाप्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशक मंडल, दिल्ली।

४० इपिक माइथालोजी—हापकिन्स, बम्बई।

४१ रिलेशन आफ इन्डियन इपिक्स टु ब्राह्मण लिटरेचर—वी. वी. दीक्षित।

४२ इपिक्स माइथोलाजी एन्ड लीजन्डस आफ इन्डिया—पी० थामस, लन्दन।

४३ इपिक इन्डिया—सी. वी. वैद्य।

४४ रिडिल आफ दी रामायण—सी. वी. वैद्य।

४५ दि इस्टोरी आफ दि रामायण रि टोल्ड इन ए सिम्पिल स्ट्रेट मैनर—माधवाचार्य।

४६ बृहद देवतावाद—ए. ए. मेकडानल्ड १९०४।

(घ) अर्थशास्त्र

४७ कौटलीय अर्थशास्त्र—शाम शास्त्री द्वारा संपादित अंग्रेजी अनुवाद सहित द्वितीय संस्करण।

४८ कौटलीय अर्थशास्त्र—हिन्दी अनुवाद सहित पं० गंगाप्रसाद शास्त्री महाभारत कार्यालय, दिल्ली।

(ङ) धर्मशास्त्र

४९ मनुस्मृति—मन्वर्थ मुक्तावली सहित, कुल्लूक भट्ट संस्कृत सिरीज आफिस, बनारस।

५० याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र—जेलर द्वारा संपादित, बर्लिन।

५१ मिताक्षरा—एस. सी. विद्यारत्न द्वारा अनुवादित, इलाहाबाद।

५२ धर्मशास्त्र संग्रह—पं० जीबानंद बिद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता ।

(च) पुराण

५३ श्रीमद्भागवतपुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

५४ विष्णुपुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

अग्निपुराण—क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बम्बई ।

५६ वायुपुराण—राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संपादित, कलकत्ता ।

(छ) नीतिशास्त्र

५७ कामन्दकीय नीति शास्त्र- —गणपति शास्त्री, ट्रिवेन्डरम ।

५८ शुक्रनीति—हिन्दी अनुवाद सहित पं० गंगाप्रसाद शास्त्री हिन्दू जगत कार्यालय शामली, मुजफ्फरनगर ।

५९ वीरमित्रोदय राजनीति प्रकाश—मित्र मिश्र, बनारस ।

(ज) अन्य ग्रन्थ

६० दी केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इन्डिया प्रथम भाग—इ. जे. रेपसन ।

६१ हिस्ट्री आफ सिवीलिजेशन इन एन्सेन्ट इण्डिया—आर. सी. दत्त लन्दन ।

६२ दि अरली हिस्ट्री आव इण्डया—चतुर्थ संस्करण बी. ए. स्मिथ ।

६३ सम अस्पेक्ट्स आफ इन्डियन ऐन्सियन्ट पालिटी—के. वी. रंगापस्वामी अयंगर।

६४ हिन्दू पोलिटिकल थियोरीज—वंदोपाध्याय ।

६५ पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया—पी. बनर्जी ।

६६ ऋग्वेदिक कल्चर—ए. सी. दास ।

६७ ऋग्ववेदिक इंडिया—ए. सी. दास ।

६८ लेक्चर्स आन दि ऐन्शियन्ट हिस्ट्री आफ इंडिया—डी. आर. भंडारकर ।

६९ इवोल्यूशन आफ दि इंडियन पालिटी—शाम शास्त्री ।

७० पुरेनिक डाइनेस्टीज आव काली ऐज—एफ. पारजिटर ।

७१ ऐन्शियन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन—एफ. पारजिटर ।

७२ हिन्दू एडमिन्स्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशंस इन एंशियन्ट इंडिया—दीक्षितार।

७३ मौर्यन पालिटी—दीक्षितार।

७४ पब्लिक ऐडमिन्स्ट्रेशन इन एंन्शियन्ट इंडिया—पी. एन. बनर्जी।

७५ एन हिस्ट्री आफ हिन्दू पोलिटिकल थियोरीज—यू. घोषाल।

७६ हिंदू पोलिटी—के. पी. जायसवाल।

७७ ऐ स्पेक्ट्स आफ इंडियन पोलिटी—एन. एन. ला।

७८ स्टडीज इन इंडियन पालिटी—एन. एन. ला।

७९ ट्राइब्स इनएन्शियन्ट इंडिया—बी. सी. ला।

८० ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए. ए. मेकडानल्ड।

८१ इंडियाज पास्ट—ए. ए. मेकडानल्ड।

८२ ए हिस्ट्री आफ ऐन्शियन्ट लिटरेचर—मोक्षमूलर।

८३ पोलिटिकल इंस्टीट्यूशन्स एन्ड थियरीज आफ दि हिन्दूज—बी. के. सरकार।

८४ कारपोरेट लाइफ इन ऐन्शियन्ट इंडिया—आर. सी. मजूमदार।

८५ दि हिन्दू पालिटी—ए. के. मजूमदार।

८६ ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर तृतीय संस्करण—वेबर।

८७ थियोरी आफ गवर्नमेन्ट इन इन्शियन्ट इंडिया—बेनीप्रसाद।

९८ दी स्टेट इन एन्शियन्ट इंडिया—बेनीप्रसाद।

८९ लोकल गवर्नमेन्ट इन ऐन्शियन्ट इन्डिया—आर. के. मुकर्जी।

९० हिन्दू सिविलीजेशन—आर. के. मुकर्जी।

९१ अशोक—आर. के. मुकर्जी।

९२ अशोक के धर्म-लेख—जनार्दन भट्ट।